श्रमण

वर्ष ५	सम्पादक डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम.ए., पी-एच. डी.	अंक ३

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस-

इस अंक में—

श्रमण के विषय में—

१. श्रमण प्रत्येक अंगरेजी महीने के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाए जाते हैं।
३. श्रमण में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता।
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें।
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।
६. वार्षिक म[illegible] मनिआॅर्डर से भेजना ठीक होगा।
७. [illegible] लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—कृष्णचन्द्राचार्य,

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ५ | जनवरी १९५४ | अंक ३

आत्मा का बल

श्री मश्रूवाला

दुनिया के इतिहास में हमें सैंकड़ों उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमें अकेले व्यक्ति ने, एक छोटे से बालक ने भी, बिना किसी का सहारा लिए निर्भय होकर भयङ्कर शक्तियों का सामना किया है। उस शक्ति के सामने थोड़ा सा झुक जाने से प्राण बच जाते, दूसरे भी अनेक लाभ हो सकते थे, किन्तु व्यक्ति ने झुकनें की अपेक्षा टूटना अधिक पसन्द किया। ऐसे व्यक्ति के हृदय में ऐसी कौन सी शक्ति है जो उसको बल देती है। प्रह्लाद को ऐसी किस शक्ति का अनुभव हो रहा था कि वह अपने पिता की कठोर यातनाओं के सामने खड़ा रह सका? गुरु गोविन्दसिंह के पुत्र हँसते हँसते दीवार में चिने गए, रोम के तरुण ने जलती मशाल पर हाथ रख दिया। जीवन और बाह्य सुखों के प्रति इस प्रकार उपेक्षा रखने का बल देनें वाली, शारीरिक जीवन की अपेक्षा भी किसी अशरीर वस्तु के साथ आत्मीयता का अनुभव कराने वाली—ऐसी वस्तु कौनसी है?

जो लोग आत्मा को नहीं मानते उन्हें भी यह स्[illegible] पड़ेगा कि इस प्रकार के कार्यों के पीछे कोई जबर्दस्त आकर्षण काम कर रहा है। यह आकर्षण इन्द्रियों के सामान्य विषयों या संकल्प विकल्पों का नहीं हो सकता। यह एक ऐसा अनुभव है जिसमें मनुष्य यह विश्वास लेकर चलता है कि अपने भीतर कोई ऐसी शक्तिशाली प्रेरणा काम कर रही है जो दुनिया की सभी शक्तियों से अधिक बलवती है। साथ ही अपने शरीर और प्राणों की अपेक्षा निकटतर है।

इस शक्ति को कोई 'ईश्वर निष्ठा का बल' कहना पसन्द करते हैं, कोई 'अध्यात्म बल' (Spiritual force) कोई 'आत्मबल' (Soul force), कोई 'नैतिक बल' (Moral force) तथा कोई 'प्रतीति बल' (Strength of conviction) । इस बल की कसौटी निम्नलिखित है—

"क्या तुम्हें किसी ऐसे बल का अनुभव होता है, जिससे कठोर परीक्षा के समय तुम्हारे हृदय में दुर्बलता न आने पाए ? जिससे तुम उस समय यह अनुभव नहीं करते कि कोई बचा ले तो अच्छा अथवा जरा सम्भालकर चला जाय !" तुम्हारी भयवृत्ति पर विजय प्राप्त करने वाले इस अनुभव को किसी नाम से कहो। यदि तुम उस अनुभव के बल पर अपने पथ तथा कर्तव्य पर स्थिर रहने तथा उसके लिए सन्तोषपूर्वक अपनी सम्पत्ति, अपना जीवन तथा अपना अभिलषित फल तक त्यागने की तैयारी रखते हो, तभी सत्य के पथिक बन सकते हो।

इस विषय में एक और बात ध्यान में रखनी चाहिए। स्वदेशभक्ति, प्रेम, लोभ, साहस आदि के वेग भी कभी कभी असाधारण प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार के आवेग ध्येय प्राप्ति के लिए कभी कभी अनुचित मार्ग पर भी ले जाते हैं। किन्तु आत्मबल के आधार पर जिस ध्येय की सिद्धि की जाती है उसके लिए कभी अप्रशस्त मार्ग का अवलम्बन नहीं किया जाता। इस मार्ग का पथिक कभी अनीति का अवलम्ब नहीं लेता।

इस प्रकार चाहे आकाश टूट पड़े तथा अपने सभी मनोरथ एवं दुनियावी स्वार्थ चकनाचूर हो जायँ, तो भी अपने निश्चय पर अडिग रहने तथा अकेला होने पर भी उसपर स्थिर रहने की शक्ति जहाँ से प्राप्ति होती है उस मूल स्रोत का नाम आत्मबल या ईश्वरनिष्ठा का बल है। तथा इस शक्ति का वह अंश जिसके द्वारा व्यक्ति अपने ध्येय की सिद्धि के लिए भी सदाचार के निश्चित स्तर को नहीं छोड़ता, अनैतिकता को नहीं अपनाता, नैतिक बल है।

इस बल को पैदा करने वाले विश्वास, धर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, व्रत, तप, नियम, श[illegible]न्तन, विज्ञान आदि किसी निमित्त से उत्पन्न हों, वही सत्याग्र[illegible]मा है। उस तत्त्व को वह ईश्वर, आत्मा आदि किसी नाम से पहिचाने, यह गौण है। मतलब इतना ही है कि यह बल व्यक्ति को बाह्य साधनों या समाज से नहीं प्राप्त होता। इसे तो वह अपने ही अन्दर अनुभव करता है। जिसे ऐसे बल का आधार न हो, जो बाह्य योजना तथा विविध साधनों के आधार पर ही सत्य का पथिक बनना चाहता हो वह कभी सफल नहीं हो सकता।

अनु० इन्द्र

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि

डॉ० इन्द्र

आत्मा का अस्तित्व और मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानने वाले सभी धर्मों ने आध्यात्मिक विकास के लिए कोई न कोई मार्ग बताया है। और उस मार्ग पर चलने के लिए अधिकारी की योग्यता का निरूपण किया है। भारत के प्राचीन साहित्य में अधिकारी की परीक्षा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। किसी भी ग्रन्थ को प्रारम्भ करने से पहले यह निर्णय किया जाता है कि उस ग्रन्थ को लिखनें का क्या प्रयोजन है और उसके अध्ययन का अधिकार किसको है। उपनिषदों के ऋषियों ने ब्रह्मविद्या का अधिकारी बनने के लिए शिष्यों की जो परीक्षाएं ली हैं वे रोचक होने के साथ शिक्षाप्रद भी हैं। सत्यकाम जाबाल को केवल इसीलिए ब्रह्मविद्या का अधिकारी मान लिया गया कि उसने लोकापवाद की चिन्ता न करते हुए सरल हृदय से सच्ची सच्ची बात कह दी। कठोपनिषद् में नचिकेता को अग्निविद्या का उपदेश तो अनायास ही मिल जाता है किन्तु जब वह अध्यात्मविद्या को जानना चाहता है तो यमराज उसकी कठोर परीक्षा लेते हैं। उसके सामने दुनिया के सारे प्रलोभन उपस्थित करते हैं और कहते हैं—इनमें से जो चाहो, ले जाओ और सुख से रहो। आत्मविद्या के चक्कर में मत पड़ो। किन्तु नचिकेता अपने निश्चय पर दृढ़ है और कहता है—**नान्यं वरं नचिकेता वृणीते।** देवता, मनुष्य और राक्षस एक साथ शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रजापति के पास गए। प्रजापति ने देखा उनमें शिक्षा के योग्य चित्त-शुद्धि नहीं है और कहा—"जाओ! हजार वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करो।" ब्रह्मचर्यवास के पश्चात् जब वे फिर उपस्थित हुए तब भी उनको ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं दिया। उन्हें शिक्षा के रूप में एक ही अक्षर कहा—'द'। चित्तशुद्धि के कारण सभी ने अपने अपने दोष को पहिचान लिया और शिक्षा के रूप में उसका अर्थ समझ लिया। देवता विलासी थे; उन्होंने समझा—हमें इन्द्रिय दमन का उपदेश दिया गया है। मनुष्य लोभी था; उसने समझा—हमें दान का उपदेश दिया गया है।

राक्षस क्रूर था; उसने समझा—हमें दया का उपदेश दिया गया है। कहा जाता है कि जब बादल गरजता है तो 'द' 'द' 'द' कह कर प्रजापति के उपदेश को दोहराता है। विभिन्न प्रकार की मनोवृत्ति वाले लोगों के लिए प्रजापति का यह उपदेश आज भी उतना ही महत्व रखता है। किन्तु वह जीवन में तभी उतर सकता है जब तदनुरूप चित्तशुद्धि हो। इसके लिए तपस्या आवश्यक है। पर्युषण तथा अन्य पर्व उस परम्परा के ज्वलन्त प्रतीक के रूप में अब भी विद्यमान हैं।

ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य के प्रारम्भ में ब्रह्मजिज्ञासा के अधिकारी की विस्तृत चर्चा है। वहाँ यह बताया गया है कि साधनचतुष्टय सम्पन्न ही ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी हो सकता है। वे चार साधन हैं—नित्यानित्य-वस्तु विवेक, ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों से विरक्ति, शमादि साधन सम्पत् तथा मोक्ष की प्रबल अभिलाषा। जिस व्यक्ति को आत्मा और अनात्मा के भेद का ज्ञान नहीं है, जिसका मन ऐहिक अथवा पारलौकिक भोगों में फँसा हुआ है, जो शान्त, दान्त, सहनशील तथा एकाग्रचित्त नहीं है तथा जिसने एकमात्र मोक्ष को अपना लक्ष्य नहीं बनाया है वह इस मार्ग पर चलने का अधिकारी नहीं है। शङ्कराचार्य ने अध्ययन, आयु, जाति या शरीरसम्पत्ति को योग्यता के रूप में नहीं रखा। शास्त्रों का ज्ञाता हो या अनपढ़ हो, साक्षर हो या निरक्षर हो किन्तु यदि उसमें अमुक प्रकार का विवेक और अमुक प्रकार की चित्तशुद्धि विकसित हो गई है तो वह ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी है। इसके बिना अन्य सब योग्यताएँ होने पर भी वह इस मार्ग का अधिकारी नहीं है।

बौद्धदर्शन में इस अधिकार को सोतापत्ति कहा जाता है। इसके लिए चार आर्यसत्यों का ज्ञान तथा बुद्ध धर्म और संघ में विश्वास होना आवश्यक है।

योगदर्शन में चित्तवृत्ति के दो प्रवाह बताए गए हैं—संसार प्राग्भार और कैवल्य प्राग्भार। जब व्यक्ति चित्त की सिप्त, मूढ और विक्षिप्त रूप तीन भूमियों को पार करके चौथी एकाग्र भूमि में पहुँचता है तभी योग का अधिकारी बनता है। इसके लिए यम, नियम, आसन आदि आठ अंग बताए गए हैं।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि प्रत्येक विद्या या अनुष्ठान के लिए अधिकारी में विशेष प्रकार की योग्यता का होना आवश्यक है। इस योग्यता का सम्पादन किए बिना यदि कोई प्रवृत्त होता है तो सफलता नहीं मिलती।

उसका श्रम बेकार जाता है और चित्त में निराशा तथा ग्लानि पैदा करता है। वही असफलता कभी कभी अश्रद्धा का कारण भी बन जाती है।

जैनदर्शन में इस अधिकार का नाम सम्यग्दृष्टि है। इसके लिए आत्मा में कितनी जागृति, कितनी चित्तशुद्धि तथा कितनी सरलता आनी चाहिए इसकी जैन आगमिक साहित्यमें विशेषतया कर्म साहित्य में विस्तृत चर्चा है। उसके सूक्ष्म विवेचन में न जाकर यदि स्थूल रूप पर ध्यान दिया तो भी जीवन विकास के लिए महत्वपूर्ण सूत्र मिल जाते हैं।

जीव अनादि काल से संसारचक्र में भ्रमण कर रहा है। पिछले कर्मों को भोगता है और नए बाँधता है। इस प्रकार भ्रमण करते करते बहुत बार ऐसे अवसर आते हैं जब वह संचित कर्मों के बड़े भाग को भोग लेता है और नए उस परिमाण में नहीं बाँधता। उस समय आत्मा एक प्रकार का हल्का-पन अनुभव करता है और चित्त में शुभ अध्यवसाय आते हैं। इस प्रकार के शुभ अध्यवसाय यद्यपि चित्तशुद्धि की सूचना देते हैं किन्तु स्थायी नहीं रहते। चित्तवृत्ति फिर बाह्यमुखी हो जाती है और जीव सांसारिक विषयों में फँस जाता है। इस प्रकार के अस्थायी अध्यवसाय को शास्त्रीय परिभाषा में यथाप्रवृत्ति-करण कहा जाता है।

किन्तु कोई कोई जीव ऐसा भी निकलता है जो उस आकस्मिक चित्तशुद्धि को और आगे बढ़ाता है और अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण करता हुआ ग्रन्थिभेद कर डालता है। ग्रन्थिभेद के बाद ही जीव सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। उसके पश्चात् वह अपरित्त संसारी से परित्त संसारी बन जाता है। अर्थात् उसका संसार भ्रमण एक सीमा के अन्दर आ जाता है। ग्रन्थिभेद का अर्थ है संसार भ्रमण की गाँठ को खोल डालना। इस गाँठ के नियामक तत्त्व दो हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के कारण जीव की दृष्टि विपरीत रहती है। उसे आत्मा और शरीर का विवेक नहीं रहता। कर्तव्याकर्तव्य का भान नहीं हो पाता। दर्शन मोहनीय के दूर होते ही जीव की दृष्टि ठीक हो जाती है, वह यह मानने लगता है कि मोक्ष सबसे बड़ा पुरुषार्थ है, आत्मा शरीर से भिन्न है। आत्मा नित्य है और शरीर नश्वर है। इस दृष्टिशुद्धि के साथ चारित्र शुद्धि भी अमुक मात्रा में आवश्यक है। जैन दर्शन के अनुसार चारित्र में पतन का कारण एकमात्र कषाय है। व्यक्ति में क्रोध, मान, माया और लोभ की जितनी अधिक मात्रा होगी वह उतना ही

पतित है। इनकी कला जैसे जैसे घटेगी जीव आगे बढ़ता जाएगा। जैन आध्यात्मिक उत्थान क्रम का परिचय देने वाले चौदह गुणस्थान मुख्यतया कषायों की तरतमता पर निर्भर हैं। कर्मसिद्धान्त में कषायों की तरतमता चार श्रेणियों में विभक्त है। इनको क्रमशः अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कहा गया है। तरतमता के आधार पर हम इन्हें तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मन्द कह सकते हैं। तीव्रतम कषाय या उदय रहने पर जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, तीव्रतर का उदय रहने पर श्रावक नहीं हो सकता, तीव्र का उदय रहने पर साधु नहीं हो सकता और मन्द का उदय रहने पर कैवल्य नहीं प्राप्त कर सकता। इस प्रकार चारित्र की चार श्रेणियाँ हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए कषायों की उत्तरोत्तर श्रेणियों पर विजय प्राप्त करनी होती है। ग्रन्थिभेद के लिए प्रथम अर्थात् अनन्तानुबन्धी पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। इसकी मोटी पहिचान यह है कि जो व्यक्ति किसी काषायिक भाव को एक वर्ष से अधिक समय तक लिए रखता है उसके अनन्तानुबन्धी का उदय है। सम्यग्दृष्टि के लिए यह आवश्यक है कि वह पुराने लड़ाई झगड़े द्वेष आदि को वर्ष से अधिक न खींचे। जैन परम्परा में पर्युषण के अन्तिम दिन जो सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किया जाता है, वह इसी लिए अत्यन्त महत्व रखता है। उस दिन प्रत्येक जैन से यह आशा की जाती है कि वह अपने पुराने मनोमालिन्य को धो डाले, पुराने दोषों की पश्चात्ताप तथा प्रायश्चित द्वारा शुद्धि करले और नए वर्ष में इस भावना को लेकर प्रवृत्त हो कि कषायों के उद्रेक का प्रसंग कम से कम आय। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पर्यूषण के इस महत्व को सामने रख कर चला जाय तो प्रतिवर्ष जीवन में विकास स्पष्ट दिखाई देगा जिस प्रकार कक्षाक्रम से परिश्रम पूर्वक अध्यन करने वाला विद्यार्थी वर्ष के अन्त में अपनी योग्यता में विकास स्पष्ट रूप से देखने लगता है, इसी प्रकार आध्यात्मिक विकास भी स्पष्ट रूप से झलकने लगेगा।

शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के पाँच गुण बताए गए हैं—

१. शम—उसकी चित्तवृति शान्त होती है। वह सहज ही क्रोध, मान आदि आवेगों से अभिभूत नहीं होता।

२. संवेग—वह कर्तव्याकर्तव्य के विवेक को नहीं भूलता।

३. निर्वेद—वह सांसारिक विषयों से विरक्त रहता है।

४. अनुकम्पा—उसका हृदय संसार के समस्त प्राणियों के प्रति करुणापूर्ण रहता है।

५. आस्तिक्य—उसका हृदय श्रद्धापूर्ण होता है। आध्यात्मिक उत्थान के प्रति उसकी दृढ़ श्रद्धा होती हैं।

यहाँ तक हमने शास्त्रीय दृष्टि से सम्यग्दृष्टि का विवेचन किया। इससे हमारे सामने कुछ बातें स्पष्ट झलकती हैं—

१. आध्यात्मिक उत्थान के अधिकारी के विषय में प्राय: सभी दर्शनों में ऐकमत्य है।

२. मोक्ष प्राप्ति के लिए ही नहीं किन्तु वर्तमान जीवन को भी सुखपूर्वक बिताने के लिए सम्यग्दृष्टि होना आवश्यक है। कषाय एक प्रकार के मानसिक रोग हैं। उनसे पीड़ित व्यक्ति, चाहे वह कितना ही सम्पन्न हो, सुख प्राप्त नहीं कर सकता।

आध्यात्मिक उत्थान की इसी दृष्टि को लेकर भगवान् महावीर ने कठोर तपस्या की और अपनी साधना के फलस्वरूप अहिंसा का उपदेश दिया। जो व्यक्ति कषायों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता वह कभी अहिंसक नहीं हो सकता। अहिंसा की आराधना के लिए कषायों का मन्द होना आवश्यक है। हम किसी को मारें या न मारें, नुक्सान पहुँचाएँ या न पहुँचाएँ यदि हमारे मन में उसके प्रति द्वेष बुद्धि है, उसे नुक्सान पहुँचाने की भावना है, हम उस पर रोब गांठना चाहते हैं, उसकी वस्तु का बलपूर्वक कपट से ठगी से प्रलोभन देकर, उसकी विवशता अथवा सरलता से लाभ उठाकर अपहरण करना चाहते हैं तो वह हिंसा है और हिंसा के मार्ग पर चलने वाला कभी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। व्यक्ति तथा समाज के लाभ की दृष्टि से आध्यात्मिक विकास का यह मार्ग कितना उपयोगी है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। इस पथपर चलने वाले व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होगी संसार में उतनी ही सुख सम्पत्ति तथा आनन्द की वृद्धि होगी। इस विषय में किसी का मतभेद नहीं हो सकता।

अब हम दार्शनिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन के स्वरूप का पर्यालोचन करेंगे। मोक्षमार्ग के घटक रत्नत्रय में इसका प्रथम स्थान है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र का कोई मूल्य नहीं है। जिस प्रकार एक के अंक पर लगाई गई बिन्दु उसका मूल्य दसगुना कर देती है किन्तु एक के हट जाने पर उसका अपने में

कोई मूल्य नहीं रहता, इसी प्रकार ज्ञान और चारित्र सम्यग्दर्शन के साथ होने पर उसके मूल्य को बढ़ा देते हैं किन्तु यदि सम्यग्दर्शन नहीं रहा तो उनका कोई मूल्य नहीं है। सम्यग्दृष्टि भी घट को घट के रूप में जानता है और मिथ्यादृष्टि भी घट को घट के रूप में जानता है। दोनों की प्रतीति में समानता होने पर भी सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यक् है और मिथ्यादृष्टि का मिथ्या। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक प्रश्न होता है—सम्यग्दृष्टि किसे कहा जाएगा ?

उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में सम्यग्दृष्टि की व्याख्या तीन प्रकार से की जाती है।

सम्यग्दृष्टि की पहली व्याख्या है तत्त्वरुचि अर्थात् सत्य को जानने और स्वीकार करने की तत्परता। यद्यपि व्यक्ति अपने प्रत्येक निर्णय के लिए यह अभिमान करता है कि वह पूर्णतया सत्य पर आधारित है किन्तु विचार करने पर उसमें हमारे पुराने संस्कार, वैयक्तिक तथा सामूहिक स्वार्थ एवं अन्य बहुत से तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। गत युद्ध से पहले जर्मनी के नाजी यह मानते थे कि वे समस्त विश्वपर शासन करने को उत्पन्न हुए हैं। वे अपने को अन्य सभी राष्ट्रों के मानवों से श्रेष्ठ मानते थे और उनपर शासन करना अपना न्यायपूर्ण अधिकार समझते थे। उनका मिथ्या अभिमान तभी दूर हुआ जब युद्ध ने उन्हें बुरी तरह कुचल डाला। अपने देश, अपने जाति, अपने धर्म को दूसरे से उत्कृष्ट मानने में इसी प्रकार का अभिनिवेश रहता है। छुआछूत को मानने वाला कट्टर हिन्दू यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि एक ईसाई या मुसलमान का जीवन उसकी अपेक्षा अधिक पवित्र हो सकता है। यही बात जनियों के साथ भी है। एक जैन साधु अपने सम्प्रदाय से भिन्न किसी व्यक्ति को साधु मानने के लिए तैयार नहीं होता। जैन आगमों में जहाँ सिद्धों के पन्द्रह भेद बताए गए हैं, वहाँ अन्यलिंग सिद्ध भी है अर्थात् व्यक्ति जैन साधु से भिन्न किसी अन्य साधु के वेश में रहते हुए भी आत्मगुणों का विकास करके मोक्ष-प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में भिन्न वेश वाले को वेशमात्र के कारण मिथ्यात्वी समझ लेना और उसे किसी प्रकार का सम्मान न देना दुरभिनिवेश नहीं तो क्या है ? महात्मा गांधी ने अहिंसा की जो साधना की थी वह सर्वविदित है।

वे जब एक जैन साधु से मिलने आए तो साधु ने उन्हें मिथ्यात्वी समझकर कोई सम्मान नहीं दिया। एक बार कायदे आजम जिन्ना ने कहा था—एक शराब पीने वाला व्यभिचारी तथा पतित मुसलमान भी महात्मा गांधी से अच्छा

है।" दूसरी ओर ऐसे हिन्दुओं की भी कमी नहीं है जो पतित से पतित हिन्दु को भी सीमाप्रान्त के गांधी खां अब्दुल गफ्फार खां से अच्छा मानते हैं। इन दुरभिनिवेशों का कुपरिणाम भारतवर्ष शताब्दियों तथा सहस्राब्दियों से भुगतता आ रहा है। अभी छ साल पहले देश विभाजन के समय देश को जिस नृशंसता और पशुता का भाजन बनना पड़ा उसकी स्मृति अभी ताजी है। यह सब एकांगी मिथ्या दृष्टि का फल है। सम्यग्दृष्टि वाला व्यक्ति इन अभिनिवेशों और आवेशों से अभिभूत नहीं होता उसकी दृष्टि सत्य पर जमी रहती है। जिस समय सारी दुनिया भावावेश में बहने लगती है वह प्रकाश स्तम्भ के समान भयस्थानों की सूचना देता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति में यह सामर्थ्य होना चाहिए कि पुराने संस्कार और स्वार्थों से ऊपर उठकर प्रत्येक बात में यथार्थ के दर्शन कर सके। कम से कम उसे ऐसी भावना रखते हुए प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिए। इसमें उसका अपना तथा समाज का सभी का कल्याण सन्निहित है।

सम्यग्दृष्टि का दूसरा अर्थ है वैज्ञानिक पद्धति। प्रथम अर्थ में यह बताया गया था कि व्यक्ति की भावना सदा सत्य को ग्रहण करने की रहनी चाहिए। किन्तु सत्य को तब तक नहीं पहिचाना जा सकता जब तक उसे जानने का साधन वैज्ञानिक और निर्दोष न हो। साधन में दोष दो प्रकार से आ सकता है— (१) साधन ज्ञाता के पूर्वग्रहों से प्रभावित हो। इसकी चर्चा हम कर चुके हैं। (२) व्यक्ति की पद्धति गलत हो। पहले का कारण कषाय या व्यक्तिगत स्वार्थ है और दूसरे का अज्ञान। जब तक व्यक्ति ठीक पद्धति को नहीं जानता तबतक उसका ज्ञान ज्ञान ही नहीं है। इसी के लिए गुरु को आवश्यक बताया गया है।

हम एक बालक से पूछते हैं—दो और दो? वह कहता है– 'पाँच'। तीन, पाँच, छह कहते हुए उसके मुँह से चार भी निकल सकता है। फिर भी हम नहीं कह सकते कि उत्तर ठीक है। ठीक उत्तर तभी कहा जाएगा जब उस पर पहुँचने का तरीका ठीक हो। प्रत्येक कार्य के लिए कोई न कोई वैज्ञानिक पद्धति हुआ करती है। उसे समझ कर तदनुसार चलना ही सम्यग्दृष्टि है। पद्धति के बिना ठीक निर्णय भी महत्व नहीं रखता। इसी को तत्त्वार्थसूत्र में "सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत।" सूत्र में यदृच्छोपलब्धि शब्द से प्रकट किया है।

सम्यग्दृष्टि का तीसरा अर्थ ध्येय की अपेक्षा से है जब तक आत्मा की

प्रवृत्तियों का लक्ष्य सांसारिक सुख है, उसका ध्येय बाह्यमुखी है तबतक उसका ज्ञान, उसकी क्रिया, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति मिथ्या है । ध्येय के बदलते ही सब कुछ सम्यक् हो जाता है । जिस प्रकार धन या शारीरिक बल विशेष प्रकार की शक्तियाँ हैं । उन्हें अच्छा या बुरा कुछ नहीं कहा जा सकता । अच्छा-पन या बुरापन उनके उपयोग पर निर्भर है । यदि उनका उपयोग स्वपर के कल्याण के लिए होता है तो वे शुभ हैं । यदि उनका उपयोग दूसरों को कष्ट पहुँचाने के लिए होता है तो वे अशुभ हैं, इसी प्रकार ज्ञान भी एक शक्ति है । उसका सम्यक् तथा मिथ्या होना उसके उपयोग पर निर्भर है । सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान का उपयोग आत्म विकास के लिए करता है, मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ के लिए करता है, इसलिए उसका ज्ञान सम्यक् है । मिथ्या दृष्टि अपने ज्ञानका उपयोग सांसारिक भोगों की वृद्धि के लिए करता है, इस लिए उसका ज्ञान मिथ्या है । पाश्चात्य परिभाषा में इस दृष्टिकोण को हम (Progmatism) कह सकते है जहाँ प्रत्येक वस्तु का मूल्याङ्कन उसकी उपयोगिता के आधार पर होता है ।

इस प्रकार हमारे सामने सम्यग्दृष्टि के चार रूप आए—

१. आत्मशुद्धि—कषायों की मन्दता के कारण आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति ।

२. दृष्टिशुद्धि—सत्य के परीक्षण के लिए द्वेष तथा पक्षपात से दूर रहकर प्रत्येक वस्तु को तटस्थ वृत्ति से देखने की क्षमता ।

३. उपाय शुद्धि—वस्तु को जानने के उपायों का निर्दोष तथा वैज्ञानिक होना ।

४. ध्येय शुद्धि—मनुष्य के सामने किसी महान् लक्ष्य का रहना ।

इनमें से पिछली तीनों शुद्धियाँ तभी आ सकती हैं जब पहली अर्थात् आत्म-शुद्धि प्राप्त कर ली हो ।

—क्रमशः

सन्त एकनाथ के जीवन प्रसंग

सन्त एकनाथ दक्षिण के पैठण नगर में रहते थे। प्रतिदिन नदी पर स्नान करने जाया करते थे। मार्ग में एक सराय पड़ती थी। उसमें एक मुसलमान रहता था। जब एकनाथ स्नान करके वापिस लौटते तो वह उन पर थूक देता। वे फिर स्नान करने के लिए नदी की ओर चल देते। इस प्रकार उन्हें नित्य ही चार पाँच बार स्नान करना पड़ता। किन्तु उस मुसलमान पर उन्हें कभी क्रोध नहीं आया। वे स्वस्थ चित्त से फिर नदी की ओर चल पड़ते और प्रसन्न होकर स्नान करते।

एक बार उस मुसलमान ने एकनाथ पर एक सौ आठ बार थूका। जैसे ही वे स्नान करके लौटते वह थूक देता। एकनाथ फिर स्नान के लिए चल पड़ते। हजारों नरनारी एकनाथ की उस सज्जनता और मुसलमान की दुष्टता को देख रहे थे। सन्त की क्षमा और दुष्ट की दुष्टता में बाजी लगी हुई थी। अन्त में सन्त की विजय हुई। उनके मुख पर अन्त तक उसी क्षमा, शान्ति तथा प्रसन्नता की ज्योति चमकती रही। मुसलमान हार कर उनके चरणों में आ गिरा। एकनाथ से क्षमा मांगी और अपने अविचारपूर्ण कृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगा। उदारमना एकनाथ ने उसे क्षमा देते हुए प्रेमपूर्वक धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने कहा—"भाई! यदि यह कहा जाय कि अल्ला मस्जिद में हैं तो क्या दूसरे स्थान उससे सूने हैं? यदि चार बार नमाज पढ़ने का समय ही खुदा की इबादत का वक्त है तो क्या दूसरे समय चोरी करनी चाहिए? वास्तव में यह बात नहीं है। परमात्मा सर्वत्र है, सबका है। सबके हृदय में रहकर वह प्रत्येक समय हमारी प्रार्थना को सुनता रहता है।"

एकनाथ के उपदेशामृत से मुसलमान को शान्ति मिली और वह नम्रता-पूर्वक प्रभुमय जीवन बिताने लगा।

× × × ×

उसी शहर में एकनाथ के बहुत से निन्दक थे। वे हमेशा चौराहे में बैठकर उसकी बदनामी किया करते थे। एकनाथ को तंग करने का कोई मौका वे न चूकते थे। एकदिन उन निन्दकों की मण्डली चौराहे में बैठकर

इसी प्रकार गप्पें लड़ा रही थी। इतने में वहाँ से एक ब्राह्मण निकला। उसने सुन रखा था कि पैठण के ब्राह्मण बड़े विद्वान तथा सम्पन्न हैं। वह अपने लड़के का जनेऊ करना चाहता था। कुछ सहायता की आशा से यहाँ आया था। अचानक उस टोली में से एक नें पूछा—"महाराज! कहाँ जा रहे हो!"

ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"भाइयो! मैं इस शहर में दो सौ रुपए की याचना करने आया हूँ। मैं बहुत गरीब हूँ और पुत्र को यज्ञोपवीत देना है। किसी उदार एवं दयालु भाग्यवान् की खोज में हूँ।"

टोली ने एकनाथ को तंग करने का यह अच्छा अवसर देखा। ब्राह्मण से कहा—"महाराज! तुम्हारी दो सौ रुपए की मांग को हम पूरी कर देंगे। किन्तु एक शर्त है यहाँ एकनाथ नामका एक ब्राह्मण रहता है। उसे किसी तरह क्रोध में लाना होगा। उसके क्रोध में आते ही तुम्हें दो सौ रुपए मिल जाएँगे।"

ब्राह्मण ने सोचा—भला, ऐसा भी कोई आदमी है जो क्रोध में न आसके। मेरी मनोकामना पूरी होगई।

एकनाथ उस समय मन्दिर में पूजा कर रहे थे। सामने भगवान् की मूर्ति थी। पवित्र वस्त्र पहिन रखे थे। ब्राह्मण जूतों के साथ सीधा वहाँ पहुँच गया और धम्म से एकनाथ की जाँघ पर बैठ गया एकनाथ उसे विस्मयपूर्वक देखते रह गए। किन्तु उनके मन में क्रोध नहीं था। मुस्कराते हुए बोले—"महाराज! आपके दर्शन से मुझे बड़ा आनन्द हुआ है। मुझे मिलने के लिए बहुत से लोग आते हैं किन्तु जो ममता आपने दिखाई है वह दूसरों में नहीं दिखाई दी। मालूम पड़ता है आप मुझसे मिलने के लिए अत्यन्त आतुर थे। इसीलिए जूते तथा साधारण वस्त्रों को पहनें पहने आप यहाँ चले आए हैं। आप कृपा करके यहाँ पधारे और मेरी जंघा को पवित्र किया इसके लिए अपने आपको धन्य मानता हूँ।"

एकनाथ की शीतल एवं मधुर वाणी सुनकर ब्राह्मण स्तब्ध रह गया। किन्तु उसे तो दो सौ रुपए चाहिए थे। एकनाथ को क्रोध में लाने की कोई दूसरी युक्ति सोचने लगा। उसने कहा—"आज मैं यहीं भोजन करूँगा। तैयार कराइए।"

एकनाथ ने कहा—बहुत अच्छा, अहोभाग्य।

कुछ ही देर में रसोईं तैयार हो गई। एकनाथ और ब्राह्मण पास पास भोजन करने बैठे। पत्तल रखी गई। भोजन परोस दिया गया। अन्त में जब एकनाथ की पत्नी घी परोसने आई तो ब्राह्मण एकाएक खड़ा हुआ और छलांग मारकर उसकी पीठपर चढ़ गया। प्रसङ्ग ऐसा था कि प्रत्येक व्यक्ति को क्रोध आ जाय। किन्तु शान्ति के अवतार एकनाथ ने धैर्य पूर्वक पत्नी से कहा—"जरा सम्भालना। बेचारा ब्राह्मण गिर पड़ेगा तो चोट लग जाएगी।"

एकनाथ की पत्नी भी उतनी ही शान्त तथा क्षमाशील थी। उसने उत्तर दिया—"मुझे अपने पुत्र हरिपण्डितको इस प्रकार कन्धे पर बैठाकर काम करने की आदत है। इसलिए आप चिन्ता न करें। मैं इनको गिरने न दूंगी। यह ब्राह्मण भी मेरा ही बालक है।"

ब्राह्मण के आश्चर्य का पार नहीं रहा। वह इतना लज्जित हुआ कि मुँह दिखाना मुश्किल हो गया। एकनाथ और उसकी पत्नी के चरणों में गिरकर रोता हुआ क्षमा माँगने लगा एकनाथ ने उसे समझा बुझा कर सान्त्वना देते हुए बिदा किया।

× × × ×

एक बार एकनाथ के यहाँ श्राद्ध था। भोजन तैयार हो गया। वे घर के द्वार पर खड़े होकर निमन्त्रित ब्राह्मणों की प्रतीक्षा कर रहे थे। इतने में उस ओर से चार पाँच ढेड निकले। एकनाथ के घर में बहुत से मिष्टान्न तथा स्वादु भोजन बना था। बाहर तक सुगन्ध फैल रही थी। ढेडों के मुँह में पानी भर आया। आपस में बातें करने लगे—"भाई! ऐसा स्वादिष्ट भोजन तो हमें देखना भी नसीब नहीं हुआ।" दूसरा बोला—"देखना तो दूर रहा, इसकी सुगन्ध भी कभी दिल धाप कर नहीं ली।"

उनकी बातें एकनाथ के कानों में पड़ीं। दयालु हृदय पसीज गया। मन में चोट सी लगी। पत्नी को बुलाकर कहा—"इन बिचारों ने कभी उत्तम भोजन का स्वाद नहीं लिया। मैं चाहता हूँ, श्राद्ध के लिए बना भोजन इनको दे दिया जाय। ये लोग भोजन करके तृप्त होंगे। इनकी आत्मा को सुख मिलेगा।" एकनाथ की पत्नी ने भी उत्साह के साथ कहा—"हमारे पास काफी भोजन है। ढेडों की स्त्रियों तथा बच्चों को भी बुला लेना चाहिए। उन्होंने भी ऐसा भोजन कभी न किया होगा। ब्राह्मणों के लिए मैं शीघ्र ही दूसरी रसोई तैयार कर दूँगी।"

एकनाथ तथा उसकी पत्नी ने ढेड तथा उनके स्त्री बच्चों को प्रेम से भोजन कराया और प्रसन्नचित्त से बिदा किया। गिरिजा बाई (एकनाथ की पत्नी) ने ब्राह्मणों के लिए फिर से रसोई बना ली।

सारे नगर में बात फैल गई कि एकनाथ ने श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मणों के लिए बनाया हुआ भोजन चमारों को दे दिया। सभी ब्राह्मणों ने मिलकर निश्चय किया कि कोई एकनाथ के घर भोजन के लिए न जाय। एकनाथ ने बहुत समझाया किन्तु वे टस से मस न हुए।

एकनाथ श्रद्धालु गृहस्थ थे। ब्राह्मणों के इन्कार से उन्हें बड़ी चिन्ता हुई, सोचने लगे—"पितरों को भोजन कैसे पहुँचाया जाय?"

उनके यहाँ श्रीखंड नाम का एक नौकर था। उसने कहा—नाथ जी! आप धैर्य रक्खें। भूखे चमारों को भोजन कराके आपने सच्चा श्राद्ध किया है। इस श्राद्ध से पितर अवश्य प्रसन्न होंगे। आप पत्तलें रखिए और भोजन परोसिए। पितर स्वयं आकर भोजन को स्वीकार करेंगे।

श्रीखण्ड के कथनानुसार पत्तलें परोसी गईं। कहा जाता है, कुछ ही क्षणों में एकनाथ के पूर्वज एक के बाद दूसरा नीचे उतर आए और भोजन करने लगे। एकनाथ के आनन्द की सीमा नहीं थी। आज उसने सच्चा श्राद्ध किया था। इस घटना से ब्राह्मणों को बहुत लज्जित होना पड़ा।

× × × ×

सज्जनों को कष्ट देना दुष्टों का स्वभाव होता है। एकनाथ को भी बहुत से दुष्ट बिना कारण ही तंग करने की सोचते रहते थे।

एक बार पैठणपुर में आधी रात बीते बहुत से ब्राह्मण आ पहुँचे। वे बहुत थक गए थे, भूख भी लगी हुई थी। कहीं उतरने की जगह ढूँढ़ रहे थे। इतने में वे दुष्ट मिल गए। उन्होंने ब्राह्मणों से कहा—इधर उधर क्यों भटक रहे हो। एकनाथ के पास ऐसी विद्या है कि वह एक साथ सैकड़ों आदमियों को भोजन करा सकता है। उसके यहाँ रात को विश्राम करने की भी अच्छी व्यवस्था है।

भोले यात्री उन दुष्टों के बहकावे में आकर पूछते पूछते एकनाथ के घर पहुँचे। एकनाथ ने घर का द्वार खोल कर उन का स्वागत किया और कुशल

समाचार पूछे। यह जानते ही कि वे भूखे हैं, एकनाथ ने अपनी पत्नी को रसोई करने के लिए कहा। रात के बारह बज गए थे। गिरिजा बाई ने प्रसन्न मन से रसोई बनाना प्रारम्भ किया। बाड़े में जाकर देखा तो ईंधन समाप्त हो चुका था। दो चार मोटे मोटे लक्कड़ पड़े थे और वे भी गीले। एकनाथ को इस स्थिति का पता चला तो उन्होंने अपने एक शिष्य से कहा—"अपना घर लकड़ी का ही बना हुआ है दो चार डंडे निकाल लो और रसोई का काम चलाओ।"

घर का छप्पर तोड़कर ईंधन बनाया गया और गिरिजाबाई ने जल्दी जल्दी रसोई तैयार की। बड़े प्रेम से ब्राह्मणों को भोजन परोसा और उनकी आत्मा को तृप्त किया। रात को वे लोग वहीं पर निश्चिन्त होकर सोए। सुबह जब उनको मालूम पड़ा कि ईंधन के लिए छप्पर तोड़ा गया था तो वे एकनाथ की सज्जनता से दंग रह गए। उस महात्मा से आशीर्वाद लेकर उसके गुण गाते हुए वे अपने रास्ते चले गए।

×　　　×　　　×　　　×

एकबार एकनाथ अपने कंधे पर गंगाजल की कावड़ लेकर काशी से रामेश्वर जा रहे थे। काशी के गंगाजल को रामेश्वर पर चढ़ाने का बड़ा पुण्य माना जाता था। एकनाथ यात्रियों के आगे आगे चल रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक गधे को देखा। गरमी के दिन थे तेज धूप पड़ रही थी। गधा प्यास के मारे छटपटा रहा था। उसकी करुण दशा को देखकर एकनाथ को दया आ गई। मन में आया, किसी प्रकार इसके प्राण बचाने चाहिए। उन्होंने कावड़ नीचे रखी और काशीसे लाया हुआ गंगाजल गधे को पिला दिया। पानी पीकर गधे की जान में जान आई और वह खड़ा होकर टहलने लगा। इतने में एकनाथ के दूसरे साथी वहाँ आ पहुँचे। कावड़ खाली देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ और पूछने लगे—महाराज! आपका गंगाजल कहाँ गया?

एकनाथ ने कहा—मैंने उसे प्यासे मरते हुए गधेको पिला दिया। बेचारा तड़प रहा था। अभी अभी उठ कर गया है।

साथियों ने कहा—"महाराज! आप इतने परिश्रम से, गरमी के दिनों में कन्धे पर उठा कर उस जल को रामेश्वर पर चढ़ाने के लिए ले जा रहे थे। अब आप कैसे करेंगे। आप की यात्रा अधूरी रह जाएगी। उसका पूरा फल नहीं मिलेगा।"

एकनाथ बोले—"मरते हुए प्राणी को बचाना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। यही सबसे बड़ा पुण्य है। रामेश्वर पर जल चढ़ाने की अपेक्षा प्यासे को पानी पिलाना श्रेष्ठतर है। भगवान् तो सब जगह व्याप्त है। जो भगवान् रामेश्वर में है वही मुझ में, आप में और गधे में है। मैं तो मानता हूँ, गधे को पानी पिलाने से रामेश्वर पर भी जल अपने आप चढ़ गया।"

× × × ×

एक बार एकनाथ के घर भजन-कीर्तन हो रहे थे। इतने में चुपचाप तीन चोर घर में घुस गए। कीर्तन समाप्त होने पर सभी भक्त अपने अपने घर चले गए और एकनाथ भी नींद लेने लगे।

रात के दो बजे चोरों ने अपना काम शुरू किया। उन्होंने घर की तमाम कीमती वस्तुएँ इकट्ठी कीं और घर के दरवाजे पर रख दीं। घर में मन्दिर था। वहाँ भी कुछ कीमती चीजें थीं। एक चोर उन्हें भी लेने गया। उस समय एकनाथ ईश्वर भजन में तल्लीन थे। सामने घी का दीया जल रहा था। उन्हें देखकर चोर डर गया और वापिस मुड़ने लगा। एकनाथ ने उसे खड़ा रहने के लिए कहा। चोर भय के मारे काँपने लगा। उसे लगा "अब मैं तो पकड़ा गया।" एकनाथ ने गम्भीर स्वर से कहा—"भाई घबराओ मत। मैं जानता हूँ कि तुम चोरी करने आए हो। मैं तुम्हारे काम में तनिक भी बाधा नहीं डालूँगा। तुम्हें जिस वस्तु की आवश्यकता हो खुशी से ले जाओ। मेरे पास यह एक अंगूठी है। इसे भी ले जाओ। तुम्हारे काम आएगी।"

एकनाथ की बात सुनकर चोर स्तब्ध रह गया। उसे कुछ नहीं सूझ रहा था, क्या करे और क्या न करे। वह एकनाथ के चरणों में गिर पड़ा, चोरी की सारी बात कह दी और चुराया हुआ सभी माल बता दिया। अपने इस दुष्कृत्य के लिए सब के सब चोर एकनाथ से क्षमा मांगने लगे। एकनाथ ने गिरिजाबाई को जगाया, चोरों के लिए रसोई बनवाई और सभी को भोजन करा कर बिदा किया।

चोरों ने उस दिन से चोरी छोड़ दी और ईमानदारी तथा परिश्रम पूर्वक जीवनयात्रा प्रारम्भ कर दी। एकनाथ के एक सत्संग ने उनका जीवन बदल दिया।

× × × ×

पैठणपुर में राणिया नाम का एक चमार रहता था। वह अत्यन्त भावुक तथा शुद्धचरित व्यक्ति था। उसकी स्त्री भी उसी प्रकार धर्मपरायण तथा सुशील थी। दोनों एकनाथ के कथा-कीर्तन में जाया करते थे। उनके सारे रास्ते को झाड़ बुहार कर साफ रखते थे। नाथ जी के प्रति उनके मन मे सच्ची भक्ति थी।

एक दिन नाथ जी की कथा में आया—"भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं। वे ब्राह्मण के हृदय में है और चाण्डाल के हृदय में भी हैं। भगवान् की दृष्टि में कोई ऊँच नीच नहीं है।" यह सुनकर राणिया तथा उसकी स्त्री के मन में आया—"दुनिया भले ही हमें हलका मानती हो किन्तु वास्तव में सभी प्राणी बराबर हैं। हम किसी से छोटे नहीं हैं।" इस विचार से उनके मन को बड़ा आनन्द हुआ।

एक दिन राणिया ने नाथ जी से विनती की—"महाराज ! इस गरीब सेवक पर कृपा करके एक दिन भोजन का निमंत्रण स्वीकार कीजिए। आप सरीखे समर्थ पुरुष की दृष्टि में तो यह लौकिक भेद नहीं होना चाहिए।"

एकनाथ ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। यह बात सारे नगर में फैल गई। ब्राह्मण चकित होकर बातें करने लगे। तरह तरह से एकनाथ की निन्दा करने लगे। उन्होंने निश्चय किया कि सबके सब रास्ते में बैठ जाएँगे। फिर देखेंगे एकनाथ चमार के घर कैसे जाते हैं ?

दूसरे दिन सारे रास्ते में ब्राह्मणों की भीड़ जमा हो गई। सभी आश्चर्यान्वित होकर यह देखना चाहते थे कि एकनाथ चमार के घर कैसे जाते हैं। एकनाथ बिना किसी संकोच के अपने घर से निकले और चमार के घर पहुँच गए। पति पत्नी ने मिलकर उनकी पूजा की। उन्हें ऐसा लगा जैसे साक्षात् भगवान् ही घर पर चले आए हैं। स्वस्तिक बनाकर उस में रंग भरे। एकनाथ जी को एक साफ सुथरे आसन पर बैठाया और आग्रह एवं प्रेम के साथ भोजन कराया।

ब्राह्मण क्रोध से जलने लगे। किन्तु उसी समय एक चमत्कार हुआ। एकनाथ जिस समय राणिया के घरभोजन कर रहे थे उसी समय वे मन्दिर में पूजा करते हुए भी दिखाई दिए। यह देख कर ब्राह्मण चकित रह गए। वे

कहने लगे—"एकनाथ की महिमा को कौन जान सकता है। वे तो स्वयं परमात्म स्वरूप हैं।"

× × × ×

एक दिन दोपहर के समय एकनाथ गङ्गा स्नान के लिए जा रहे थे। उसी समय एक चमारी उधर से निकली। वह पानी भरने जा रही थी। पीछे पीछे उसका लड़का रोता हुआ आ रहा था। बालक नासमझ था, वह अपनी माँ के साथ जाने के लिए रो रहा था। मा आगे आगे चल रही थी, वह पीछे पीछे दौड़ रहा था। धूप तेज हो गई थी। पैर भी जलने लगे थे। किन्तु निर्दय माता बालक की ओर बिना देखे ही आगे बढ़ी जा रही थी। एकनाथ को बालक पर दया आगई। उन्होंने दौड़कर उसे उठा लिया। उसका पसीना अपने कपड़े से पोंछा और खिलाते खिलाते उसे चमारों की बस्ती में ले गए। वहाँ जाकर बालक उसके पिता को सौंप दिया।

कुछ दिनों बाद कुष्ठ से पीड़ित, अत्यन्त दुखी तथा कंगाल एक ब्राह्मण अम्बकेश्वर से चलकर एकनाथ के पास आया और बोला—"महाराज! मैंने अम्बकेश्वर की बहुत सेवा की। व्रत और उपवास भी किए। आखिर भगवान् मुझपर प्रसन्न हुए और उन्होंने एक दिन स्वप्न में मुझ से कहा—'तुम पैठण में एकनाथ के पास जाओ। गरमी की धूप में उन्होंने बालक को उठाकर उसके घर पहुँचा दिया था, उस घटना की याद दिलाकर उनसे याचना करना। उस भलाई से जो पुण्य हुआ है वह मिल जाय तो तुम्हारा कोढ़ दूर हो सकता है।' महाराज! अब कृपा कीजिए। उस उपकार का फल मुझे दे दीजिए जिससे मेरा कष्ट दूर हो जाय। मैं आपके पास इसी लिए आया हूँ।"

एकनाथ ने कहा—"यह तो एक छोटा सा काम है। क्या इतने मात्र से तुम्हारा कोढ़ चला जाएगा।"

ब्राह्मण ने कहा—"हाँ, महाराज! मुझे विश्वास है, इससे मेरा कोढ़ चला जाएगा।"

एकनाथ ने हाथ में जल लेकर उस पुण्य का फल ब्राह्मण को दान कर दिया। एक ही क्षण में ब्राह्मण पूर्ण स्वस्थ हो गया। प्रसन्न होता हुआ वह अपने घर चला गया।

× × × ×

एकनाथ के हरिपण्डित नाम का एक पुत्र था। वह तीव्र बुद्धिवाला तथा गम्भीर विद्वान् था। छहों शास्त्रों का पारंगत था। संस्कृत भाषा के पाण्डित्य का उसे बहुत अभिमान था। उसके पिता मराठी में पुस्तकें लिखें, यह उसे अच्छा नहीं लगता था। एकनाथ ने एकबार विचार किया कि किसी प्रकार हरिपण्डित का अभिमान दूर करना चाहिए। उसी समय एक ऐसी घटना घटी कि हरिपण्डित का अभिमान अपने आप समाप्त हो गया और वह सच्चा भक्त बन गया।

पैठण में एक स्त्री ने हजार ब्राह्मणों को भोजन कराने की मानता की थी। भाग्यवशात् उसका पति मर गया और स्थिति ऐसी खराब हो गई कि पेट भरना कठिन हो गया। उसके मन में आया कि मैंने मानता पूरी नहीं की इसीलिए यह दुर्दशा हो रही है। उसने मानता पूरी करने का विचार किया। किन्तु पास में कुछ नहीं था। बेचारी दिन रात चिन्ता में डूबी रहने लगी। उसने एक विद्वान् पण्डित से सलाह ली। उसने बताया—एक धर्मनिष्ठ को भोजन कराने से एक हजार ब्राह्मणों जितना पुण्य होता है। स्त्री ने एकनाथ को भोजन कराने का निश्चय किया और निमन्त्रण दे दिया। एकनाथ ने उसे स्वीकार कर लिया और हरिपण्डित को भोजन तैयार करने की आज्ञा दी। भोजन तैयार होने पर एकनाथ जीमने बैठे। हरिपण्डित ने परोस दिया। एकनाथ ने भोजन कर लेने के बाद हरिपण्डित से अपनी जूठी पत्तल फेंक देने के लिए कहा—हरिपण्डित ने फेंकने के लिए उठाई तो नीचे से एक दूसरी पत्तल निकल आई। दूसरी फेंकी तो तीसरी निकल आई, इस प्रकार एक हजार पत्तलें फेंकनी पड़ीं। हरिपण्डित को विश्वास हो गया कि उसके पिता संस्कृत के विद्वान् नहीं हैं, मोटे मोटे शास्त्र नहीं पढ़ते, फिर भी सच्चे ब्रह्मज्ञानी हैं। उसका अपना ज्ञान-गर्व समाप्त हो गया। वह पिता के चरणों में गिर पड़ा और अपने अभिमान के लिए क्षमा माँगी।

बीसवीं सदी का जैन साहित्य

श्री अगरचन्द नाहटा

काल चक्र अनन्त है। भविष्यत् काल वर्तमान का रूप धारणकर भूत में तेजी से विलीन हो रहा है। वर्त्तमान से भावी की रूप रेखा बनती है और वर्त्तमान पर भूत की छाया का असर होता है। समय ज्यों ज्यों ज्यादा बीतता जाता है उस समय के राजकीय, साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदि किसी भी विषय की जानकारी कठिन होती जाती है। इसलिए प्राचीन इतिवृत्त की शोध के साथ साथ समकालीन चालू शती की प्रधान प्रवृत्तियों का इतिवृत्त भी संगृहीत व प्रकाशित कर देने की अत्यन्त आवश्यकता है। अन्यथा जिस प्रकार हम प्राचीनकाल की ज्ञातव्य बातों की जानकारी प्राप्त करने में आज कठिनता देख "उस समय के व्यक्तियों ने कुछ लिखा क्यों नहीं, जिस से कि यह असुविधा भोगनी नहीं पड़ती। अब जैसी चाहिए शोध करने पर भी आवश्यक जानकारी प्राप्त न होने से बड़ी झुंझलाहट का अनुभव कर उस समय के व्यक्तियों को उपालंभ देते वे कोसते हैं वैसे ही यदि हमने कुछ न किया तो भावी सन्तति हमें भी कोसे बिना नहीं रहेगी। वास्तव में समसामयिक ज्ञातव्य को संग्रह कर प्रकाशित करने का कार्य अभी तो बहुत सरल है। ज्यों ज्यों बात पुरानी होती जायगी, सही व विपुल सामग्री दुष्प्राप्य होती जायगी। इसी वास्तविकता पर दीर्घ-दर्शिता से विचार कर इस शती के युगोत्तम पुरुष महात्मा गांधी ने डायरियां लिखने की पद्धति को जन्म एवं प्रोत्साहन दिया था जिसके फलस्वरूप इस शती के राष्ट्रीय इतिहास के निर्माण में वे बहुत सहायक व बहुमूल्य सिद्ध होंगी। खेद है, कि जैन समाज में इस ओर विशेष ध्यान किसी ने नहीं दिया। मनुष्य स्वभाव है कि अभी उस की उतनी उपयोगिता अनुभव नहीं कर उपेक्षा कर देता है पर भविष्य के लिए ये साधन बड़े काम के हैं। मुद्रण प्रसार के इस युग में सामयिक पत्र पत्रिकाओं में बहुत सी घटनाओं का विवरण प्रकाशित होता रहता है पर आगे चलकर उनकी फाइलें मिलनी कठिन है एवं उनमें प्रकाशित सामग्री एकांगी होने से ज्यादा सहायक नहीं हो सकती। विगत कुछ वर्षों में इस शती के कुछ ऐसे जानकार व्यक्ति भी परलोक चल बसे, जिनसे सिंहावलोकन के

तौर भी इसी शती की प्रवृत्तियों का कुछ हाल लिखवा लिया जाता तो बड़े काम की चीज होती। पर अब तो "गई सो गई, अब राख रही को" के उक्त्यनुसार जो वृद्ध जानकार विद्यमान हैं व जिन्होंने सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक प्रवृत्तियों में सक्रिय भाग लिया या उनको तटस्थता से देखा व सोचा समझा है उनसे भी कुछ लाभ उठा लिया जाय तो भावी इतिहासकारों के लिए बड़ा महत्त्व का काम होगा। इस दीर्घदर्शिता का सुफल हमारी सन्तति को मिलेगा और इसके लिए वह हमारी चिर ऋणी रहेगी एवं उससे मार्गदर्शन व प्रेरणा प्राप्त करते हुए जीवन को आदर्श व धन्य बना सकेगी।

जैन समाज कई सम्प्रदाय, गच्छ, मत आदि में विभक्त होने से उसकी सर्वांगीणता का चित्र हम में से किसी के सामने सही रूप में नहीं है। हम संकुचित दायरे में ही सोचते, विचारते, शोध करते, कहते, लिखते रहते हैं और अपने ही अन्य पड़ोसी स्वधर्मियों के संबन्ध में हमारी जानकारी बहुत ही सीमित या थोड़ी होती है क्योंकि हम एक दूसरे से दिल खोलकर मिलते नहीं, विचार विनिमय करते नहीं, एक दूसरे की साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों में भाग लेते नहीं, मन्दिर व्याख्यान व उत्सव आदि में जाते आते नहीं; फलतः हमारी जानकारी विशाल जैनसंघ से सम्बन्धित हो भी कैसे ? इससे एक बड़ी कठिनाई यह होती है कि किसी सम्प्रदाय का व्यक्ति जो कुछ कहेगा या लिखेगा वह उस सम्प्रदाय की सीमा में तो फिर भी ठीक होगा पर दूसरे सम्प्रदाय संबंधी ज्ञातव्य के लिए इच्छा होने पर भी सामग्री जुटाने एवं अधिकार पूर्ण लिखने में सफलता मिलना बड़ा कठिन है। इस त्रुटि का परिमार्जन करने के लिए हमें पारस्परिक प्रेम व सहयोग बढ़ाते रहना अत्यावश्यक है। इतिहास निर्माण कार्य के लिए ही नहीं दूसरे भी हमारे सारे कार्य एक दूसरे के निकट सम्पर्क में अधिकाधिक आये बिना अधूरे ही रहेंगे अतः हम एक साथ बैठ कर विशाल दृष्टि से विचार कर सकें, ऐसे प्रसंग अधिकाधिक उपस्थित किये जाने चाहिए। केवल महावीर जयन्ती जैसे प्रसंग पर एक दो दिन ही वर्ष भर में सम्मिलित होकर प्रेम का दिखावा करने से काम नहीं चलेगा। इसे तो पहल मात्र समझनी चाहिए। इससे हमें बहुत आगे बढ़ना है अतः यहां पर सीमित न रह कर दिनों दिन हमारे पारस्परिक मिलन व विचार विनिमय के अवसर अधिकाधिक मिलते रहें, इस ओर प्रयत्नशील रहना है।

उपर्युक्त प्रासंगिक निवेदन के अनन्तर अब मैं लेख के मूल विषय पर आता हूं। गत पचीस वर्षों से मैं जैन साहित्य की शोध व अध्ययन कर रहा हूं और अपनी यत्किंचित् जानकारी को जैन समाज एवं विद्वानों के समक्ष रखने का प्रयत्न

करता रहा हूँ। जैन साहित्य के सम्बन्ध में समय समय पर अपने विचार समाज के समक्ष उपस्थित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। अतः प्रस्तुत लेख द्वारा बीसवीं शताब्दी की जैन साहित्य की प्रगति पर एक ग्रन्थ तैयार करवाकर प्रकाशित करने की ओर जैन समाज का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

श्वेताम्बर जैन प्राचीन साहित्य के इतिहास को प्रकाशित करने का भगीरथ प्रयत्न स्वर्गीय मोहनलाल दुलीचन्द देसाई ने किया है। उन्होंने संवत् १९८० तक की गुजराती जैन पद्य रचनाओं का विवरण जैन गुर्जर कवियों में एवं प्राकृत संस्कृत आदि साहित्य का परिचय "जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास" में दिया है। दिगम्बर साहित्य का इतिहास अभी तक किसी ने तैयार नहीं किया। अपभ्रंश और हिन्दी दिगम्बर जैन साहित्य का कुछ विवरण अवश्य प्रकाशित हुआ है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम बनारस की ओर से 'जैन साहित्य का इतिहास' हिन्दी में प्रकाशित करने की जो योजना चल रही है वह सफल होने से अवश्य ही एक अभाव की पूर्ति होगी।

देसाई के बाद श्वेताम्बर जैन साहित्य के इतिहास सम्बन्धी कार्य में प्रोफेसर हीरालाल रसिकलाल कापड़िया का प्रयत्न भी उल्लेखनीय है। खेद है कि उनके कार्यों का अभी यथोचित मूल्यांकन नहीं किया गया है। समाज के सहयोग के अभाव के कारण ही उनका "जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास" अभी तक अप्रकाशित अवस्था में पड़ा है, जिस के प्रकाशित होने की अभी अत्यावश्यकता है। जैन आगम साहित्य का संक्षिप्त परिचय आपके गुजराती व अंग्रेजी में प्रकाशित ग्रन्थों में आ चुका है। आपके "पाइअ भाषा अने साहित्य" नामक ग्रन्थ में प्राकृत भाषा के साहित्य की संक्षिप्त जानकारी मिलती है। "आत्मानन्द प्रकाश" के मासिक पत्र के हाल ही के श्रावण अंक में आपका "बीसवीं शती नी साहित्य प्रवृत्ति" शीर्षक लेख छपा है। उसके अनुसार आपने जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास तैयार किया है। वैसा ही जैन गुजराती साहित्य का इतिहास भी आप तैयार करना चाहते हैं। साथ ही बीसवीं शती की जैन साहित्य की प्रगति पर भी आप एक ग्रन्थ की तैयारी कर रहे हैं। इसलिए आपने इस लेख द्वारा जैन समाज के समस्त श्रमण एवं श्रावक संघ से अनुरोध किया है कि वे अपनी रचनाओं के नाम आदि का विवरण उन्हें भिजवा दें। एक-एक सम्प्रदाय के नेता—आचार्य आदि अपने समुदाय के मुनि मण्डलादि की साहित्य प्रवृत्ति से उन्हें अवगत कर दें तो उनके काम में बड़ी मदद मिलेगी। वास्तव में कापड़िया जी की यह भावना बहुत ही प्रशस्त एवं सराहनीय है। इस शुभ कार्य में सभी जैन सज्जनों को यथाशक्य

सहयोग देना चाहिए जिससे वे अपने मनोरथ को सफल बना सकें। जैन समाज में आज ऐसे शोधपूर्ण विषयोंपर काम करने वाले व्यक्ति इने गिने हैं। प्रयत्न करने पर भी विद्वान लोग इस कार्य के लिए तैयार नहीं होते। इस परिस्थिति में कापड़िया जी स्वयं कार्य करने के लिए तैयार हैं तो उन्हें पूरी तरह से सहयोग देना प्रत्येक जैन व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है।

बीसवीं शती की साहित्य प्रवृत्ति से वे किस-किस प्रकार की प्रवृत्तियों का निर्देश अपने ग्रन्थ में करना चाहते हैं इसका स्पष्टीकरण करते हुए आपने प्रस्तुत लेख में लिखा है कि जिन व्यक्तियों ने मौलिक साहित्य का निर्माण किया है या दूसरे के ग्रन्थों का अनुवाद किया हो, किसी ग्रन्थ की टीका टिप्पणी, छाया व भावानुवाद यावत् दूसरे के किसी ग्रन्थ के आधार से अपने को स्फुरित विचार प्रगट किये हों, ग्रन्थ का संक्षिप्त सार लिखा हो ऐसी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त जिन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का सुसम्पादन, संशोधन व प्रकाशन किया हो ऐसी सारी प्रवृत्तियों का भी उल्लेख वे अपने ग्रन्थ में करना चाहते हैं। साथ ही प्राचीन ग्रन्थों के संरक्षण व संग्रह आदि का प्रयत्न भी जो इस शती में हुआ उसका विवरण भी वे अपने ग्रन्थ में देंगे।

कापड़िया जी ने अभी तक ऐसे जो भी ग्रन्थ जैन साहित्य के इतिहास सम्बन्धी तैयार किये हैं उन को उन्हें स्वयं ही प्रकाशित करना पड़ा है। एक लेखक के लिए ग्रन्थ तैयार करने के साथ साथ उसके प्रकाशन का भार भी स्वयं उठाना पड़े यह बहुत भारी पड़ जाता है। उसकी लेखन प्रवृत्ति में बाधा पहुँचती है और यदि प्रकाशन व्यवस्था न हो सकी तो आगे के लिए ग्रन्थ निर्माण का उत्साह भंग हो जाता है। किसी तरह प्रकाशन की व्यवस्था कर भी लेता है तो उसमें उसका बहुत सा समय व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। यदि प्रकाशन की व्यवस्था में किसी संस्था या प्रकाशक का सहयोग मिल जाय तो लेखन का उत्साह द्विगुणित हो जाता है। कापड़ियाजी के स्वभाव आदि से मैं इतना परिचित नहीं पर समाज की ओर से उनको कुछ भी सहयोग नहीं मिल रहा है यह देखकर अवश्य ही मुझे खेद होता है। जहाँ तक मैंने विचार किया है सम्भव है कि उनकी लेखन शैली से लोक प्रभावित नहीं होते एवं वे अपने श्रम का पारिश्रमिक भी अधिक चाहते हैं, ऐसा भी सुना गया है। पर मेरे ख़याल से वे जोकुछ प्रयत्न कर रहे हैं वह इस तरह की उपेक्षा के योग्य तो नहीं हैं। उनका लेखन अन्तिम रूप से काम में आने लायक न होने पर भी प्राथमिक जानकारी के लिए उपयोगी है ही। उनका अध्ययन विशाल है अतः उनकी सूचनाओं से भी परवर्ती कार्यकर्त्ताओं को बड़ी मदद मिलेगी।

इसलिए मैं, वे जैन साहित्य के इतिहास सम्बन्धी जो भी ग्रन्थ लिखें उसमें सभीको सहयोग देने का अपनी ओर से अनुरोध करता हूँ।

प्रसंगवश मैं यहाँ दो अन्य बातों का भी उल्लेख कर देना चाहता हूँ। पहली बात तो यह है कि जैन दर्शन व साहित्य के सम्बन्ध में जैनेतर विद्वान जो भी लिख सकें, उन से अनुरोध कर सामग्री देकर अवश्य ही लिखाना चाहिए। हमारे दर्शन एवं साहित्य के सम्बन्ध में वे जो कुछ भी लिखेंगे उसका प्रभाव दूसरों पर हमारे लिखे ग्रन्थों से ज्यादा व अच्छा पड़ेगा। क्योंकि वे तुलनात्मक व तटस्थता से लिखेंगे। पर खेद है हमने अभी तक जैनेतर विद्वानों के सहयोग प्राप्त करने की ओर कम ही ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ हबड़ा हाईकोर्ट के वकील डाक्टर हरिसत्य भट्टाचार्य जैन दर्शन के गंभीर अभ्यासी हैं उन्होंने गहन अध्ययन करके जैन दार्शनिक तत्त्वों पर थीसिस लिखकर कलकत्ता विश्वविद्यालय से डाक्टरेट प्राप्त किया है पर खेद है कि उनका वह महानिबन्ध अभीतक प्रकाशित नहीं हो पाया। जिसके प्रकाशित होने से जैन दर्शन का महत्त्व अच्छे रूप में प्रकाश में आता। अतः जैन संस्कृति संशोधन मण्डल या भारतीय ज्ञानपीठ आदि से उसे प्रकाशित करने का अनुरोध करता हूँ।

दूसरी बात मुझे यह निवेदन करनी है कि जहाँ तक जैन साहित्य का विशाल इतिहास प्रकाशित न हो जाय फुटकर लेखों के रूप में जैनेतर पत्रों में जैन साहित्य सम्बन्धी लेख प्रकाशित होते रहें ऐसा कुछ प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए। आज सैकड़ों जैनेतर मासिक पत्रादि निकलते हैं पर उनमें जैन से सम्बन्धित किसी भी विषय पर कोई लेख प्रकाशित हुआ देखन में नहीं आता। यह स्थिति जैन समाज के लिए चिन्तनीय है। जो काम हम हजारों रुपये खर्च कर के भी नहीं कर सकते वह प्रचार कार्य ऐसे पत्रों में लेखों के प्रकाशन द्वारा सहज ही में हो सकता है। इस लिए प्रत्येक जैन शिक्षण संस्थाओं से अनुरोध है कि वहाँ उच्चकोटि का अभ्यास कर वे निकलने वाले स्नातकों से जैन सम्बन्धित विविध विषयों के लेख लिखवाकर उपयुक्त पत्रों में प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाय। हिन्दी में ऐसे लेखक कम मिलें तो गुजराती लेखों के अनुवाद करवाकर भी प्रकाशित किये जाने चाहिए। लेख उदार एवं विशाल दृष्टि से, सार्वजनिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से लिखे गये हों तो जैनेतर पत्रों में अवश्य ही खप सकते हैं।

अन्त में जैन संस्कृति संशोधन मण्डल को एक सुझाव देता हूँ कि स्वर्गीय मोहनलाल देसाई ने जैन साहित्य का विवरण अपने चार बड़े ग्रन्थों में प्रकाशित

[शेष पृष्ठ २९ पर देखें]

पितृहीन

डा० इन्द्र

उज्जयिनी के राजा जितशत्रु के पास एक सारथी था। राजा को अत्यन्त प्रिय होने के साथ साथ वह अपनी कला में बेजोड़ था। दूरदूर तक ख्याति फैली हुई थी। नाम था अमोघर। उस के यशोमती नाम की सौन्दर्य, स्नेह तथा अन्य गुणों से परिपूर्ण हृदयहारिणी पत्नी थी। दोनों की अभिलाषा लता के पुष्प के समान एक पुत्र था। उसका नाम था अगडदत्त। अभी वह बालक ही था कि पिता की छत्र छाया उठ गई।

यशोमती के हृदय तथा भाग्य दोनों पर वज्रप्रहार हुआ। वह अत्यन्त दुखी रहने लगी। आँखों से निरन्तर आँसुओं की धारा बहती रहती। किसी काम में मन नहीं लगता था। केवल बालक का मुख देख कर जी रही थी।

अगडदत्त कुछ कुछ समझने लगा था। माता का कष्ट उससे नहीं देखा गया। एक दिन पूछ बैठा—"माँ, तुम इतनी उदास क्यों रहती हो!"

माता नहीं चाहती थी कि पुत्र के सरल हृदय पर उसकी अन्तरपीड़ा का प्रभाव पड़े। वह सब कुछ स्वयं ही समेटे रहना चाहती थी। किन्तु बालक न माना। यशोमती के दुःख का स्रोत फूट पड़ा। उसने कहना प्रारम्भ किया—"बेटा, तुम जानते हो, तुम्हारे पिता के न रहने के कारण हमारा कोई सहारा नहीं रहा। मैं केवल तुम्हें देख देख कर जी रही हूँ। मुझे आशा लगी हुई है कि बड़े होकर तुम अपने पिता का पद सम्भाल लोगे और उन्हीं के समान राज्य तथा प्रजा में सम्मान प्राप्त कर लोगे। किन्तु अमोघप्रहारी नाम का सारथी तुम्हारे पिता के स्थान को छीनने का प्रयत्न कर रहा है। तुम अभी बालक हो। उस की बराबरी नहीं कर सकते। जब तक बड़े होओगे, वह सब जगह अपना प्रभाव जमा लेगा और तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। यह सोच कर मेरा हृदय अत्यन्त दुखी हो उठता है।"

"क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो मुझे पिता जी की विद्या सिखा दे?" बालक ने अधीर होकर पूछा।

"हाँ, कौशाम्बी के दृढ़प्रहारी नाम का सूत है। वह तुम्हारे पिता का परम मित्र है। तुम्हें बड़े प्रेम से सिखाएगा।" माता ने उत्तर दिया।

अगडदत्त कौशाम्बी पहुँचा और दृढप्रहारी से मिला। दृढप्रहारी धनुर्विद्या, खड्गविद्या तथा रथ संचालन सभी में निष्णात था। उसने अगडदत्त को सारी विद्याएँ अपने पुत्र के समान सिखाई और सिद्धहस्त कर दिया। गदा, चक्र तथा अन्य शस्त्रास्त्रों में भी वह निष्णात हो गया।

शस्त्र विद्या प्राप्त करने के पश्चात् वह एक दिन अपने गुरु की अनुमति लेकर राजदरबार में गया और अपनी विद्या का परिचय दिया। तलवार के हाथ, ढाल द्वारा बचाव तथा दूसरे दाव देख कर सभी दंग रह गए। राजा ने कहा--वास्तव में तुम्हारा शस्त्रकौशल अद्भुत है। उसने प्रसन्न होकर अगडदत्त से पूछा--बोलो, क्या चाहते हो ?

अगडदत्त ने कहा--"मैं आप की सेवा में रहना चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए।"

उसी समय नगरवासियों ने आकर राजा से पुकार की--पृथ्वीनाथ ! श्रीमान् के राज्य में कभी चोरी नहीं सुनी गई। किन्तु अब बहुमूल्य वस्तुओं के अपहरण एवं चोरी की घटनाएं प्रतिदिन हो रही हैं। श्रीमान से यही प्रार्थना है कि नगर रक्षा के लिए उचित व्यवस्था की जाय।

राजा ने प्रधान कोतवाल को आज्ञा दी-"सात दिन के अन्दर चोर को पकड़ कर मेरे सामने उपस्थित करो।"

अगड़दत्त ने मन में सोचा --"अपनी योग्यता दिखाने का यह अच्छा अवसर है।" उसने नम्रतापूर्वक राजा से निवेदन किया--"नरनाथ ! सात दिन के अन्दर मैं चोर को आपके चरणों में खड़ा कर दूंगा।" राजा ने उस की बात को स्वीकार कर लिया और अपना कार्य पूरा करने की आज्ञा दी।

अगड़दत्त ने प्रसन्न तथा उत्साहपूर्ण हृदय से विदा ली। वह मन में विचार करने लगा--"दुराचारी और चोर मदिरालय तथा ऐसे ही अन्य स्थानों पर जमा हुआ करते हैं और तरह तरह के वेश धारण करके घूमते हैं। इस लिए मुझे स्वयं तथा गुप्तचरों द्वारा ऐसे ही स्थान ढूँढने चाहिए।"

ऐसे स्थानों की अच्छी तरह छान बीन करने के बाद वह नगर से बाहर निकला। कुछ दूर जाकर आम के पेड़ की ठंडी छाया में बैठ गया। उसने एक भिखारी के समान फटे पुराने तथा मैले कपड़े पहिन रखे थे। मन चोर को पकड़ने की तरकीब पर विचार कर रहा था।

उसी समय वहाँ एक संन्यासी आया। हाथ में रुद्राक्षमाला थी जिसे

वह जल्दी जल्दी घुमा रहा था। मुंह से भी कुछ गुनगुना रहा था। उसने आम्र के कुछ पत्ते तथा डालियां तोड़ी और उन पर बैठ गया। उसके कन्धे अत्यन्त पुष्ट तथा टांगें लम्बी थीं। चेहरे से तपस्वी नहीं दिखाई देता था। उसे देख कर अगडदत्त के मन में सन्देह होने लगा। उसने सोचा--"यह कोई भला आदमी नहीं दिखाई देता। शरीर तथा चेहरे से क्रूरकर्मा दिखाई देता है। सम्भव है यही वह चोर हो।"

संन्यासी ने उस से कहा--"बेटा! कहाँ के रहने वाले हो। यहाँ आना कैसे हुआ?"

"भगवन्! उज्जयिनी का रहने वाला हूँ। सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई। निराधार होकर पड़ा हूँ।" अगडदत्त ने उत्तर दिया।

"मैं तुम को बहुमूल्य सम्पत्ति दूंगा।" संन्यासी ने कहा।

"आप की बड़ी कृपा है, भगवन्!" अगडदत्त ने आभार माना।

धीरे धीरे सूर्य अस्त हो गया। गोधूलि का समय भी बीत गया और सर्वत्र अन्धकार छा गया।

संन्यासी ने अपने स्थूल दण्ड में से तलवार निकाली और कमर को अच्छी तरह बांध लिया। फिर खड़े होकर उसने कहा--"आओ! अपने नगर में चलें।"

अगडदत्त सन्देहभरी दृष्टि से उसके पीछे हो लिया। उसके मन में विश्वास जम गया कि यही वह चोर है।

दोनों ने नगर में प्रवेश किया। कुछ दूर चलने पर वे एक ऊँचे महल के सामने जाकर खड़े हो गए। उस की सुन्दरता दर्शनीय थी। चारों ओर से परिपूर्ण वैभव का परिचय देता था। संन्यासी ने उस की दीवार में श्रीवत्स के आकार की सेंध लगाई और अन्दर घुस गया। कुछ ही देर में बहुमूल्य वस्तुओं से भरी हुई पेटियाँ लेकर बाहर आया और अगडदत्त को बैठाकर चला गया। अगडदत्त ने सोचा--"मुझे तह तक सारी बातों का पता लगाना चाहिए।" थोड़ी देर में वह संन्यासी एक यक्षमन्दिर से निकला। उसके साथ कई गरीब आदमी थे। संन्यासी ने उन्हें पेटियाँ उठाकर शीघ्र नगर से बाहर होने की आज्ञा दी।

कुछ देर बाद वे सब एक सूने उद्यान में पहुँचे। संन्यासी ने अगडदत्त से कहा--"बेटा! हम लोग थक गए हैं। आओ थोड़ा सा आराम कर लें और नींद ले लें। थोड़ी देर में रात बीत जाएगी, फिर घर चलेंगे।"

अगडदत्त ने स्वीकार कर लिया। आदमियों ने पेटियाँ नीचे रख दीं और गहरी नींद में सो गए। संन्यासी और अगडदत्त ने भी पास पास पत्तों के ऊपर शय्या कर ली और नींद का बहाना करके पड़ गए। कुछ ही क्षणों में अगडदत्त धीरे से उठा और सरक कर एक वृक्ष की शाखाओं में छिप गया। जब संन्यासी को लगा कि सभी आदमी गहरी नींद में सो गए हैं तो वह उठा और एक एक करके सभी की गरदन काट ली। उसके मन में किसी प्रकार संकोच नहीं हुआ।

अन्त में वह अगडदत्त की शय्या के पास पहुँचा। उसे वहाँ न पा कर इधर उधर ढूंढता ढूंढता जब वह उस शाखा के नीचे आया जिस पर अगडदत्त छिपा हुआ बैठा था तो अगडदत्त ने उसके कंधे पर जोर से तलवार का प्रहार किया। चोर घायल होकर वहीं गिर पड़ा। गिरते ही उसे मूर्च्छा आ गई। जब होश में आया तो उसने अगडदत्त से कहा--"बेटा। यह खड्ग लेकर तुम उसी श्मशान में लौट जाओ। वहाँ सन्तिञ्जा के मन्दिर की दीवार पर आवाज करना। उस के तहखाने में मेरी बहिन रहती है। उसे यह खड्ग दिखा देना। वह तुम्हारी पत्नी बन जाएगी। तुम वहाँ इकठ्ठी की हुई सारी सम्पत्ति के स्वामी हो जाओगे। मुझे गहरी चोट लगी है और जीवन का अन्त आ गया है।" यह कह कर उसने अन्तिम सांस ले ली।

अगडदत्त खड्ग लेकर श्मशान की ओर चल पड़ा। मन्दिर में चोर की बहिन से मिला। ऐसा प्रतीत होता था जैसे वही मन्दिर की देवी हो। उसने अगडदत्त से पूछा--"तुम कहाँ से आ रहे हो?"

अगडदत्त ने खड्ग दिखा दिया। चोर की बहिन के मुख पर शोक छा गया। हृदय दुःख से भर आया। किन्तु उसने अपनी वेदना को छिपा लिया और बदला लेने की भावना से अगडदत्त को मन्दिर में ले गई। बैठने के लिए आसन दिया। अगडदत्त उस की चेष्टाओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखता रहा। चोर की बहिन ने बड़ी सावधानी से शय्या बिछाई और अगडदत्त से कहा--"आप यहाँ विश्राम कीजिए।

किन्तु वह उस पर सोया नहीं। एक खम्भे के पीछे छिप कर खड़ा हो गया। शय्या के ऊपर ही छत में एक पत्थर पहले से तैयार रखा हुआ था। चोर की बहिन ने ऊपर जाकर उसे धकेल दिया। पत्थर के गिरते ही धमाका हुआ और चारपाई टूट कर नीचे कुए में जा गिरी। चोर की बहिन खुश होती हुई बोली--"अपने भाई के हत्यारे को मैंने समाप्त कर दिया।"

अगडदत्त दौड़ कर सीधा ऊपर पहुँचा और उस के बाल पकड़ कर कहने लगा—देख, मैं तो यह खड़ा हूँ। अगडदत्त को कौन मार सकता है ?

चोर की बहिन थर थर काँपने लगी और अगडदत्त के पैरों में गिर कर क्षमा मांगने लगी। बोली—"मैं आप की शरण में हूँ।"

अगडदत्त ने उसे अभयदान दिया और ले जाकर राजा के सामने उपस्थित कर दिया।

नगर में चोरी बन्द हो गई। राजा तथा प्रजाजनों ने मिलकर अगडदत्त का सत्कार किया और उसे ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया।

———

[पृष्ठ २४ से आगे]

किया है उसका संक्षिप्त रूप भी उन्होंने सम्वत् १९८५ में बम्बई से प्रकाशित "गुजराती साहित्य" खंड ५वाँ के पृष्ठ ६६ से १५८ में प्रकाशित किया है। उसका हिन्दी अनुवाद करवा के प्रकाशित कर दें तो भावी जैन साहित्य के इतिहास निर्माण में उससे कुछ मदद मिलेगी। उपर्युक्त "गुजराती साहित्य" खंड ५ जिसका अपरनाम 'मध्य कालनो साहित्य प्रवाह' भी है यह ग्रन्थ 'दी साहित्य प्रकाशक कम्पनी लिमिटेड' नं० ५३ मेडोझ स्ट्रीट, कोट, बम्बई से चार रुपया में मिलता है। इसके सोल एजेन्ट एम. सी. कोठारी रावपुरा रोड, बड़ौदा वाले हैं। इस ग्रन्थ में प्रकाशित देसाई के निबन्ध का शीर्षक "जैनों अने तेमनुं साहित्य" है। साथ ही प्रो० हीरालाल कापड़िया के जो जैन साहित्य के इतिहास रूप अप्रकाशित हैं, उनकी पाण्डुलिपियां मंगाके देखी जायँ। यदि वे उपयुक्त जान पड़ें तो उनका हिन्दी अनुवाद करवा के प्रकाशित किया जा सकता है। एक दो ग्रन्थ तो उन्होंने अंग्रेजी में भी लिख रखे हैं। उनके जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास का प्रकाशन हो जाय तो विद्याश्रम के योजना के ग्रन्थों को तैयार करने में बड़ीमदद मिलेगी अर्थात् उनका हर प्रकार का सहयोग प्राप्त किया जाय जिस से विचारी हुई योजना शीघ्र सफल हो सके। प्रो० हीरालाल कापडिया का पता—सांवूडी शेरी सूरत है।

नारी का महत्व

ले० मुनि श्री आईदान जी म०

भारतीय इतिहास में समय समय पर बड़े बड़े परिवर्तन हुए हैं। अतीत की लम्बाई में न जाकर पिछले छः वर्ष के भारतीय इतिहास का ही अवलोकन किया जाय तो ज्ञात होगा कि आजादी के बाद भारत में प्रत्येक पदार्थ के रूप एवं मूल्य में कितना परिवर्तन आ चुका है राजनीतिक परतंत्रता का जूआ उसने एक दम उतार कर फेंक दिया है। अपनी आन्तरिक और वैदेशिक नीति में वह पूर्णरूपेण स्वतंत्र है। सामन्तशाही प्रथा को दफनाया जा चुका है। जमींदारी और जागीरदारी प्रथा भी मृत्युशय्या पर पड़ी हुई अन्तिम श्वास ले रही हैं। मध्यम वर्ग एवं शोषित नर कंकालों के आर्थिक और नैतिक जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिए नई नई योजनाएँ तैयार की जा रही हैं। परन्तु नारी का जीवन अभी तक उसी बिन्दु पर खड़ा खड़ा कराह रहा है। सब पदार्थों के मूल्य में परिवर्तन आया है, उनका अपना अपना अस्तित्व चमका है, परन्तु नारी के मूल्य में अभी तक कोई नया परिवर्तन आया हो, उसका अपना अस्तित्व चमक उठा हो—ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। हमारे नये विधान में नारी और पुरुष के समान अधिकार की बात अवश्य मिलती है और हमारे माननीय प्रधान मंत्री पं० नेहरू ने हिन्दू-कोडबिल को विधान सभा में रखकर नारी के महत्व को चमकाने का सक्रिय प्रचार भी किया है। किन्तु वह विधान के अक्षरों एवं योजना तक ही सीमित है।

योजना की फाइलों में बन्द शब्दों का जीवन के क्षेत्र में कोई मूल्य नहीं है, उस योजना का वास्तविक मूल्य तो जीवन के यथार्थ क्षेत्र अथवा क्रियात्मक रूप में आने पर ही चमक सकता है। मुझे सन्देह है कि विधान के शब्दों की गति भी भारतीय ऋषि महर्षियों के सूत्रों एवं आगमों और श्लोकों की तरह न हो, जो कि सिर्फ लम्बे लम्बे भाषणों एवं निबन्धों के समय ही प्रयोग में लाये जाते रहें। आगम के पन्नों को पलट कर देखिये वहां नारी का आदर्श जीवन स्वर्णाक्षरों में चमकता हुआ मिलेगा। यों तो नारी के लिए अर्द्धांगिनी, धर्मपत्नी, धर्मसहायिका, जीवनसंगिनी, महाभागा, पुजारी, गृहदीपिकाः, रत्नकुक्षिधारिणी, लक्ष्मी, देवी आदि विशेषण और "यत्र नार्यस्तुपूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता": जैसे महान् सूत्र एवं विशिष्ठ

शब्दावली भारतीय सन्तों की नारी के प्रति अगाध श्रद्धा की प्रतीक है। परन्तु मैं नारी के महत्व को सिर्फ विधान एवं आगम के पन्नों में बन्द शब्दों से नहीं आंकना चाहता, मुझे तो यहां यह बताना है प्रारम्भ से ही नारी का यथार्थ जीवन में क्या महत्व रहा है।

जब हम नारी के यथार्थ जीवन का अध्ययन करते हैं तो सतयुग की सीता से लेकर वर्तमान की राजदुलारी एवं साधारण नारी का महत्व समान सा रहा है। जब से प्राणी जगत ने विश्व की स्वच्छन्द वायु में श्वास लिया तब से लेकर आज तक नारी का कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं रहा है। नारी का भी कोई अपना अलग अस्तित्व है; इस विषय पर पुरुष ने कभी सोचने एवं समझने का जरा भी प्रयास नहीं किया। पुरुष ने हमेशा यही देखकर नारी के मूल्य को स्वीकार किया कि वह कितनी रूपसी है, कैसी सौन्दर्य की प्रतिमा है, कैसी नवयौवना है, कितनी सहन-शील है और मेरी इच्छाओं, आकांक्षाओं, कामनाओं एवं वासनाओं की कहाँ तक पूर्ति कर सकती है। यदि नारी कहीं भी पुरुष की लालसा एवं प्रवृत्ति में बाधक हुई कि वह फटे पुराने जूते एवं नाक के मैल की तरह फेंक दी जाती है। नारी का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उसका आदर्श, उसका सन्मान, उसका महत्व, उसकी मान-मर्यादा, उसकी इज्जत एवं उसकी प्रतिष्ठा--यदि एक शब्द में कहें तो नारी के जीवन का समस्त अस्तित्व पुरुष रूपी पुतले के ऊपर आधारित है, वह चाहे जिधर उसको घुमा-फिरा सकता है। इतिहास का एक एक पन्ना खोलकर, स्मृति, वेद, पुराण एवं आगमों के एक एक सूत्र, श्लोक और मंत्र का उच्चारण करके यह प्रमाणित किया जा सकता है कि महापुरुष के नाम से ख्याति प्राप्त पुरुषों ने भी नारी के अस्तित्व को कोई विशेष महत्व नहीं दिया है। अपने स्वार्थ के लिए उसके जीवन को कुचलते हुए थोड़ा भी विचार नहीं किया गया। क्या मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने अपनी सतीसाध्वी आदर्श चरित्रा सीता को घर से नहीं निकाल दिया था, सिर्फ अपनी यशचन्द्रिका को विश्व में अक्षुण्ण रखने और जनता की दृष्टि में ; नहीं, नहीं ; एक दो व्यक्ति विशेष की [illegible] में अपने आपको दूध सा उज्ज्वल सिद्ध करने के लिए ? क्या धर्मराज के पद से विभूषित, सत्यनिष्ठ युधिष्ठिर ने महासती द्रौपदी को जुए के दाव पर नहीं लगाया था, दुर्व्यसन मात्र की पूर्ति के लिए ! क्या कृष्ण जैसे महान् योगिराज और नीतिज्ञ कहे जाने वाले त्रिखण्डाधिपति--जिनकी ७२ सहस्र रानियाँ मानी जाती हैं--नारद के द्वारा रुक्मणी का महान् सौन्दर्यमय आकर्षक चित्रपट देखते ही विचलित नहीं हो उठे थे, उसके अनुपम रूप ने उन्हें चकाचौंध एवं मोहान्ध नहीं बना दिया

था, कि उन्होंने रुक्मणी के साथ विवाह करके सत्यभामा को दिये हुए पटरानी पद पर उसे प्रतिष्ठित करने का संकल्प किया; सिर्फ उस मादक रूप, सौन्दर्य एवं यौवन का उपभोग करने के लिए ? एक दो नहीं सहस्रों क्षत्रिय रमणियों का जीवन हमारे सामने है जिन्हें उनकी बगैर इच्छा के उन्हीं के भाई और पिता कहे जानेवाले नर पिशाच स्वयं डोलों में बैठाकर मुगल सम्राटों की भेंट चढ़ा आये, केवल मान-प्रतिष्ठा, ओहदों, राज्य एवं कीर्ति को बनाए रखने के लिए ? यह तो हम आगमों एवं इतिहास के पन्नों में पढ़ते एवं सुनते आये हैं कि बड़े बड़े प्रतिष्ठित गिने जानेवाले सम्राटों एवं नरेशों की प्रतिष्ठा एवं महत्ता इसी में समझी गई की उनकी ५०० सौ एवं हजार २ व लाखों रानियाँ थीं। भारतीय कथाएं इससे भरी पड़ी हैं।

परन्तु मानव जीवन के पारखी भगवान् महावीर ने नारी के जीवन को बहुत चमकाया,उसे अपने संघ में पुरुष के बराबर अधिकार दिया, जिसका आभास आज भी धुंधले रूप में दिखाई पड़ता है परन्तु आगमकाल की नारी के जीवन का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि महावीर के युग में, जीवन के क्षेत्र में—समष्टि गत रूप में——नारी का कोई विशेष महत्व नहीं रहा। इतिहास बता रहा है कि नारी विक्रय उस युग में खुले रूप में होता था, चन्दना जैसी महान् सती नारियाँ बाजार में नीलाम की गई थीं। उस समय भी राजा महाराजा एवं सेठ साहूकार दस-दस, बीस-बीस कहीं-कहीं पांच-पाँच सौ कन्याओं के साथ विवाह करते थे। और तो दूर रहा संयम मार्ग में गतिशील नारी भी——जो मोक्ष मार्ग की समान अधिकारिणी मानीगई है—पुरुष से हेय ही समझी जाती रही है। चाहे साधु एक क्षण का भी दीक्षित क्यों न हो——जिसे अभी तक साधना एवं संयम शब्द का भी पूरा परिचय नहीं है——सौ वर्ष की साधना वाली साध्वी (नारी) का पूजनीय है, वन्दनीय है। साधना की दृष्टि से साध्वी का जीवन कितना भी महान् क्यों न हो, व्यवहार दृष्टि में पुरुष शरीरधारी नव-दीक्षित से भी वह निकृष्ट ही है; वह उसका गुरु है, आज्ञा प्रदाता है, मार्ग दर्शक है; क्योंकि पुरुष है न ? साधना के विशिष्ट विशुद्ध मार्ग में भी यह भेद की, मिथ्याभिमान की दीवार ज्यों की त्यों खड़ी है। और भी देखिए महावीर के समवशरण में तमाम प्राणी जगत का चाहे वह पशु-पक्षी हो व मानव, समान रूप से बैठकर वाणी सुनने का अधिकार है परन्तु आश्चर्य है कि नारी के लिए——चाहे वह साध्वी हो या श्राविका——बैठने के लिए स्थान नहीं है। वह इतनी हेय है कि बेचारी बैठकर वीतरागों के उपदेश भी नहीं सुन सकती। इस से बड़ा भारी नारी का और क्या अपमान होगा ?

हो सकता है कि महावीर के अनुयायी आचार्यों ने सामन्तशाही के प्रभाव में आकर नारी के उस महत्वपूर्ण आदर्श जीवन पर पर्दा डाल दिया हो, परन्तु जैन समाज को एवं उसके संचालक आचार्यों को ध्यान देना चाहिए कि--क्या यह महावीर के क्रान्तिकारी आदर्श एवं उज्ज्वल जीवन पर कलंक नहीं है, जिसने नारी जाति के विकास के लिए खुला विद्रोह किया था? क्या मैं जैन समाज से यह आशा करूं, वह इस प्रश्न पर सोचने एवं समझने का कष्ट करके, उस महान् क्रान्तिकारी वीर के पथ पर कदम बढ़ाएगी।

नारी की उपरोक्त स्थिति के कारण वर्तमान युग में जो परिणाम आये, जिनके फलस्वरूप जगत में त्राहि त्राहि मची हुई है--अनमेल विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहुपत्नी प्रथा, वेश्यावृत्ति, स्त्री जाति का तस्कर व्यापार, दहेज एवं टीके की घृणित प्रथा आदि अनेक सामाजिक कुप्रथाएँ अपना विकराल मुंह फाड़े खड़ी हैं। शिक्षा एवं आर्थिक स्तर का विकास भी इसे रोकने में प्रायः असफल ही रहा है। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि शिक्षित एवं पूंजीवादी वर्ग ने इसे और भयंकर रूप दिया है, उन कुरूढ़ियों में और चार चाँद लगाये हैं। साधारण शिक्षित एवं सामान्य आर्थिक स्थितिवाले लड़के की अपेक्षा एक पूंजीपति, ग्रेजुएट और उससे भी ज्यादा बड़े अधिकारी, डॉक्टर, इंजीनियर अथवा यूरोप-प्रवासी युवक का विवाह के बाजार में अधिक मूल्य लगता है और जितनी परेशानी एक साधारण पढ़ी-लिखी सामान्य स्थितिवाली कन्या के पिता को उठानी पड़ती है, उससे कहीं शत गुनी अधिक शिक्षित, अध्ययनशीला, आर्थिक जगत में उन्नतशील कहे जाने वाले कन्या के पिता को उठानी पड़ती है। जहाँ वह समान स्थिति वाले शिक्षित एवं पूंजीपति युवक की तलाश में, शोध में भटकता है, वहाँ हजारों के दहेज की मांग उसके समाने आती है। इसी कारण दोनों ओर फांसने का नाटक खेला जाता है, लड़के का पिता चाहता है कि कोई अच्छा मोटा ताजा शिकार फँसे और कन्या का पिता चाहता है कि कम से कम देकर बच निकलूं। दोनों ओर सिर्फ अर्थ खींचने का ही लक्ष्य रहता है, प्रकृति-गुण की तरफ एवं पात्र कुपात्र की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इन दोनों पाटों के बीच में पिसती है... बचारी नारी, जो मूक है, लज्जा के मारे अपने अधिकार को माँग नहीं सकती।

आज का युवक इन प्रथाओं का नाश करना चाहता है, असेम्बली में भी इन प्रथाओं के विषय में विधान बनाने के लिए बिल रखे जा रहे हैं परन्तु सीधी सी समझने की बात यह है कि जब तक रोग के मूलभूत कारण को नहीं समझ लेंगे तब तक उसका सही इलाज हो नहीं सकेगा। मर्फिये का इंजेकशन रोगी को

चार घंटे के लिए भले ही विश्राम दे सकता है, पर वह बीमारी का वास्तविक इलाज नहीं है, वास्तविक इलाज तो मूल कारण को समझने के पश्चात् ही किया जा सकता है। इसी तरह सामाजिक कुरीतियों के लिए विधान, नारे एवं भाषण ही सही इलाज नहीं हैं, सही इलाज मूल कारणों को खोजकर उनका विनाश कर देना है। जिनके कराण इन कुप्रथाओं का विकास हो पाया है।

यह तो मैं ऊपर लिख चुका हूं कि समाज में स्त्री का अपना कोई अस्तित्व नहीं हैं। जब तक पति देवता की दृष्टि शीतल, भ्रूभंगिमा टेढ़ी नहीं है, तब तक सारे वैभव उसके चरणों में लोटते है, पर पति की दृष्टि में जरासा टेढ़ापन आते ही, उसका मूल्य मिट्टी के ढेले जितना भी नहीं रह जाता है, फिर घर में उसका कोई अस्तित्व नहीं है, उसे अपना कहने वाला कोई नहीं रहता। क्योंकि नारी का जीवन संघर्ष से दूर रहा है, वह घर की शोभा, सजावट एवं श्री बनकर रही है पर स्रष्टा एवं उत्पादक नहीं बन सकी। पुरुष स्रष्टा है, उत्पादक है, जबतक घर की शोभा एवं सजावट उसे उपयुक्त प्रतीत होती है तब तक उसे यथास्थान रखता है, अन्यथा उसका टूटे फूटे मिट्टी के खिलौने से कोई अधिक मूल्य नहीं है। नारी का अपूर्व रूप-लावण्य, यौवन एवं प्रजनन क्षमता ही उसकी अपनी कही जानेवाली एकमात्र निधि है, जिसके बल पर ही समाज एवं परिवार में उसका अस्तित्व है, पर यह समस्त पदार्थ अस्थिर हैं, अस्थायी हैं, इसीलिये नारी का अस्तित्व भी अस्थायी एवं अस्थिर है। समाज के मानस में यह बात इतनी गहरी घर कर गई है कि चहुँ ओर इसकी प्रतिछाया दिखाई पड़ती है। माता-पिता पुत्र को ऊंची से ऊंची शिक्षा देकर डॉक्टर, इंजीनियर, वकील एवं व्यवसायी बनाते हैं परन्तु उनकी कन्याएँ जो परिवार, समाज एवं राष्ट्र की महान् निधि है— शृंगार करने एवं ललित कलाओं में उलझी रहती हैं, वे कभी भी संघर्ष और सर्जन के लिए तैयार ही नहीं की जातीं। हमने कन्या को सिर्फ उपभोग की सामग्री और विलासिता एवं आमोद-प्रमोद का ही साधन मात्र समझ रखा है।

दूसरी चीज है वर्तमान विवाह पद्धति जो नारी के जीवन को अवरुद्ध किए हुए है। हमने नारी का उद्देश्य विवाह ही समझ रखा है, कन्या पूरी तरह युवा हो ही नहीं पाती है कि मां-बाप किसी पुरुष नामधारी खूंटे से बांध कर मुक्ति पाना चाहते हैं। अविवाहित युवती समाज की आंखों में कांटे की तरह चुभती रहती है जब कि पुरुष के लिए कोई बात नहीं। इस तरह वर्तमान विवाह पद्धति नारी के लिए अनिवार्य और पुरुष के लिए सिर्फ विलास रह गई है। इन्हीं

कारणों से पुरुष का महत्व है। नारी चाहे कैसी भी सुन्दर, सुशील, चतुर, कलाओं में निपुण एवं पूरी तरह योग्य क्यों न हो उसके लिए पुरुष देहधारी उपयुक्त है, चाहे वह अपंग हो व वृद्ध, अविद्या एवं दुर्व्यसनोंका शिकार भी क्यों न हो? अथवा बड़ी भारी रकम देकर शिक्षित एवं पूँजीपति वर खरीदना पड़ता है। दुर्गुणों का भंडार तो वहाँ भी अखूट है। फिर भी कन्या के लिए वह ईश्वर के तुल्य आराध्य देव है, जीवन का सर्वस्व धन है। उसे चूं चपड़ करने का कोई अधिकार नहीं है, यदि वह जरा भी जबान को खोलती है तो कुलटा, कलंकिनी, दुश्चरित्र आदि उपेक्षित शब्दों से तिरस्कार पाती है, मूक पशुवत उसके इशारों एवं आदेशों पर चलना ही उसका परम धर्म माना गया है।

आर्थिक परतंत्रता, वैवाहिक मर्यादा, दहेज प्रथा, बाह्य आडम्बर, धार्मिक विधि विधान के साथ साथ जातिवाद का बन्धन भी उसके मूल्य को घटाने में उसकी राह में रोड़ा बना हुआ है। जब जाति विशेष के गिनती के लड़कों में हो वर की खरीद के लिए कन्याओं के अभिभावकों में परस्पर स्पर्धा होने लगती है, तो ऐसी स्थिति में पुत्र का मूल्य स्वतः ही बढ़ जाता है। यदि अन्तर-जातीय विवाह का प्रतिबन्ध न हो, जातीयता की संकीर्ण दीवार तोड़ दी जाय तो मैं समझता हूं कि नारी का अपना मूल्य भी चमक सकता है, फिर उसके विवाह के लिए इतनी अधिक परेशानी नहीं रह जाती है।

कन्या के अधिकार का हरण भी उसके विकास में बड़ा भारी बाधक है परन्तु आज कन्या पर बेजा दबाव डाला जाता है। माता-पिता व उसके अभिभावक ही उसके जीवन निर्णायक हैं, कन्या को कोई अधिकार नहीं कि वह अपनी रूप-रेखा बना सके।

इस तरह नारी की आर्थिक परतंत्रता, वैवाहिक मर्यादा, जातीयता एवं अधिकारों का अपहरण—चारों बातें वर्तमान नारी के महत्व को नगण्य बनाये हुए हैं। इन सब में आर्थिक परतंत्रता ही सबसे बाधक है, उसके अभाव में ही सभी कुप्रथाएं बढ़ रही है। आर्थिक दृष्टि से नारी पुरुष की दया पर जीवित है, जब तक यह स्थिति रहेगी तब तक उसका महत्व चमक नहीं सकता।

युग युग से शोषित पीड़ित एवं परतंत्रता की बेड़ी में जकड़ी हुई नारी को कुरूढ़ियों के चंगुल से मुक्ति पानी है, तो आज उसे जीवन का आमल चूल से परिवर्तन करना होगा। शताब्दियों से चले आ रहे प्रवाह को बदलना होगा। आर्थिक

परतंत्रता की बेड़ी को खोलकर उसे श्रम के मंच पर आना होगा। जब मणिपुर प्रदेश की नारीवत्—खेत-खलिहानों में, कल-कारखानों में, बाजार एवं अन्य व्यवसायिक क्षेत्रों में, सभा सोसायटियों एवं धार्मिकस्थानों में वर्तमान नारी पुरुष के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर जा खड़ी होगी, उसके आर्थिक अस्तित्व को चुनौती देगी, अपनी उपार्जन शक्ति का विकास करके स्वतंत्र रूप से विचरण करेगी, साधना के क्षेत्रों में भी रहने वाली नारी जब अपने नियमोपनियम को बनाने का अधिकार अपने हाथ में ले लेगी, अपना मंत्रिमंडल बनाकर अपने एवं नारी जाति के विकास के प्रति सोचेगी तब निश्चय ही उसका सामाजिक, पारिवारिक एवं राष्ट्रीय महत्व चमक उठेगा। फिर उसे पुरुष की दासी बनकर नहीं रहना पड़ेगा और न उसके लिए विवाह की अनिवार्यता ही रह जायगी और शनैः—शनैः वर्तमान रूढ़ियाँ भी नेस्तनाबूद हो जायँगी। तब नारी को विवश हो कर एक मूक पशु की तरह अपंग, मूढ़, गँवार, एवं वृद्ध पुरुष को अपनी बलि चढ़ाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। और न माता-पिता को उसके लिए वर ढूँढ़ने को परेशान होना पड़ेगा। फिर उसका भी अपना स्वतंत्र मूल्य होगा।

यह कार्य केवल विधानों, व्याख्यानों एवं बातों से बनने वाला नहीं है। इसके लिए नारी के जीवन में क्रान्ति की आग जगानी पड़ेगी। उन्हें स्वतंत्रता के अस्तित्व को बताना होगा। अस्तु, आज युवकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि नारी के जीवन में आर्थिक आजादी की चेतना भरें, उसे श्रम की ओर प्रेरित करें, घर की शोभा बनाकर पर्दे में ही बन्द न रखकर जीवन संघर्ष में साथ रखें और माता-पिता को चाहिए कि लड़कों की तरह लड़की को भी स्वतंत्र जीवन यापन की शिक्षा देना प्रारम्भ करें, जातीयता की संकीर्ण दीवार तोड़कर उसके जीवन क्षेत्र को विराट बनाएँ और उसे जीवन साथी चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता दी जाय। सरकार को भी इस कार्य में पूरा सहयोग देना चाहिए और धर्म गुरुओं का तो कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने उपदेशों द्वारा नारी के महत्व, उसके स्वतंत्र अस्तित्व और अपने जीवन विकास के लिए पैरों पर खड़े होने की प्रेरणा देते रहें, तो नारी का जीवन धीरे धीरे प्रगति के पथ पर बढ़ता ही जायगा। तब फिर सरकार को इस विषय में विधान एवं कानून बनाने की कोई आवश्यकता न रहेगी और न "हिन्दू कोडबिल" ही आ पाएगा। मूलभूत कारणों के नष्ट होते ही नारी का जीवन स्वतः बदल जायगा और वर्तमान समाज में प्रसारित कुरीतियाँ अपने आप नष्ट भ्रष्ट हो जायँगी।

विश्व शान्ति का आधार गांधीवाद

—श्री नरेन्द्र कुमार जैन

आज विश्व के नभोमंडल में अशांति के मेघ छा रहे है। विगत दो विश्व युद्धों की विभीषिका से त्रस्त मानव शान्ति का इच्छुक है। परमाणुबम एवं उदजन गैस सरीखे भयंकर सृष्टि संहारक अस्त्रों का स्मरण करते ही हृदय थर थर कांपने लगता है, शरीर का रोम रोम खड़ा हो जाता है। ध्वस्त नागासाकी और हिरोशिमा आज भी परमाणु बम के विनाश की करुण कहानी सुना रहे हैं। विश्व शान्ति की स्थापना की डींग हाकने वाले अमेरिका और रूस भी युद्ध के कारणों से पृथक न होकर उसमें लिप्त हो रहे हैं। दिनोंदिन भयंकर से भयंकर विध्वंसक पदार्थों का सर्जन हो रहा है। मानव के हृदय में अहिंसा के स्थान पर हिंसा, प्रेम के स्थान पर विद्वेष, समता के स्थान पर वैमनस्य ने पूर्ण अधिकार कर लिया है। यही नहीं, एक राष्ट्र जनता के अमूल्य धन को दूसरे राष्ट्र को विध्वंस करने के लिए पानी की तरह बहा रहा है। प्रत्येक राष्ट्र सर्प को नेवला की भांति अपनी साम्राज्य लोलुपी जिह्वा से साधनहीन राष्ट्रों को निगलना चाहते हैं। अवश्य ही गांधीवाद का प्रबल पवन प्रवाह अशान्ति के काले मेघों को विश्व रूपी गगन के अंचल से छिन्न-भिन्न कर अंधकाराच्छन्न विश्व को विमल प्रकाश दे सकता है। गांधीवादी सत्य, अहिंसा की पावनधारा मानव के [illegible] हृदय कुंज का सिंचन कर उसे हरा भरा कर फलने फूलने योग्य बना सकती है।

गांधी जी ने अपनी पैनी दृष्टि से समाज का अन्तःकरण टटोला था। [illegible] शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते थे कि समाज की अनपेक्षित बुराइयों [illegible] करने के लिए कौन सा पथ योग्य होगा। जिस अहिंसा और सत्य को भगवान-महावीर ने सामाजिक क्षेत्र दिया, महात्मा बुद्ध ने साधु जीवन का [illegible] बनाया वही अहिंसा और सत्य बापू के अन्तर में प्रतिष्ठित होकर राजनैतिक क्षेत्र में अवतरित हुई। फलतः अहिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा उपलब्ध भारत की उज्ज्वल स्वतंत्रता विश्व इतिहास के पृष्ठों पर चमकते शब्दों में अंकित रहेगी। निःसन्देह मानव जीवन में सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा विश्व मैत्री का अचूक

उपाय है इसीलिए गांधीवादी राष्ट्र राष्ट्र, समाज समाज, जाति जाति, वर्ण वर्ण के बीच पड़ी हुई विषमता की खाई को पाटने में सेतु का काम करेगा।

एक विचारक ने गांधीवादी की परिभाषा निम्न शब्दों में की है—"गांधीवाद का साधारण अर्थ व्यक्ति तथा समाज के हित का वह दर्शन एवं विज्ञान है जिसके प्रधान पुरस्कर्ता एवं प्रयोगकर्ता गांधी जी हैं।" इस परिभाषा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गांधीवाद व्यक्ति की पूर्ण उन्नति के साथ समाज की उन्नति का पोषण है, क्योंकि व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है। सत्ता का उन्मूलन कर मानवता की प्रतिष्ठा मात्र ही इसका मूल उद्देश्य है। व्यक्तिगत धन के वैभव एवं सत्ता से उत्पन्न प्रतीकों का विरोध करता है। "जियो ओर जीने दो" (Live and Let Live) की अहिंसा पूर्ण वृत्ति द्वारा वर्गहीन समाज की रचना कर सुख और शान्ति स्थापित करना इसका मूल उद्देश्य है।

अर्थशास्त्र वही है जो नीति पर आधारित है। चन्द मनुष्यों के पास धन केन्द्रित हो जाना और लाखों मनुष्यों का बेकार होना एक महान सामाजिक अपराध है। आज की आर्थिक व्यवस्था में स्वार्थमूलक भावनाओं की प्रधानता के कारण मानव जीवन के लिए सुखावह एवं सृष्टिकर नहीं। आधुनिक यंत्र व्यवस्था ने मानव को पंगु ही नहीं बना दिया, अपितु पूंजी चन्द लोगों के पास संगृहीत कर जो विषमता के बीज बोये उनसे पूंजीपतियों, गरीबों और मजदूरों के बीच हिंसा, अशान्ति और विद्वेष के विष वृक्ष खड़े हो गए। आज पूँजीपति पूंजी पर एकाधिकार तो चाहता ही है साथ ही मजदूरों पर, निरीह मानवों पर शासन भी चाहता है। पर गांधीवाद इसका शाश्वत विरोध करता है। [illegible] नहीं चाहता कि एक ओर व्यक्तियों में अन्न फेंका जाय, मिलें रात-दिन कार्य [illegible]गी रहें, दूसरी ओर गरीबों के मासूम बच्चे क्षुधा की ज्वालाओं से सदा के लिए [illegible] जाएँ, बेकारी का प्रादुर्भाव हो। यंत्रों की शोषक वृत्ति के विरोध के मूल में [illegible]वाद उन छोटे छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देता है जिससे, चाहे गरीब हो या [illegible] ग्रामीण हों या [illegible]रिक, नीच हो या उच्च, हिन्दू हो या मुसलमान, पुरुष हो या स्त्री, विद्वान हो या [illegible], जीवन यापन कर सकें।

गांधीवाद हिंसा के स्थान पर अहिंसा, विषमता के स्थान पर समता और विद्वेष के स्थान पर प्रेम को अंगीकार कर शासन प्रणाली और आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना चाहता है। गांधीवाद को सैद्धान्तिक और वैज्ञानिक दो बड़े अंगों में विभक्त किया जा सकता है। गांधीवाद सैद्धान्तिक दृष्टिकोण

से सत्य और अहिंसा की आधारशिला पर खड़ा है। प्रेम, त्याग, अपरिग्रह और सन्तोष आदि इसके मुख्य अंग हैं। इन सिद्धान्तों को दृष्टिकोण में लेकर उन्होंने समाज के निर्माण का ऐसा वैधानिक कार्यक्रम उपस्थित किया है जो वस्तुतः प्रशंसनीय है। उनके वैधानिक कार्यक्रम के घरेलू उद्योग, अस्पृश्यता निवारण, नशाबन्दी, शिक्षा का आमूल परिवर्तन, आर्थिक समानता, प्राकृतिक चिकित्सा, श्रम संगठन और विश्व बन्धुत्व इत्यादि की ऐसी सुन्दर तालिका है जिसमें सचमुच समाज के निर्माण एवं विश्व की समस्त समस्याओं का बड़े रोचक तरीके से हल है।

आधुनिक मशीनें मानवता के लिए अभिशाप हैं। इसने मानव की मानवता का हरण किया है। मनुष्य को बेकार कर दिया है। इसी के फलस्वरूप बाजार को कब्जे में करने के लिए, कच्चे माल के लिए रक्त पिपासु युद्धों और नृशंस हत्याओं का सर्जन होता है। मनुष्य को निठल्ला बना दिया है। पूंजीवाद और साम्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ है। दोनों ही एक दूसरे की प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुए हैं, संघर्षमय जीवन व्यतीत हो रहा है। मनुष्य अपने आपको खो बैठा है। पूंजीवाद में कुछ शोषित व्यक्तियों के हाथ में शासन की बागडोर रहती है। जनता के ऊपर मनमाने अत्याचार होते हैं। पूंजीपति सहस्रों मनुष्यों का पेट मार कर स्वयं भोग विलास में लिप्त रहते हैं दूसरी ओर साम्यवाद हिंसात्मक तरीकों को अपनाता है। कहने को आवश्यकताओं की वस्तुएँ सब को प्राप्य हैं परन्तु व्यक्ति स्वातंत्र्य का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार वर्तमान में पूंजीवाद और साम्यवाद की गहरी होड़ चल रही है परन्तु यह निश्चित है कि ये दोनों ही सुख की सृष्टि नहीं कर सकते।

गांधीवाद की विश्व बन्धुत्व एवं अहिंसा की भावना ही समाज, राष्ट्र, परिवार के हृदय में लहराते हुए स्वार्थ सागर को सोखने में सहायक होगी। गांधी[illegible] के सिद्धान्त में विश्व की आत्मा का दिग्दर्शन होता है। दूसरे शब्दों में गांधी[illegible] को हम भगवान् महावीर का आध्यात्मिक साम्यवाद कह सकते है। गांधी[illegible] समन्वय का मार्ग है। गांधीवाद में श्रम का महत्व बौद्धिक श्रम से भिन्न नहीं है और वह स्वावलम्बन की चरम सीमा पर स्थित है। [illegible] कार्यक्रम समानता की बुनियाद पर समाज के भव्य भवन का निर्माण [illegible]हता है इसीलिए [illegible] प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरी करने का प्रथम ध्येय है। उनका कार्यक्रम अहिंसात्मक एवं समानता के सिद्धान्तों का पूर्ण पोषक है। गांधीवाद मनुष्य की आवश्यकताओं को कम करके उसे संन्तुष्टि प्राप्त करने का आदर्श उपस्थित करता है। उनका कहना है कि मन एक चञ्चल पक्षी है, जितनी अधिक उसकी इच्छा

पूरी होती है उतनी ही अधिक उसकी लालसा बढ़ती है और वह असन्तुष्ट रहता है। गांधीवाद, अहिंसात्मक क्रान्ति, व्यक्ति स्वातंत्र्य, समाज शास्त्र, छोटे उद्योगों के प्रसार के पक्ष में एवं यन्त्रों की शोषक वृत्ति का विरोधी है।

यदि राष्ट्रों का निर्माण अहिंसा के आधार पर किया जाय और असत्य व्यवहार को स्थान न दिया जाय तो राष्ट्रों में परस्पर अविश्वास और प्रतिहिंसा की भावना देखने को भी न मिले। समस्त राष्ट्रों का एक विश्व संघ हो, जिससे सब राष्ट्र सन्मान, एवं भातृ-भाव के आधार पर कुटुम्ब के रूप में सम्मिलित हों, न कोई किसी का शासक हो न शास्य। सब के साथ सब का मैत्री-भाव हो तभी विश्व म शान्ति सम्भव है।

जैन संस्कृति और मिथ्यात्व

हमने कर्मवाद को "जो कुछ होना है होगा" इस रूप में समझा है। इस से बहुत हानि हुई है। हमने पुरुषार्थ करना छोड़ दिया है। इसके विपरीत भगवान् महावीर ने जिस कर्मवाद की स्थापना की उसके पीछे पुरुषार्थ की प्रबल भावना रही हुई है। हमने उसे नहीं समझा, इसीलिए कर्तव्यहीनता और अनेक वहमों में फँस गए हैं। भगवान् महावीर का उपदेश तो स्वाश्रयी बनने का है। हमारे यहाँ सम्प्रदायों के पारस्परिक संघर्ष भी प्रायः होते रहते हैं। यह भी भगवान् महावीर के उपदेशों को न समझने का परिणाम है। हम अपने भूत काल की बहुत सी बातों का गौरव करते हैं। किन्तु उस में गौरवयोग्य वस्तुतः कितनी हैं और निःसार कितनी, इस बात पर [illegible] कम विचार किया जाता है। हम अपने भूत काल को सदा बखानते ही [illegible] हैं यह भी हमारे पतन का कारण है। हमने आत्मशुद्धि के बदले लब्धियों [illegible] भौतिक सिद्धियों को महत्व देना शुरू किया, इससे जैन दर्शन के असली रूप को भूल गए और धीरे धीरे ऐसे स्वार्थी बन गए कि संघ बल को खो बैठे। देवद्रव्य [illegible] भी हम यथार्थ रूप से समझने का प्रयत्न नहीं [illegible]। इनके [illegible] भी बहुत सी ऐसी प्रवृत्तियाँ तथा संकुचितताएँ हमारे अन्दर घर कर चुकी हैं जो जैन संस्कृति के लिए अशोभनीय हैं। यह देख कर मन में चोट लगती है।

पं० बेचर दास जी

(भावनगर स्वर्णचन्द्रक समारोह पर दिए गए भाषण में से)

गम्भीर अध्ययन

सन्त विनोबा

अध्ययन में विशालता का महत्त्व नहीं है, गम्भीरता का महत्त्व है। लम्बे समय तक घंटों बैठे बैठे भिन्न भिन्न विषयों की पुस्तकें पढ़े जाना विशाल अध्ययन है। समाधि में बैठकर रोज थोड़े समय के लिए किसी निश्चित विषय का अध्ययन करना गम्भीर अध्ययन है। दस बारह घंटे बिस्तर पर पड़े रहें, करवटें बदलते रहें, सुपने आते रहें तो ऐसी निद्रा से विश्राम नहीं मिलता। इसके विपरीत पाँच घंटे ही सोएं और वह नींद गाढी ही, सुपने आदि किसी प्रकार का विक्षेप न हो तो उतनी नींद से ही पूरा विश्राम मिल जाएगा। अध्ययन की भी यही बात है। समाधि अर्थात् एकाग्रता अध्ययन का मुख्य तत्व है।

समाधियुक्त गम्भीर अध्ययन के विना ज्ञान नहीं होता। विशाल अध्ययन अधिकतर दोषपूर्ण होता है उस में शक्ति का जो दुरुपयोग होता है, यह अलग है। अनेक विषयों पर अनेक पुस्तकों का खाली वाँचते रहने से कोई लाभ नहीं है। अभ्यास के द्वारा प्रज्ञा उत्तरोत्तर स्वतन्त्र तथा प्रतिभाशाली होनी चाहिए। प्रतिभा का अर्थ है बुद्धि में नई नई कोंपलें फूटते रहना। नई कल्पना, नया उत्साह, नई शोध स्फूर्ति ये सब प्रतिभा के लक्षण हैं। ढेरों पुस्तकें पढ़ने से यह प्रतिभा समाप्त हो जाती है।

वर्तमान जीवन के लिए जितना कर्मयोग आवश्यक हो उसके लिए पर्याप्त समय निकालकर शेष समय में उपयोगी अध्ययन करन[illegible] करना चाहिए। भावी जीवन की आशा से वर्तमान समय में मौत को स्वीकार करना उचित नहीं है। शरीर पर कितना भरोसा रख[illegible] जा सकता है इसका अनुभव मनुष्य को नित्यप्रति होता है। भ[illegible] हमारे अन्दर कुछ न कुछ न्यूनता रखता है, यह उसकी अपार[illegible] है। वह चाहता है, उस न्यूनता के कारण हम हमेशा जाग्रत र[illegible]

जिस प्रकार रेखा दो बिन्दुओं से पूर्ण होती है [illegible]सी प्रकार जीवन के भी दो बिन्दु हैं। अपने जहाँ खड़े [illegible]हला बिन्दु है अ[illegible] अपने को जहाँ जाना है वह दूसरा बिन्दु है। [illegible] निश्चित होते ही जीवन की दिशा निश्चित समझनी चाहिए। यह दिशा निश्चित किए विना इधर उधर भटकते रहने से मंजिल नहीं कटती।

संक्षेप में अल्प मात्रा, सातत्य समाधि, कर्मावकाश तथा निश्चित दिशा गम्भीर अध्ययन के सूत्र हैं। अनु॰ इन्द्र

'श्रमण' के ग्राहक बनिए और अपने मित्रों को बनाइए

प्रिय बन्धु !

गत नवम्बर से 'श्रमण' ने अपने पाँचवें वर्ष में प्रवेश किया है। जन साधारण के सामने श्रमण संस्कृति का असली रूप उपस्थित करके इसने जो कार्य किया है वह आपके सामने है। हम यह जानना चाहते हैं—क्या जैन समाज में ऐसे पत्र की आवश्यकता है ? यदि है तो आपको हमारा सहयोगी बनना चाहिए। हम यही चाहते हैं कि आप 'श्रमण' के कम से कम पाँच नए ग्राहक बनाएँ। इससे 'श्रमण' की जड़ मजबूत होगी और यह अपने पैरों पर खड़ा होकर मानवता की अधिक सेवा कर सकेगा। आप इसके क्षेत्र को जितना विस्तृत करेंगे उतने ही त्याग एवं तपस्या के सन्देश को घर-घर पहुँचाने में सहायक होंगे। यदि आर्थिक कठिनाइयों के कारण 'श्रमण' का प्रकाशन बन्द हो गया तो यह जैन समाज के लिए खेदजनक घटना होगी। उसका अर्थ होगा जैन समाज में इतनी भी जागृति नहीं है कि नए असाम्प्रदायिक विचारों को लेकर एक छोटा सा पत्र भी चल सके। यह उदाहरण सुधारक के उत्साह में मन्दता लाने के लिए पर्याप्त होगा।

हम आशा करते हैं—सुधार प्रेमी सज्जन आगे आएँगे और जागृति के इस टिमटिमाते दीप में तेल डालकर उसकी शिखा को प्रज्वलित करेंगे।

ज[illegible]

ज[illegible] पाँच नए ग्राहक बनाइए और अज्ञानान्धकार को दूर करने में [illegible]ज्योति की सहायता कीजिए।

इसका वार्षिक [illegible] केवल चार रुपया है।

कृष्णचन्द्राचार्य
व्यवस्थापक—'श्रमण'

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस—५

श्रमण
वर्ष
५
सम्पादक
डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम.ए., पी-एच. डी.
अंक
४

इस अंक में—

श्रमण के विषय में—

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाए जाते हैं।
३. श्रमण में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता।
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें।
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।
६. वार्षिक मूल्य मनिऑर्डर से भेजना ठीक होगा।
७. समालोचना के [illegible] पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—कृष्णचन्द्राचार्य,
श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ५ | फरवरी १९५४ | अंक ४

कला का कौल

श्री मनुभाई पंचोली

मनुष्य और काल के बीच प्रतिस्पर्धा चल रही है। मनुष्य कहता है मुझे [illegible]जीवन बनाए रखना है, काल कहता है मुझे नाश करना है। मनुष्य के मन [illegible] आता है—मैंने जो रचना की, जाना, देखा, अनुभव किया, क्या वह सब राख में [illegible]ल जाएगा? शूरवीरों की आहुतियाँ, माता पिता का वात्सल्य, बहिन का स्नेह, पति पत्नी की निष्ठा, बालक की सरल चपलता, क्या यह सब मिट जाएगा? शून्य में विलीन हो जाएगा? वृक्ष तथा कुसुमों से आच्छादित पर्वत, सतत कल-कल करती नदियाँ, गंभीर-गर्जन शील जलधर, स्वर तथा भावों का मनोरम विन्यास; क्या इन्हें अमर करने का कोई उपाय नहीं है? काल ने निष्ठु[illegible] उत्तर दिया—नहीं। उसने कहा—"मैं विशाल नगरों को खण्डहर बना देत[illegible] हूँ। हम्पी के भग्नावशेषों को देखो। लीबिया तथा ट्यूनिशिया के मैदा[illegible] को देखो। जहाँ जल है मैं वहाँ स्थल बना देता हूँ। जहाँ स्थल है, वहाँ जल बना देता हूँ।

मानव की इस उलझन और असहाय अवस्था को देखकर [illegible] की, रंगों तथा रेखाओं की, नाद तथा स्वरों की, छीनी, कलम, पींछी तथा तारों की सामग्री लेकर सहायता के लिए आ पहुँची। काल के सामने खड़ी होकर उसने कहा—मानव के पुरुषार्थ को, उसके सुपनों को, उसके सुख दुखों को, उसके मीठे और कड़वे अनुभवों को मैं अमर बनाऊँगी।

राम को हुए हजारों वर्ष हो गए किन्तु हमारे लिए वे अभी भी जीवित हैं। वाल्मीकि और तुलसीदास की अमृतधारा ने उन्हें अमर कर दिया है। इसीलिए तुलसीदास ने कहा है कि राम से भी राम का नाम बड़ा है। राम ने प्रत्यक्ष रूप से तो किसी एक ही अहल्या का उद्धार किया था किन्तु नाम ने अगणित प्राणियों का उद्धार किया है और अनन्त काल तक करता रहेगा। दशरथ के पुत्र राम ने तो एक ही रावण का वध किया था किन्तु वाल्मीकि और तुलसी के राम आज भी अनेक व्यक्तियों के हृदय में रहे हुए दशशीर्ष का संहार कर रहे हैं।

क्राइस्ट के अन्तिम भोजन ने भोजन करने वालों में से कितनों को प्रेरणा दी, यह हम नहीं जानते किन्तु लीओनार्डो का 'अन्तिम भोजन' सैंकड़ों वर्षों से अपने उपभोक्ताओं के हृदय का मैल धो रहा है।

अजन्ता तथा इलोरा के चित्र एवं शिल्प कौशल इसी प्रकार देखने वालों की एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी को ऊँचा उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

मनुष्य अमर नहीं है किन्तु कला उसे अमर बनाती है। कला की यह महान् सेवा है। काल के गर्भ में विलीन विस्मृत वस्तुओं को भी जीवित रखना कला की महान् देन है। बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं जो विस्मृति के योग्य हैं। वे विनष्ट हो जायँ तो हमें कोई शिकायत नहीं है। किन्तु जो वस्तुएँ तेज सम्पन्न हैं, महान् हैं, उदार हैं, वे भी खो जायँ तो समझना चाहिए कि मनुष्य अत्यन्त पामर है। कलाकार उस पामरता से मानव का उद्धार करता है। वह मानव समाज का धनपति है।

प्राचीन समय की बात है। ग्रीस में एक अन्तर युद्ध हुआ। एक ओर स्पार्टा था, और दूसरी ओर एथेंस। स्पार्टा अनुशासन तथा संग्राम प्रिय था। एथेंस कला, साहित्य, तत्त्वज्ञान तथा विज्ञान का उपासक था। उसके चौक में एक ओर कवियों की गोष्ठी होती रहती, दूसरी ओर दार्शनिकों की तत्त्वचर्चा। शिल्पियों ने उ[illegible] पहाड़ियों में अपनी कला द्वारा जीवन डाल दिया था। विविध मूर्तियों [illegible] देवभवन सी दिखाई देती थीं।

इस युद्ध में एथेंस के बहुत से सैनिक अभिगृहीत हो गए। उस समय के रिवाज के अनुसार उन्हें पत्थर की गहरी खाइयों में डाल दिया गया। खाइयाँ गहरी तथा सीधी दीवार वाली होती थीं। किसी का अपने आप निकलना सम्भव न था। इसलिए थोड़े से रक्षकों से भी काम चल जाता था। धीरे धीरे कैदियों की खुराक घटाते जाते थे और वे मृत्यु प्राप्त करते थे।

सिसली में पत्थर की खाइयों में पड़े हुए ये सैनिक भी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे। जिन प्रियजनों से मिलने की आशा समाप्त हो चुकी थी, उन्हें याद करके दुखी भी हो रहे थे और अपनी वेदना को संगीत द्वारा प्रगट कर रहे थे। ऊपर खड़े हुए सन्तरियों ने एक गीत सुना। विरह की उस सरिता में संतरी भी बह गए। पूछने लगे—कैदी यह किस का गीत है !

"हमारे महाकवि यूरीपीडस का।" कैदी ने उत्तर दिया।

"एक गीत और सुनाओ। कोई नया सा। जो सुनाएगा उसे मुक्त कर दिया जाएगा।" सन्तरी ने इच्छा प्रगट की।

एक नया गीत गाया। दुःख की शान्त सरिता बहने लगी। मनुष्य का मिथ्या मान तथा कठोरता, उसमें धुल धुल कर बहने लगे।

"वाह, भाई वाह !" सन्तरियों का हृदय उछल पड़ा और गाने वाले कैदी को ऊपर खींच लिया गया। "एक तुम सुनाओ।" सन्तरियों ने खाई वाले कैदियों से कहा।

"फिर वही धारा बह निकली।" सन्तरी कैदी और पहरेदार के भेद को भूल गए। दोनों हृदय की समान भूमिका पर उतर आए। करुणा के प्रवाह में सभी एक हो गए।

एक के बाद एक गीत झंकृत होता गया और सभी कैदी मुक्त हो गए।

सब के सब यूरीपीडस के घर पहुँचे। वृद्ध यूरीपीडस अपने घरके आंगन में वृक्ष के नीचे बैठे थे। मुख से कविता की कड़ियाँ गुन गुना रहे थे। सभी कवि के चरणों में गिर पड़े।

कवि ने उन्हें उठा कर छाती से लगाया और समाचार पूछा।

"महाकवे ! आपने हमें भयङ्कर कारावास से मुक्त करा दिया।" सब ने कृतज्ञता भरे स्वर में कहा।

यूरीपीडस की समझ में नहीं आया। उन्होंने सारी कहानी सुनाई। यूरीपीडस अपनी कविता के इस प्रभाव को सुन कर गद्गद हो उठा।

बन्दियों ने फिर प्रणाम किया और कहा—राजशक्ति ने हमें बन्दी बनाया और कवि की कला ने मुक्त कर दिया।

अनु० इन्द्र
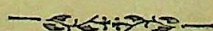
सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि

डॉ० इन्द्र

(गताङ्क से आगे)

वर्तमान दृष्टिकोण

सम्यग्दृष्टि की उपरोक्त परिभाषाएँ कपोल कल्पित नहीं हैं। उनमें शास्त्रीय दृष्टि को सामने रखा गया है। वे मनुष्य को न तो किसी निर्जीव क्रियाकाण्ड के लिए बाध्य करती हैं और न यह कहती हैं कि वह किसी बात को अपनी बुद्धि द्वारा पर्यालोचन किए बिना स्वीकार कर ले। आत्मशुद्धि के लिए किसी भी क्रिया को अपनाया जा सकता है। वस्तु को ठीक ठीक रूप में जानने के लिए निरभिनिवेश दृष्टि तथा तर्कसंगत पद्धति होने पर व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से परीक्षण करने का पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार की दृष्टि तभी आ सकती है जब ध्येय शुद्ध हो। संकुचित ध्येय वाला व्यक्ति अभिनिवेशों से ऊपर नहीं उठ सकता।

प्रत्येक धर्म अपने उद्भवकाल में आत्मस्पर्शी होता है। उसमें क्रियाकांड बाह्याचार तथा वेशभूषा को आत्म साधना के लिए सुविधा के रूप में अपनाया जाता है। साधक को पूर्ण अधिकार रहता है कि वह अपनी सुविधानुसार उसमें उचित परिवर्तन कर ले। ऐसे भी साधक हो सकते हैं जो अपनी रुचि के अनुसार एक बात महावीर से लें, दूसरी बुद्ध से और तीसरी उपनिषदों से। फिर भी यदि उनका ध्येय शुद्ध है तो वे सम्यग्दृष्टि ही कहे जाएंगे। उसमें धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति से रहता है। यह आवश्यक नहीं कि आत्म-कल्याण के लिए किसी एक ही परम्परा को पूर्णतया स्वीकार किया जाए। साधक को यह चिन्ता भी नहीं होती कि वह अपने पीछे अनुयायियों की सेना खड़ी करे। जो व्यक्ति जिज्ञासु वृत्ति से उसके पास जाता है, उसे सीधे सादे शब्दों में अपने अनुभव बता देता है। मान, पूजा, प्रतिष्ठा, जयनाद तथा इसी प्रकार के दूसरे विक्षेपों से वह दूर रहता है। उस समय न उसे किसी का खण्डन करना होता है, न शास्त्रार्थ करना पड़ता है। इसकी न्यूनाधिक मात्रा सन्त परम्परा में पाई जाती है। किन्तु धीरे धीरे साधक में लोकेषणा जागृत होती है। वह

अपने अनुयायी बनाने चलता है और धर्म को एक संगठन का रूप दे देता है। उसकी अन्तरात्मा विद्रोह करती है और कहती है—तुम किस दलदल में फँस रहे हो ?" किन्तु बुद्धि उस विद्रोह को शान्त कर देती है। वह कहती है— "हम संसार का उद्धार करने चले हैं।" लोकेषणा परोपकार का चोगा पहिन कर नाचने लगती है। बुद्धि एषणाओं की दास होती है। मन में जो इच्छा होती है, बुद्धि उसका समर्थन कर देती है। आत्मा की आन्तरिक शुद्धि की उपेक्षा होने लगती है। उस समय ऐसे सिद्धांतों की सृष्टि की जाती है जिनका सैद्धान्तिक आधार तो आत्मशुद्धि हो किन्तु व्यावहारिक रूप बाह्य आचार हो। उसका परिणाम है कि बौद्ध धर्म में बुद्ध, धर्म और संघ के रूप में तीन तत्त्व आए। सम्यग्दृष्टि का अर्थ हो गया इन तीन तत्त्वों पर अविचल श्रद्धा। सिद्धान्त के रूप उन्होंने बताया ऐसा प्रत्येक व्यक्ति बुद्ध है जिसने वस्तु तत्त्व को जान लिया है किन्तु व्यावहारिक रूप में भिन्न मत या सम्प्रदाय के किसी महापुरुष को बुद्ध नहीं माना।

जब मैं भिवानी कालेज में अध्यापक था तो ज्ञानगोष्ठी के निमित्त कभी कभी आर्यसमाज-मन्दिर में चला जाता था। एक दिन समाज के मन्त्री ने कहा—"आप आर्यसमाजी बन जाइए। सत्य का प्रत्येक गवेषक आर्यसमाजी कहा जा सकता है।" मैंने उत्तर दिया—"सत्य के गवेषक को ही यदि आर्यसमाजी कहते हैं तब तो मैं आर्यसमाजी हूँ ही।" मन्त्री ने तत्काल मुझे एक फार्म दिया जिसमें आर्यसमाज के दस नियम थे। पहला नियम था—प्रत्येक सत्य विद्या को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

मुझे यह नियम बहुत अच्छा लगा।

दूसरा नियम था—"वेद सब सत्य विद्याओं का मूल है।" मैंने कहा—"पहला नियम तो अच्छा था किन्तु दूसरे ने उसका खण्डन कर दिया।" सत्य को अङ्गीकार करने के लिए हमारा हृदय खुला रहना चाहिए फिर उसे पुस्तक विशेष या व्यक्ति विशेष के शब्दों में सीमित क्यों किया जाय ?

बुद्ध का अर्थ ज्ञानवान् करने के बाद उसे कुछ व्यक्तियों में सीमित कर देना भी ऐसा ही है।

धर्म और संघ के लिए भी यही बात है। बौद्ध धर्म में आचार को शील शब्द से कहा जाता है और उसमें मूलभूत सिद्धान्त वे ही हैं जो अन्य धर्मों में भी पाए जाते हैं। किन्तु उस शील का अस्तित्व बौद्ध भिक्षुओं के सिवाय अन्यत्र

नहीं स्वीकार किया जाता। संघ की कल्पना भी बाह्यवेश तथा बाह्याचार के आधार पर है।

जैन धर्म में वही बात देव, गुरु तथा धर्म के रूप में कही गई है। हम अपने साधुवर्ग से प्रतिदिन अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्रतिपादित धर्म को मंगल, शरण तथा लोकोत्तम के रूप में सुनते हैं। इनमें से प्रथम दो अर्थात् अरिहन्त और सिद्ध देवतत्त्व में आते हैं और साधु गुरुतत्त्व में। देवतत्त्व में वे लोग आते हैं जिन्होंने रागद्वेष आदि आत्मशत्रुओं को जीतकर कैवल्य प्राप्त कर लिया। जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है इस तत्त्व में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता या संकुचित वृत्ति नहीं है।

देवतत्त्व की कल्पना आदर्श के रूप में की जाती है। योगसूत्र में इसी के लिए एक ऐसे पुरुष विशेष की कल्पना की गई है जो दोषों से नित्यमुक्त है, जिसे सांसारिक इच्छाओं का कभी स्पर्श भी नहीं हुआ। जैन दर्शन किसी को नित्यमुक्त नहीं मानता। उसके अनुसार प्रत्येक आत्मा उत्क्रान्ति करता हुआ परमात्मा बनता है। इसलिए जैन परम्परा में जिस आत्मा ने अपना पूर्ण विकास कर लिया, उसी को देव माना गया। ऐसे देव के प्रति आत्मकल्याण के प्रत्येक अभिलाषी का मस्तक झुक जाएगा, चाहे वह जैन हो, बौद्ध हो या अन्य किसी सम्प्रदाय को मानने वाला हो।

सैद्धान्तिक उदारता होने पर भी व्यवहार में हम संकुचित हो गए। जैन परम्परा से सम्बन्ध न रखने वाले किसी भी महापुरुष को हम देवरूप से मानने के लिए तैयार नहीं हैं। यदि कोई व्यक्ति बुद्ध, महात्मा गांधी या अन्य किसी महापुरुष को उसी श्रद्धा से देखने लगे तो झट उसे मिथ्यादृष्टि कह दिया जाएगा। सिद्धान्त और व्यवहार में इस प्रकार का अन्तर हमें वंचना सिखाता है। जब आत्मा में सत्य की जिज्ञासा उत्पन्न होती है या कोई तटस्थ व्यक्ति हमारे ऊपर संकुचित होने का आक्षेप करता है, तब तो हम सिद्धान्त का आश्रय लेने लगते हैं और ज़ीवन में उतारते समय उसे भूल जाते हैं। इस प्रकार हम परमार्थ के उपासक भी बने रहते हैं और अपनी अस्मिता तथा कषायों का पोषण भी कर लेते हैं। यह दम्भवृत्ति सत्यान्वेषण वृत्ति को कुण्ठित कर डालती है। हम आन्तर की आराधना को मुख्य लक्ष्य बनाकर निर्वाह के लिए बाह्य व्यापार कर सकते हैं। किन्तु इस बात के लिए सदा उद्यत रहना होगा कि जो बाह्य व्यापार आन्तर की उपासना में बाधक रूप से खड़ा हो उसे छोड़

दें। वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। हम बाह्य की रक्षा के लिए आन्तर का आश्रय लेते हैं। इसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता।

अब हम गुरुतत्त्व को लें। यह तत्त्व हमारे सामने साधना का आदर्श उपस्थित करता है। साधु मोक्षमार्ग के साधक होते हैं। उन्हें देखकर हम अपनी साधना का व्यावहारिक रूप निश्चित कर सकते हैं। वे पाँच महाव्रत, समिति तथा गुप्तियों का पालन करते हैं। ऐसे साधु को वन्दना कौन नहीं करेगा ? किन्तु यह तो सैद्धान्तिक पक्ष हुआ। व्यावहारिक पक्ष इससे सर्वथा भिन्न है। हम किसी भी ऐसे व्यक्ति को साधु मानने के लिए तैयार नहीं हैं जो जैन साधु के वेश में न हो। इतना ही नहीं, एक स्थानकवासी के लिए साधुत्व की कसौटी मुखवस्त्रिका पहले है, आत्मा के गुण पीछे। मूर्त्ति-पूजक के लिए दण्ड का उतना ही महत्त्व है और दिगम्बर के लिए नग्नता का। इस प्रकार गुणों के स्थान पर बाह्य रूप ने महत्व प्राप्त कर लिया है। यहाँ पर भी जब कोई व्यक्ति इसके विरुद्ध बोलता है तो सिद्धान्त को ढाल बनाकर अपनी रक्षा की जाती है। सिद्धान्त का शिखण्डी खड़ा करके हमारा व्यवहार, जिसमें हमारा अहङ्कार, हमारी संकुचित मनोवृत्ति तथा हमारे अन्य स्वार्थ छिपे रहते हैं, दूसरों पर प्रहार करता है।

अब हम धर्म की बात को लें। अहिंसा, संयम, तप आदि शास्त्रानुमोदित निर्विवाद धर्म हैं। इनके विषय में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु यहाँ धर्म शब्द की व्याख्या दूसरे रूप में की जाती है। कहा गया है केवली के द्वारा प्रज्ञप्त ही धर्म है। यहीं से आगम-प्रामाण्य और सम्प्रदायवाद की नींव शुरू होती है।

भारतीय दर्शनों में आगम-प्रामाण्य अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी आधार पर धर्म संस्था ने मानव बुद्धि को कुण्ठित करके उसके स्वतंत्र विकास को रोका है।

आगम-प्रामाण्य का प्रारम्भ मीमांसा दर्शन से होता है। पुरोहितवर्ग को यह आवश्यक जान पड़ा कि लोग वैदिक क्रियाकाण्ड में लगे रहें और उसके विधि विधान में किसी प्रकार का सन्देह न करें। इसलिए उन्होंने वेद को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण बताया। यदि युक्ति और वेदवाक्य में विरोध हो तो वेदवाक्य को ही प्रमाण मानने का विधान बनाया। जब यह प्रश्न किया जाने लगा कि

वेद को इस प्रकार का प्रामाण्य क्यों दिया जाय तो उन्होंने उत्तर दिया—वाक्य में दोष वक्ता की अल्पज्ञता या अन्य दोषों के कारण आता है। वेद अनादि वाक्य है। उसका वक्ता कोई नहीं हैं। जो हैं वे श्रोता, मन्ता अथवा स्मर्ता हैं। साथ ही उन्होंने कहा—वेद की आज्ञा ही धर्म है। उसका आदेश प्रभु आज्ञा के समान है। जिस प्रकार नौकर के लिए यह आवश्यक होता है कि वह मालिक की आज्ञा बिना सोच विचार के पालन करे। यदि वह उसे पालन करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट करता है तो दण्ड का भागी होता है, इसी प्रकार वेद की आज्ञा के औचित्य-अनौचित्य के विषय में मनुष्य को सोचने का कोई अधिकार नहीं है। जो उसकी आज्ञा का पालन नहीं करता उसे पाप लगता है और इसलिए वह दण्ड का भागी है। जो इस मर्यादा को नहीं मानता उसके प्रति नास्तिक, व्रात्य, अनार्य, शूद्र आदि शब्दों द्वारा घृणा प्रकट की गई। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की मर्यादाओं में आत्मोन्नति का लक्ष्य लेशमात्र भी नहीं रहता। इनका ध्येय केवल संगठन और तदुपजीवी वर्ग की उदर पूर्ति रहता है।

जिन दर्शनों ने वेद को नित्य नहीं माना उन्होंने उसकी प्रामाणिकता स्थापित करने के लिए उसे ईश्वरकृत बताया।

किन्तु जैन दर्शन ईश्वर को भी नहीं मानता। इतर दर्शनों ने शास्त्रीय प्रामाण्यके लिए जो गुण ईश्वर में आवश्यक समझे थे, यहाँ उनका अस्तित्व विकसित आत्मा में माना गया। वाणी के प्रामाण्य के लिए वक्ता में दो गुण आवश्यक हैं, वह अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता हो तथा उसमें राग द्वेष अथवा स्वार्थबुद्धि का अभाव हो। अरिहन्त सर्वज्ञ हैं और वीतराग भी हैं। इस लिए उनकी वाणी अप्रमाण नहीं हो सकती। आगम उनकी वाणी है। इसलिए अक्षरशः प्रमाण हैं। उनमें किसी प्रकार की शङ्का करना मिथ्यात्व है। आगमजीवी वर्ग बुद्धिवादी वर्ग के सामने इसी प्रकार का तर्क उपस्थित करता है, विशेषतया उस समय जब वह बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा उपस्थित किए गए प्रश्नों का तर्कसंगत समाधान नहीं कर पाता। परिणाम यह होता है कि बुद्धिवादी के मन को सन्तोष नहीं होता और वह इन बातों में माथा-पच्ची करना छोड़ देता है। दूसरी ओर आगमजीवी वर्ग उसे अश्रद्धालु, मिथ्यात्वी, धर्महीन, पाश्चात्य विचारों से प्रभावित, भ्रष्ट मस्तिष्क वाला आदि कहकर गालियाँ देना प्रारम्भ करता है। समाज में उसके विरुद्ध घृणित प्रचार किया जाता ह जिससे कोई उसकी बात न मान। जब यह विश्वास

हो जाता है कि अब उस तथाकथित नास्तिक की बात कोई नहीं सुनेगा तभी सुख की नींद आती है। दूसरे दिन फिर उठ कर पद पद पर भगवान् की आज्ञा का नाम लेकर श्रोताओं की बुद्धि पर परदा डालने का प्रयत्न किया जाता है। भक्ति और पुण्य पाप का ऐसा वातावरण खड़ा किया जाता है कि सरल चित्त श्रोताओं को इधर उधर सोचने में भी भय लगने लगे। जिसके साथ अपने विचार न मिले या जिसे अपनी स्वार्थपूर्ति में थोड़ा सा भी बाधक देखा उसे मिथ्यात्वी, नास्तिक आदि कह कर बदनाम करना, उस पर मिथ्या आरोप लगाना और सर्वसाधारण के मन में उसके प्रति घृणा उत्पन्न कर देना धर्मजीवी वर्ग का पुराना हथियार है। अवसर आने पर वे इसका उपयोग करने में कभी नहीं चूकते। ऐसे व्यक्ति जब सम्यग्दृष्टि की परिभाषा करते हैं तो उसमें भी प्रकट या अप्रकट रूप से स्वार्थ ही मुख्य रहता है। इसके लिए सिद्धसेन दिवाकर का उदाहरण हमारे सामने है। वे तर्कसंगत अनेकान्तवाद के प्रस्थापक माने जाते हैं। उन्हें केवल इसलिए संघ बाहर कर दिया गया कि वे आगमों का संस्कृत रूपान्तर करना चाहते थे? उन्होंने परम्परागत बातों से थोड़ा सा मतभेद प्रकट किया, इतने मात्र से उनकी समस्त विद्वत्ता, साहित्य सेवा और अनेकान्त पर अटल श्रद्धा का तिरस्कार कर दिया गया। आधुनिक समय में ऐसी घटना पं० बेचरदास जी के साथ हुई।

यह ठीक है कि वाणी में अप्रामाण्य के दो कारण हैं वक्ता यदि उस विषय का अधूरा ज्ञान रखता है तो उसके कहने में अज्ञानतावश गलती रह सकती है। वक्ता यदि पूरा जानकार होने पर भी किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर बोल रहा है तो भी उसकी वाणी विश्वसनीय नहीं रहती। इसलिए जो पुरुष वीतराग और सर्वज्ञ है उसकी वाणी म अविश्वास का कोई कारण नहीं रहता। किन्तु जब यह पूछा जाता है कि इसी आधार पर वेद तथा कुरान को भी क्यों न प्रमाण माना जाय तो उत्तर मिलता है—उनका कर्ता सर्वज्ञ नहीं है। "यदि उनका कर्ता सर्वज्ञ नहीं ह तो आप के ग्रन्थों का कर्ता सर्वज्ञ है, यह कैसे माना जाय ?" इस प्रश्न का उत्तर क्रोध तथा गालियों में मिलता है। इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि अर्थात् तर्कसंगत दृष्टि हमें बाध्य करती है कि जिस तर्क का उपयोग हम दूसरे के लिए करते हैं उसे अपने ऊपर भी लागू करके देख।

प्रायः ऐसा देखा गया है कि हमारे जो विश्वास तर्कसंगत हैं उनके विरुद्ध बात सुनने पर हमें क्रोध नहीं आता। किन्तु जिन विश्वासों का कोई तर्कसंगत

आधार नहीं है उनके विरुद्ध सुनने पर एकदम क्रोध आ जाता है। एक करोड़पति को यदि कोई दरिद्र कह दे तो वह हँस कर टाल देगा। किन्तु यदि पैसा न होने पर भी धनवान होने का दिखावा करने वाले को कोई दरिद्र कहे तो वह बरी तरह चिढ़ जाएगा। हमारे जो विश्वास थोथे हैं उन्हीं को हम मुस्तैदी से पकड़े रहते हैं। उनके विषय में कोई भी विरुद्ध बात नहीं सुनना चाहते। हमें भय लगा रहता है कि वे कहीं भाग न जायँ। इसके विपरीत जो विश्वास सत्य पर आश्रित हैं, हम उनके विरुद्ध बात सुनते हैं। ऊहापोह करते हैं। उनका परिमार्जन कर एक नई दृढ़ता प्राप्त करते हैं। व्यक्ति का किसी विश्वास में जितना अधिक अभिनिवेश है उतना ही वह उसके थोथे-पन का परिचय देता है। सत्य पर निष्ठित विश्वास के लिए कभी अभिनिवेश या आग्रह नहीं होता। उसके लिए व्यक्ति प्रतिपक्षी की बातें सुनने तथा उस पर सहानुभूतिपूर्ण विचार करने के लिए सदा उद्यत रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देव, गुरु और धर्म में श्रद्धा के रूप में सम्य-ग्दृष्टि की जो व्याख्या की जाती है वह सिद्धान्त के रूप में कितनी ही सुन्दर हो किन्तु उसका उपयोग पंथ तथा सम्प्रदायवाद की पुष्टि में किया गया है। इसके द्वारा आत्मगुणों के स्थान पर मिथ्यात्व को प्रोत्साहन दिया गया है। अन्तर्दृष्टि के स्थान पर बहिर्दृष्टि को प्रधानता मिली है। इसके द्वारा आत्म शुद्धि या तत्त्वरुचि के आधार पर आगमों में सम्यग्दृष्टि की जो व्याख्याएँ की गई हैं उन्हें भुला दिया गया है।

पर हमें सम्यग्दृष्टि की असली परिभाषा सीखनी है। इस के लिए दो बातों को सदा सामने रखना होगा—

१—क्रोध, मान, माया तथा लोभ को कम से कम अवसर दिया जाय। घर के नौकरों पर, बच्चों पर, पत्नी पर, अन्य आश्रितों एवं साथियों पर कितना ही बड़ा कारण उपस्थित हो तो भी हृदय में क्रोध को स्थान न दें। दूसरे की गलती होने पर उसे प्रेम पूर्वक समझा दें। यदि दण्ड देना ही आव-श्यक हो तो उस समय भी मन पूर्णतया शान्त तथा द्वेषरहित हो। दण्ड से क्रोध प्रकट न होता हो किन्तु दूसरे को सुधारने की भावना प्रकट होती हो। हमारे प्रत्येक वाक्य से प्रेम और वात्सल्य टपकता हो। मन में किसी को कष्ट देने की भावना तक न हो। तो इसका अर्थ है हमने क्रोध की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर ली। इसी प्रकार हम किसी को अपने से नीचा न समझें, सबके

प्रति आदर बुद्धि रखें, हमारे मन में धन सम्पत्ति, शरीर, ज्ञान, दर्शन, चारित्र तपस्या आदि किसी बाह्य या आभ्यन्तर वस्तु का मद न हो। शास्त्रों में दस प्रकार के मद गिनाए गए हैं। उन सभी को छोड़ना आवश्यक है। तभी मान कषाय की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति होगी। माया के लिए तो बहुत ही गम्भीरता के साथ सोचने की आवश्यकता है। हम दूसरों के प्रति तो कपटपूर्ण व्यवहार करते ही हैं किन्तु सब से अधिक माया अपनी आत्मा के प्रति करते हैं। धर्म की सच्ची आराधना न करते हुए भी अपने को धर्मात्मा मान लेते हैं। इस प्रकार हमारे अन्दर आत्मविकास के लिए जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है उसे दबा डालते हैं, अपने अन्याययुक्त व्यवहार को भी न्याय का चोगा पहिना देते हैं। हमारी अस्मिता अपने दोष को स्वीकार करने में बाधा डालती है, बुद्धि उसी का समर्थन कर डालती है। इस प्रकार एक झूठा सन्तोष मिल जाता है किन्तु हम सत्य से उत्तरोत्तर दूर होते जाते हैं। इसी प्रकार लोभ भी हमें सत्य से दूर खींचता है। जब व्यापारी धन के लोभ में पड़ जाता है तो ग्राहकों को धोखा देना प्रारम्भ करता है। जब राष्ट्र समाज धर्म या किसी अन्य संगठन का नेता कीर्ति के लोभ में पड़ जाता है तो पथभ्रष्ट हो जाता है। लोभ आते ही मन का संतुलन समाप्त हो जाता है और फिर सत्य का निर्णय नहीं हो पाता। सम्यग्दृष्टि बनने के लिए सबसे अधिक ध्यान देने योग्य विचारों का लोभ है। हमारे मन म जो बात एक बार घर कर जाती है, उसके दोष प्रत्यक्ष होने पर भी हम अपने विचार छोड़ने को तैयार नहीं होते। उसी दुराग्रह को श्रद्धा कह कर उसके गीत गाते हैं। सम्यग्दृष्टि को इन सब दुरभिनिवेशों पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता है। जब मनुष्य में इतनी आत्मशुद्धि आ जाएगी तो वस्तुनिर्णय के लिए उसकी दृष्टि अपने आप वैज्ञानिक बन जाएगी। वह पूर्वग्रहों से दूर रहकर सत्य का निर्णय कर सकेगा। उसके लिए निर्दोष एवं तर्कसंगत तरीका सीख लेगा या अपने आप निकाल लेगा। साथ ही आत्मशुद्धि के महान् ध्येय को अपने सामने रखेगा। इस प्रकार की सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर ही देव, गुरु और धर्म की भी सच्ची आराधना होगी।

———

गद्यगीत

एक रोटी दो पेट !

था सान्ध्य सुषमा का प्रहर
ले जा रहे थे धेनु, वत्स,
ग्राम बाल निकर।
कर इति दिवस चर्या
श्रान्त व्यथित जा रहा था
उड़ता गगन में
मौन पक्षी।
जा रही थी लौटकर
मूर्धार्य पर कण्डोलिका ले,
पारिश्रमिक ले दो मुद्रा
डाल लपन पर घूंघट पटा
मैं जाह्नवी के कूल पर
शान्त बैठा निहारता
था क्षितिज पार
कभी देखता वीथियाँ
कभी देखता तरणियाँ
कभी देखता माँझी
कभी देखता गिरता
किनारा।
था कल्पना में
श्रान्त जीवन मगन में
आज गर्वीली लहरों के बीच
ले अगणित चरण
खे रहा तरणि है माँझी
ले प्राण प्यारा।

× × ×

आ अचानक झल रहा
था व्यजन पत्र
बाबू दे दो
एक पैसा, एक पैसा
कर निर्मित झोलिका
रख उसमें
अक्षण काण पुन रुक
बर्हिकर उसकी पुटाञ्जलि
भगवान् के नाम पर दो
एक पैसा !

× × ×

जा अगणित चरणों के समीप
कहता था चीख चीख
दे दो एक पैसा भीख
हर्ष, निराशा की
झाँकियाँ देख
बढ़ता जा रहा था।
अचानक काक मुख से
रोटी का भाग एक
गिरा सरिता के
तट पर
देख
दौड़ा वृद्ध भिखारी
और
दौड़ा श्वान एक

जाह्नवी के तट पर
हुआ रे क्षुधित आत्मा
मानव श्वान का भेंट
पर
एक रोटी दो पेट
पर श्वान चला घसेट।

× × ×

श्वान युग में क्या
अभी भी श्वान
भूखा पड़ा है।
चलते, बैठे कार पर जो
निकाले ग्रीवा, जिह्वा,
मानव-उपहास के हेतु
पर मानव जलते चरण
ले सिसकियाँ बढ़ता
चला जाता
रहते चमकते कौशेय
पट में
धरा का लाल लगाये
चिप्पियाँ चलता
भगवान् के रट में
लगा साबुन गमकते इत्र से
सो जाते कौशेय पट में
मानव लगाए रज कण
पीठ पेट एक
फुट पाथ पर सो जाता
छाद देती मक्षिकाएँ तन॥

× × ×

बढ़ चला आगे भिखारी
चुनते ईंधन!
सुला कर पुत्र को
फुट पाथ पर
जला अनल
पका अन्न कण,
खिला पुत्र को
रह गया पेट उसका
भूखा है।
आ समीप बैठते कुत्ते
कर रहा था भिखारी
दूर दूर
श्वान युग में क्या
अभी भी, श्वान
भूखा है।

× × ×

आज युग है श्वान,
मानव का,
फिर भी श्वान आगे
बढ़ा है
पर मानव देखता
ले डर पूँजीवाद का
खड़ा है।
आयेगा युग एक
चल पड़ेगा मानव
बोरिया बिस्तर समेट
कभी न होगा
पुनः लेट
एक रोटी, दो पेट!

—श्री ओम्प्रकाश 'राज़'

वैशाली और भगवान् महावीर का दिव्य-संदेश

श्री महावीर प्रसाद प्रेमी

हमें यह कहते गर्व का अनुभव होता है कि भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में सुदूर अतीत से ही बिहार (प्रान्त) का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सच पूछिये, तो बिहार या पाटलिपुत्र (पटना) का इतिहास ही मुख्यांश में भारत का प्राचीन इतिहास है। एक आलोचक ने ठीक ही कहा है कि यदि रोम पाश्चात्य-जगत की अमर नगरी थी, तो पौरस्त्य-जगत की विशाल और अमर नगरी थी पाटलिपुत्र (पटना)। इसके गंगा-तट के उत्तरी भाग अर्थात् हाजीपुर सब-डिविजन से प्रायः १३-१४ मील उत्तर 'बसाढ़' नाम का एक गाँव है। इस गाँव से सटे हुए उत्तर की ओर एक बहुत बड़े गढ़ का खण्डहर है, जो 'राजा विशाल का गढ़' के नाम से प्रसिद्ध है। इस गढ़ से डेढ़ या दो मील उत्तर-पश्चिम में एक विशाल अशोक-स्तम्भ है। पुरातत्ववेत्ताओं का कहना है कि 'बौद्ध-कालीन लिच्छवियों की 'वैशाली' यही है

वैशाली की गौरव-गरिमा

प्राचीन भारतीय इतिहास में जिस प्रकार पाटलिपुत्र (पटना), राजगिर एवं नालन्दा की गौरव-गरिमा संसार-प्रसिद्ध है, उसी प्रकार अहिंसक-क्रान्तिकारी भगवान् महावीर की जन्म-भूमि और गौतमबुद्ध की कर्मभूमि वैशाली का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वैशाली की प्राचीन गरिमा की स्मृति में जो 'अशोक-स्तम्भ' खड़ा है, उसका शीर्ष भाग एक सिंह की भव्य-मूर्ति से मण्डित है। उसकी ऊँचाई चौबीस फुट बताई जाती है। आदिकाल से ही वैशाली शक्ति, विद्या और सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थी। रामायण में इसे विशाल, रम्य, दिव्य एवं स्वर्गोपम नगरी कहा गया है। आज से २५०० हजार वर्ष पूर्व यह एक 'देवनगरी' के रूप में थी—प्रसन्न, गर्वोन्नत और समृद्ध। उस समय इस नगरी में खाद्य-पदार्थों का प्राचुर्य था तथा विभिन्न प्रकार के बहुसंख्यक लोग यहां निवास करते थे। ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं, बड़े-बड़े गुम्बज वाले राजप्रासादों,

विशाल राजद्वारों एवं कलापूर्ण मेहराबों से इस विशाल नगरी की शोभा बहुत बढ़ी हुई थी। साथ ही यह नगरी तीन बड़ी दीवारों से घिरी हुई थी और गढ़ (किले) में प्रवेश करने के लिए तीन बड़े द्वार थे तथा इसमें स्थित पुष्पों, वाटिकाओं, कुंजों और कमल-सरोवरों की शोभा निराली थी। प्राचीन जैन एवं बौद्ध-साहित्य में 'वैशाली' का दूसरा नाम 'मगधपुर' कहा गया है।

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि 'वैशाली' के पुनरुद्धार का कार्य वैशाली-संघ के तत्वावधान में हो रहा है। संघ के प्रयत्न से 'वैशाली विद्यालय' की स्थापना भी हुई है, जिसके अन्तर्गत 'जैन-साहित्य' से परिचय कराने का प्रबन्ध भी है। विद्यालय के कार्य को अग्रसर करने के लिये साहू शान्ति प्रसाद जी जैन ने एक लाख रुपया प्रदान किया है। इसी प्रकार जैन-दर्शन के अध्यापनार्थ 'नालन्दा नव-विहार' में भी व्यवस्था की गयी है।

विद्या की पुण्य-स्थली में महावीर का जन्म

वैशाली न केवल सम्पत्ति, शक्ति और सुन्दरता की खान थी, वरन् विद्या और महत्वाकांक्षा की पुण्य-स्थली भी। यहाँ का गण-तन्त्र विश्व के प्रायः सभी गण-तन्त्रों से पुराना, उन्नत तथा सुविस्तृत था। इसी के पास 'वणिक-ग्राम या कुण्डनपुर' था। लिच्छवि गण-तन्त्र के प्रधान राजा सिद्धार्थ के यहाँ वज्जियों के गण-तन्त्र के मुखिया 'चेटक' की पुत्री त्रिशला-प्रियकारिणी के गर्भ से कुमार महावीर का जन्म ६०० ई० के पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को मध्यरात्रि की वेला में हुआ था। आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व इनका नाम वर्धमान था। माता के गर्भ में आते ही कुल की सुख-समृद्धि और मान-मर्यादा में अपूर्व वृद्धि हुई थी। वे अनुपम प्रतिभावान, विचारशील, गम्भीर और उदार थे एवं उनका शरीर कान्तिवान और बलिष्ठ था। उन्हें सब लोग बहुत प्यार करते थे।

आत्म-ज्ञान की प्राप्ति

यद्यपि महावीर राजकुमार थे। सब प्रकार का सांसारिक सुख-ऐश्वर्य चारों ओर भरा-पूरा था। दुःख क्या होता है, कुछ भी पता नहीं था। वे अन्य लड़कों के समान विद्यालय में भेजे गए; परन्तु जान पड़ा कि उन्हें शिक्षक की आवश्यकता नहीं है। उनके हृदय में वह ज्ञान विद्यमान है, जिसे कोई भी विद्यालय प्रदान नहीं कर सकता। अनुपम सुन्दरी और गुणवती

प्रेम-पुजारिणी का प्रलोभन भी सामने आया, यह सब कुछ होते हुए भी महावीर का हृदय सांसारिक सुख-दुःख, भोग-विलास तथा मोह-माया में आबद्ध नहीं हो सका। उस समय का धार्मिक और सामाजिक-पतन उन्हें बेचैन किये हुए था। क्रान्ति की प्रचण्ड अग्नि अन्दर धधक रही थी। हृदय-मन्थन चलता रहा। उन्होंने सोचा कि जनता में फैली हुई बुराइयों को दूर कर उनका कल्याण-साधन करने के लिए सर्वप्रथम अपनी आत्म-साधना द्वारा भौतिक-भोगेच्छा का त्याग एवं अपनी इन्द्रियों को वश कर आत्म-ज्योति या आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। अतः उन्होंने सदाचार, इन्द्रिय-निग्रह और अहिंसा को अपना मुख्य-सिद्धांत मानकर मानव-समाज से अलग प्रायः जंगल में एवं पर्वत की गुफाओं में रह कर आत्मा की अनन्त सुषुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को जगाने के लिए घोर तपस्या में लीन हो गए और आत्म-साधना द्वारा वैशाख शुक्ला दशमी के दिन ज्यों ही केवलज्ञान तथा केवल दर्शन की अखण्ड ज्योति प्राप्त कर 'तीर्थंकर' या 'सिद्धपुरुष' बनकर भगवान् पद के अधिकारी हुए, त्यों ही वे अपने एकान्त जीवन को वनों में से खींच कर मानव-समाज में ले आये। मानव-समाज में आकर आपने पतित-पावन और समदर्शी बन कर मानव-समाज की पतनोन्मुख मानवता को विकसित करने के लिए प्रबल आन्दोलन का श्रीगणेश किया। तत्कालीन धर्म-ध्वजियों एवं सामाजिक भ्रान्त रूढ़ियों के प्रति वह सफल आक्रमण किया कि अन्ध-विश्वासों तथा हिंसा-वृत्ति के सुदृढ़ दुर्ग (किले) ढह ढह कर गिरने लगे। भारत में चारों ओर क्रान्ति का ज्वालामुखी फट पड़ा। धर्म की आड़ में अपना तुच्छ स्वार्थ-साधन करने वालों के प्रपंच पर अवस्थित स्वर्ण-सिंहासन हिल उठे। आपका विरोध भी बड़े जोरों से हुआ। प्राचीनता के पुजारियों ने मनमानी प्रचलित परम्पराओं की रक्षा के लिये जी तोड़ प्रयत्न किये, मनमाने आक्षेप भी किए। परन्तु महापुरुष आपत्तियों की बाधाओं से क्या कभी रुका करते हैं? वे तो अपने निश्चित लक्ष्य पर निरन्तर आगे ही बढ़ते रहते हैं और अन्त में सफलता के सिंहद्वार पर पहुँच कर ही विश्राम लेते हैं। बड़े बड़े धुरन्धर विद्वान भी भगवान् महावीर के अनन्त ज्ञान-प्रकाश एवं अखण्ड तपस्तेज के अद्‌भुत प्रभाव से आपके चरणों के पुजारी अथवा अनुयायी बन गए।

ज्ञान और चरित्र की प्रधानता

सन्मति महावीर मातृ-जाति के प्रति भी बड़े उदार विचार रखते थे। उनका कहना था कि 'पुरुष के समान ही स्त्री को भी प्रत्येक धार्मिक और

सामाजिक क्षेत्र में बराबर का अधिकार है।' इसी प्रकार आपकी यह मान्यता थी कि 'जन्मतः मानव-जाति एक है। जिसमें जात-पाँत की दृष्टि से विभाग की कल्पना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं।' स्मृतियों में भी कहा गया है कि 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।' उसी प्रकार संस्कार से पशु मनुष्य बनता है। सम्भवतः डार्विन की धारणा का आधार यही है। कहा भी गया है कि जिनमें 'विद्या,कला ज्ञान, शील, तप, गुण और धर्म (सचाई) नहीं होते वे पृथ्वी के भार होकर मनुष्य रूपी मृग बने घूमते हैं।' सारांश यह कि उत्तम चरित्र और उत्तम गुणों से विभूषित (संस्कारित) होकर कोई भी मनुष्य ठीक अर्थ में मनुष्य कहलाने एवं सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी होता है। वस्तुतः यदि संसार में कोई शक्ति है, जो अपने प्रभाव का अनुभव कराये बिना नहीं रहती, तो वह चरित्र या नैतिकता है। चाहे मनुष्य में अधिक शिक्षा न हो, चाहे उसमें बहुत ही थोड़ी योग्यता हो, चाहे वह धनहीन हो, चाहे समाज में उसका कोई स्थान न हो, फिर भी यदि उसमें सचमुच महत् चरित्र है, तो उसका प्रभाव जरूर पड़ेगा और उसे सम्मान प्राप्त होगा। तो भी इन गुणों से रहित व्यक्ति को भी निराश तथा निष्क्रिय न रह कर मानवीय गुणों से विभूषित होने के लिए आशावादी बन कर निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भगवान महावीर ऊँच-नीच की कसौटी केवल सदाचार और दुराचार को मानते थे, या यों कहें कि वे 'ज्ञान और चरित्र' को प्रधानता देने के पक्ष में थे। महावीर ने सबसे अधिक जोर मानव और उसके जीवन की पावनता पर दिया है। उनका कहना है कि 'कोई भी व्यक्ति मूलतः बुरा नहीं है और यदि वह भूल से बुरे मार्ग पर चला गया है, तो वह उस मार्ग को छोड़कर एक दिन अच्छा भी बन सकता है। वे कह सकते थे कि जो एक बार बिगड़ गया उसका सुधार असम्भव है; परन्तु उस दशा में शायद उन्हें सारी दुनिया को ही खो देना पड़ता और सत्य का वह पुजारी जानता था कि आदमी भूल से ही बुरे रास्ते पर जाता है, समझ-बूझकर अनुचित मार्ग पर जाने वाला लाखों में एक भी कठिनाई से मिलेगा। मानवता के लिए यह संदेश आशा की एक अमृत-किरण लेकर आया। उसने बुराइयों के दल-दल में फँस लोगों को उससे बाहर निकालने की एक प्रेरक-शक्ति प्रदान की, विवेकी व्यक्ति जान में या अनजान में कोई अधर्म कृत कर बैठे, तो अपनी आत्मा को शीघ्र उससे हटाले और दूसरी बार ऐसा न करे।' फिर उन्होंने कहा कि—मानव के भीतर असली शक्ति 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

इन पाँच व्रतों के पालन से ही उत्पन्न हो सकती है । जो गृहस्थ हैं, जिन पर परिवार का भार है, वे यदि सूक्ष्म रूप से इन व्रतों का पालन नहीं कर सकते, तो स्थूल रूप से ही करें आर्थात् जान-बूझकर हिंसा न करें, परिग्रह न रखें और असंयमी न बनें, बल्कि इन व्रतों को पूर्णतः पालन करने का प्रयत्न करें।

उनका यह कथन भी बिलकुल ठीक है कि 'बुराइयों का मूल कारण यह है 'आदमी अपनी ओर न देख कर दूसरों की ओर देखता है । इसलिए अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करके पहले अपने दोषों को देखने और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । अपने-आपको जीतना ही वास्तव में परम जय है ।' उन्होंने यह भी कहा कि 'जगत का नाथ तो वह है, जो अपनी मानवता का मालिक हो, जो अपने जीवन का 'विश्वकर्मा' बन सके—स्वधर्म (सदाचार) के पथ पर विचर कर स्वयमेव अपना शासनकर्ता, स्वयमेव अपना नियन्ता बन सके ।' वस्तुतः जीवन तो सदाचार के लिए है । सदाचार का नाम ही धर्म है। सदाचार का नाम ही ज्ञान है । सदाचार ही तप है ।

अहिंसा परमो धर्मः

महामानव महावीर ने हमें यह सीख दी है कि 'नैतिकता के सिद्धान्त से विचार और कार्य कभी पृथक नहीं होने चाहिए । मानव के लिए सच्चा मार्ग सत्य और अहिंसा का है। इसलिए उन्होंने सबसे पहले 'अहिंसा परमो-धर्मः' बताया है और राष्ट्रपिता गाँधी ने भी कहा है कि 'सत्य के दर्शन बिना अहिंसा के हो ही नहीं सकते ।' सचमुच अहिंसा जीवन-कला है, उसका स्पष्ट दर्शन भगवान् महावीर ने कराया है। वे भविष्य की मानवता के महान निर्माता थे। भावी जनता के सुख के लिए बीज बोने वाला व्यक्ति आस्तिक है, लेकिन हजारों वर्षों के बाद आनेवाली भावी पीढ़ी की सुख-शान्ति के लिए भविष्य का दर्शन करके अहिंसा जैसे सूक्ष्म बीज के बोने वाले भ० महावीर परम आस्तिक थे । छोटे से छोटे जीवों की भी हिंसा करने का अधिकार किसी को नहीं है'—का उपदेश देना, उसके अनुकूल पालन करना और भावी जनता के लिए पथ-प्रदर्शन करना, यह युगद्रष्टा महावीर के मानव-हृदय पर अटल विश्वास, बन्धु-धर्म, मित्र-धर्म तथा जीवन-बलिदान आदि को प्रगट करता है। अतः महावीर की तीव्र कल्पना, उनकी आस्तिकता और जीवन-कला पर परम श्रद्धा उत्पन्न होना स्वाभाविक है ।

सच्चा-धर्म

जिस अहिंसा में स्याद्वाद रूप बौद्धिक-अहिंसा, तपस्यारूप आत्मिक-अहिंसा और जीव-दया रूप नैतिक-अहिंसा का सुन्दर समन्वय हो गया हो, वहाँ सर्व-धर्म

समभाव की वृत्ति उत्पन्न होना निश्चित है। अहिंसा प्रधान भारतीय संस्कृति, तो पवित्र संगम-संस्कृति है। कोई भी धर्म या सम्प्रदाय यह आदेश कदापि नहीं देता कि धर्म या भगवान् के नाम पर निरीह-जीव का गला घोंट दिया जाय और अनाचार या अत्याचार के पतित-से-पतित कर्म करने में जरा भी हिचक या लज्जा न हो। वास्तविक धर्म (सच्चाई और प्रेम) के असली स्वरूप के आदर्श को भूल जाने या नहीं समझने तथा अज्ञान, अविद्या, दुराग्रह, प्रपंच और पैशाचिकता के फेर में पड़ जाने के कारण ही मनुष्य की अधोगति हो रही है। सच्चा धर्म, तो वह कल्प-वृक्ष, कल्याण का साधन एवं अखंड-ज्योति है, जिससे अज्ञान, अविद्या और अविश्वास का निबिड़ अन्धकार तत्काल ही दूर हो जाता है। धर्म और संस्कृति मानव-समाज की प्रगति के लिए दिग्दर्शक यन्त्र एवं नाविक दोनों है। यह मानव-जीवन को सार्थक बनाता है और उसे पशु तथा उद्भिज-जीवन से पृथक करता है। धर्म वह है जो मन के दायरे को दरिया बना दे। नीति वह है जो सबको नयन दे। कर्म वह है जो इस जोत को पाकर प्राणिमात्र के हित में लगे।

सन्मति महावीर ने, तो मनुष्य के भाग्य को ईश्वर अथवा देवों के हाथ से निकाल कर स्वयं मनुष्य के हाथ में रख दिया और कहा कि 'कोई किसी को सुख-दुःख देनेवाला या हरण करने वाला नहीं है, वरन् सभी व्यक्ति अपने-अपने कर्म का फल भोगते हैं।' अतः किसी देव की पूजा या उनको लहू से तृप्त करके यदि कोई चाहे कि उससे सुख प्राप्त हो, तो भगवान् महावीर ने उसे स्पष्ट ही कह दिया है कि हिंसा से तो हिंसा को उत्तेजना मिलती है। लोगों में परस्पर शत्रुता बढ़ती है और सुख-शान्ति की कोई आशा नहीं। अतः यदि सुख-शान्ति चाहते हो, तो सब जीवों से मैत्री करो, प्रेम करो एवं सब दुखी जीवों के ऊपर करुणा रखो। बिना सत्प्रयास के कोई भी तुम्हें सुख नहीं दे सकता। गुण-कर्म से तुम्हारे कर्म ही तुम्हें सुखी या दुखी करते हैं। निष्कर्ष यह कि उत्तम कर्म का उत्तम फल तथा बुरे कर्म का बुरा फल भोगना अपने ही ऊपर निर्भर है। साथ ही 'जैसे चाहो वैसे बन जाओ' की शक्ति अपने में ही अन्तर्निहित है।

अहिंसा की विजय

हिंसा से भरे हुए संसार में द्वेष-बुद्धि से सोचना तथा कार्य करना, तो आसान है, परन्तु इसमें से अद्रोह और अहिंसा का रत्न ढूँढ़ लेना ऐसा महान कार्य है, जिसका उपकार मानव-जाति कभी नहीं भूल सकती। अहिंसा के नियम

का आविष्कार विश्व-व्यापी वैज्ञानिक नियम के आविष्कार से कम महत्वपूर्ण नहीं है। यथार्थतः तो नीति के नियम और विज्ञान के भौतिक-नियम दोनों एक ही 'विश्व-ज्ञान' के दो अंग हैं, एक ही प्रकृति के नियामक हैं। अतः यदि हम थोड़ा और ऊँचे उठकर देखें तो मालूम होगा कि अहिंसा का नियम भी 'विश्व-विज्ञान' का एक महा-नियम है। आज छोटे-बड़े अनेक वैज्ञानिक सत्यों के आविष्कार से मानव-जीवन को सुख एवं स्वास्थ्य की अनेक सुविधाएँ मिली हैं, लेकिन अहिंसा के एक नियम की स्वीकृत के बिना हम सब कहाँ हैं? मानव जाति का सुख कहाँ है? मनुष्यों के मन की शान्ति कहाँ है? और कहाँ है राष्ट्र-प्रेम एवं भ्रातृ-भाव? जिसके अभाव में हरेक का जीवन नीरस तथा दुखी बना हुआ है। विज्ञान के स्वसंचालित यन्त्र जिस तेजी से संहार की दृष्टि कर सकते हैं उससे कहीं अधिक शक्तिशाली अहिंसा के स्वर हैं। वे जिस क्षण महान राष्ट्रों के कण्ठ से निकलेंगे, विश्व भर के मानव का मन आश्वस्त हो जाएगा। सभ्यता तो उसी स्थिति का नाम है। अतः मानव-समाज को विज्ञान की विनाशकारी शक्तियों के प्रकोप से मुक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम 'सत्य और अहिंसा' के मार्ग पर चलें। यह माना कि यद्यपि आज संसार उनसे बहुत दूर चला गया है तथापि हमारा यह सतत प्रयत्न हो कि उसे हम अपने मार्ग पर लाएँ। हम अपनी कोशिश में कोई कमी न करें। यह सच है कि यदि भारत अपने आदर्श के अनुरूप लोक-तन्त्र शासन में सफलता प्राप्त कर सका, तो वह संसार को अपनी ओर मोड़ सकेगा। उसके आदर्श विश्व में फैल सकेंगे।

पाठकों को यह तो ज्ञात ही होगा कि 'अहिंसा' हिंसा के अभाव को कहते हैं और हिंसा का साधारण अर्थ है किसी प्राणी को मारना। हिंसा को पापात्मक वहाँ ही माना जाता है, जहाँ मनुष्य राग या द्वेष के वशीभूत होकर जानबूझकर दूसरे जीवों को मारता या कष्ट पहुँचाता है। जहाँ किसी जीव को मारने की इच्छा नहीं, वहाँ हिंसा को पापात्मक नहीं माना जाता, चाहे हमारी किसी क्रिया से जीव मर ही जाय। मान लीजिये कि किसी का कोई विरोधी या द्वेषी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को क्रोधवश होकर कटु वाक्यों या अपशब्द द्वारा या किसी घातक अस्त्र-शस्त्र द्वारा प्रहार करने के लिए तैयार हो, तो ऐसी अवस्था में उसके कटु वचन या प्रहार को सह लेना चाहिए या उसका प्रत्युत्तर युक्तिपूर्वक देने के अतिरिक्त अगर जरूरत पड़े, तो बड़ी हिंसा से बचने के लिए कुछ हिंसा का आश्रय अपनी आत्म-रक्षा करने या पाप-कृत को रोकने के लिए करना चाहिए। जिसका उद्देश्य विरोधी पक्ष को मारना न

होकर अपना या समाज का हित करना और कुप्रवृत्ति का विनाश करना होता है। ऐसी अवस्था में प्रतिकार स्वरूप यदि कुछ हिंसा भी हो जाय, तो यह कायरता पूर्ण अहिंसा से कहीं श्रेयस्कर है। यद्यपि वीरतापूर्ण अहिंसा के सामने हिंसा तुच्छ है। वस्तुतः अहिंसा, तो वही उत्तम है जिसमें बलिदान की भावना, तो हो, परन्तु कायरता की गन्ध न हो। उदाहरणस्वरूप—किसी बलवान आततायी द्वारा अपने प्रति किये गए अन्याय या अत्याचार का सज्जनोचित या न्यायोचित रूप से प्रतिकार न करना अहिंसा नहीं, वरन् बुराई को पनपने देना है, जो कि कायरता की द्योतक है और महा दुष्कर्म भी है।

एक स्थल पर महात्मा गांधी ने लिखा है—'यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है, जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है, उसपर व्यक्तिगत कब्जा रखना भी हिंसा है। अतएव मानव-संस्कृति प्रेमी के लिए अपनी देह (शरीर) का उपयोग यही है कि वह इसे लोक-सेवा या सार्वजनिक कल्याण के लिए मिली हुई धरोहर मात्र समझे। इसकी रक्षा के लिए उसे जाने-अनजाने कुछ हिंसा करनी पड़े, तो वह इसी दशा में क्षम्य है, जब उसकी इस देह के प्रति कोई आसक्ति न हो, वह इसे एक साधन से अधिक महत्व न देता हो, अन्यथा मनुष्य को अपने मन, वाणी और कर्म से अहिंसक रहना चाहिए।'

उपर्युक्त कथन से यह प्रगट है कि अहिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसका सम्बन्ध हमारे भोजन-वस्त्र, सम्पत्ति से एवं अर्थ, समाज, राजनीति और मानव-जीवन के सभी विषयों से है। यह दूसरी बात है कि आरम्भ में बहुत से देशों के निवासियों ने इसका इतना सूक्ष्म विवेचन नहीं किया एवं अब भी, कितने ही व्यक्ति इससे इतना विकसित आशय नहीं लेते।

यद्यपि अहिंसा का सिद्धान्त सीधा सादा प्रतीत होता है तथापि पालन करने में कठिन है। यही कारण है कि बार-बार होने वाले भयंकर महायुद्ध के कुपरिणाम देखकर भी लोग युद्ध को छोड़ते नहीं और अहिंसा के मार्ग को अपनाने की अपेक्षा सब झगड़ों को निपटाने का साधन हिंसा को ही समझते हैं। निस्सन्देह विविध देशों में ज्यों-ज्यों सांस्कृतिक-विकास का कार्य आगे बढ़ा है, सभी धर्मों के प्रवर्तकों ने अहिंसा के आदर्श पर जोर दिया है, कानून से भी बढ़कर अहिंसा की शक्ति को बतलाया है और जनता को अधिकाधिक अहिंसा की ओर प्रेरित किया है। सभी धर्मों का रस यानी सार हर तरह एक ही पाया जाता है

अर्थात् अहिंसा और सत्य-सिद्धान्त पर आधारित निखिल मानवों की एकता एवं सुख, शान्ति, सेवा, प्रेम तथा सहानुभूति आदि की भावना। चाहे हम उसे हिन्दू (आर्य) धर्म, जैन-धर्म, बौद्धधर्म, ईसाई और इस्लाम धर्म आदि नाम से पुकारें, परन्तु उनके धर्म-ग्रन्थों को अच्छी तरह निष्पक्ष भाव से अध्ययन और मनन करने वाले सज्जन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इसमें बचाव के लिए कुछ विधान अवश्य निर्देश किए गए हैं, आक्रमण के लिए नहीं। अतएव यदि हम धर्म के असली स्वरूप को समझ कर अपना कर्तव्य निर्धारित कर उसके अनुरूप चलें, और 'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्, प्रियं च नानृतं ब्रूयात्' अर्थात् सदा सच बोलें, पर प्रिय बोलें। अप्रिय सत्य कभी न बोलें। प्रिय असत्य भी न बोलें।' को अपना मूल मन्त्र बनाकर अहिंसा, ज्ञान और कर्म की त्रिवेणी के पवित्र जल में स्नान करते रहें, तो समस्त अन्धविश्वास एवं मन के मैल धुल जाएँगे और हम अपने असली लक्ष्य तक पहुँच जाएँगे। जहाँ हमें अनन्त शान्ति, प्रेम, आनन्द, मुक्ति एवं मंगल प्राप्त होंगे।

राष्ट्रपिता गाँधी जी ने उपर्युक्त विषयों को ऊँचे स्तर पर रखने के उपाय ही नहीं बताए हैं, बल्कि पथप्रदर्शन भी किया और हम 'अहिंसा की अनुपम शक्ति की परीक्षा स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलन में कर चुके हैं एवं इसकी सफलता का भान भी हमें हो चुका है। सुगठित और शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार के सामने पराधीन भारत अपने आपको असहाय अनुभव कर रहा था। गाँधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन से उसमें नव-जीवन का संचार हुआ, उसने ब्रिटिश सरकार का डटकर सामना किया और अन्त में वह स्वाधीन होकर रहा। अवश्य ही आज हमारे युग में 'गाँधीवाद' या 'सर्वोदयवाद' के नाम से जिस पंथ की प्रसिद्ध हुई है, निश्चय ही यह अपने आत्मिक रूप में मूलतः 'महावीर (जैन) वाद,' बुद्धवाद' और 'गीतावाद'—अर्थात् 'राष्ट्रीयतावाद' या 'सर्वधर्म समभाव' का एक सम्मिश्रित तथा समन्वित संस्करण है।

भारत के कल्याण तथा 'विश्व-संघ' को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने विशिष्ट गुण-सम्पन्न महात्माओं के बताए हुए सन्मार्ग पर चलें। निःसंदेह वे संघर्ष-रत मानवता के लिये मार्ग-दर्शक प्रकाश-स्तम्भ स्वरूप रहे हैं। उनमें भी वे ही तत्व विद्यमान थे, जो हम सब में हैं; परन्तु उनमें उन तत्वों की बहुलता थी उनके जीवन युग-युग के लिए सन्देश स्वरूप रहे हैं। यही मुख्य कारण है कि समाज में अहिंसा, सम्पत्ति में अपरिग्रह या मतमातान्तर में समन्वय और आत्मिक सम्बन्ध स्थापित करने को आज का बड़े से बड़ा वैज्ञानिक तथा समाज-सुधारक अपनी महान सफलता समझता है।

वस्तुतः महात्मागाँधी के 'गाँधीवाद' या सर्वोदयवाद में, सन्त बिनोवा के 'भूदान-यज्ञ' या 'सम्पत्ति-दान-यज्ञ' में, खलील जिब्रान के 'मानव-वाद' में, और पूर्व एवं पश्चिम के शान्ति-वादियों में वही भगवान् महावीर के बताए हुए अहिंसात्मक ढंग का जीवन-दर्शन पाया जाता है।

आज तो विश्व के विनाश से डरी युद्ध-ध्वस्त जनता सत्य-अहिंसा का गान सुनना चाहती है। अणु-शक्ति के उपासक अमेरिका और रूस भी शान्ति के लिए व्यग्र हो रहे हैं एवं वर्ल्ड एनिमल सोसायटी तथा अहिंसा, सत्य, समन्वय और शान्ति नाम पर बनी सभाएँ हिंसा से अलग तथा अहिंसा की ओर झुकती हुई मानव-मनोवृत्तियाँ भगवान् महावीर के निर्दिष्ट-पथ पर चलकर एक मानव-जाति, एक भारतीय जाति, एक राष्ट्र या एक भारत, एक विश्व-संघ, एक नए युग और सम्पूर्ण जीवन के निर्माण और उदय का दर्शन करने के लिए उत्सुक हैं।

जिस प्रकार विशिष्ट गुण-सम्पन्न महापुरुषों का प्रादुर्भाव जन-परित्राण और मार्ग-दर्शन के लिए होता है, उसी प्रकार उनका निर्वाण (मुक्ति) भी जन-कल्याण के हेतु माना जाता है। वे किसी युग के नहीं। ऐसे नर-रत्न को काल नहीं खाता, वे सर्वकालीन और सर्वजनीन हैं। ऐसे अवतारी महात्माओं का जीवन वह प्रकाश-स्तम्भ है, जो दूर से ही प्रकाश देकर भूले-भटकों को राह दिखाता है। महामानवों का जीवन वह अमर ज्योति है, जिसकी प्रभा कभी घटती नहीं, कभी मिटती भी नहीं। ऐसे तपःपूत का त्यागमय जीवन सदा अभिनन्दनीय है, वरेण्य है। अतः आज हम यह कल्पना करें कि 'भगवान् महावीर पुनः वैशाली (जन्म-भूमि) और पावापुरी (पटना के अन्तर्गत राजगृह के निकट है। जहाँ पर लगभग २४८० वर्ष हुए कि ७२ वर्ष की आयु में दीपावली के दिन उनका निर्वाण हुआ था और जो जैनियों का पवित्र तीर्थ स्थान है) की पवित्र भूमिपर पदार्पण कर रहे हैं और भारतवर्ष की इस महिमामयी स्थली, में हजारों वर्ष पूर्व उन्होंने जो अहिंसा एवं सदाचार का संदेश दिया था और धर्म-ध्वजियों का दृढ़तापूर्वक विरोध किया था, जिससे अत्याचार-पीड़ित मानव-जाति का परम कल्याण हुआ था, इस पवित्र भूमि की धूल के कण-कण से इसी संदेश की प्रति-ध्वनि सुन पड़ती है तथा वायु का प्रत्येक झोंका भारत के घर-घर में और निखिल विश्व के सुदूरवर्त्ती भागों में इसी संदेश का संचार कर रहा है। हमें अपना एक-एक क्षण इस महत्वपूर्ण संदेश का समस्त मानव-जाति में प्रचार करने में उपयोग करते हुए अपना सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आदि उत्थान करना चाहिए।

मैं गीत लिखा करता हूँ !

जीवन के शान्त पहर में
यौवन के उद्दाम पहर में
पग, पग पर मैं रोक, रोक
अपनी बात कहा करता हूँ
मैं गीत लिखा करता हूँ !

लोल लहरियों की लहरों में
जीवन के मधु स्वप्नों में
विस्तृत जग की पीड़ा से
इतिहास रचा करता हूँ
मैं गीत लिखा करता हूँ !

हल्दी घाटी के रज-कण में
भरत-भूमि के जन-जन में
मानवता की वेदी पर
बलिदान लिये चलता हूँ
मैं गीत लिखा करता हूँ !

ऋषि कण्व के आश्रम में
वह खोज रही किसको तम में
बन व्यथा तिमिर का चिराग
वह ज्योति दिया करता हूँ
मैं गीत लिखा करता हूँ !

—श्री 'कुमार' हृदय

आफिस का क्लर्क

विमला कुमारी अग्रवाल, साहित्यरत्न

राजो जब घर से निकला तब उसका मुख क्रोध से तमतमाया हुआ था। वह कह रहा था--अभी तक खाना नहीं बना, आफिस जाने का समय हो गया। सोने की भी कोई हद होती है। रात को १० बजे सोना, प्रातः काल ७ बजे सोकर उठना।

तब तक पीछे से पत्नी ने आवाज देकर कहा--खाना तैयार है। जरा दूध गर्म है वह ठंडा हो जाता है। बस, खा जाइए। मगर राजो आगे निकल गया था। उसे पत्नी के शब्द सुनाई नहीं पड़े थे।

राजो भूखा ही आफिस पहुँचा। देखा तो बाहर ही अध्यक्ष महोदय बैठे हुए क्लर्कों के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। राजो से आगे आने वाला क्लर्क ज्यों ही आफिस के दरवाजे पर पहुँचा त्यों ही अध्यक्ष का प्रश्न हुआ--क्या आपका निवास स्थान दूर हट गया है ?

क्लर्क से कुछ उत्तर न बन पड़ा। उसने कहा--ऐसे ही जरा देर हो गई थी, घर में जरा काम था।

राजो ने प्रश्नोत्तर सोच लिया था। वह ज्यों ही आफिस के द्वार पर पहुँचा, अध्यक्ष ने प्रश्न किया--"जनाब क्या आपकी घड़ी लेट है, जरा ऑफिस के समय से इसे मिला लें।" राजो झेंप गया। बिना प्रश्नोत्तर दिए ही अन्दर पहुँचा। अन्दर जा कर देखा तो टाइप करने के लिए फाइल की फाइल रखी है। पेट में चूहे कूद रहे थे। पेट अपनी आत्मकहानी मन से कहता तथा उससे आग्रह करता कि वह घर चले। टाइप का काम जैसे तैसे समाप्त किया। घड़ी की दोनों सूई बारह पर आ टिकीं। सभी कार्यकर्ता बाहर निकले। राजो भी बाहर आया तो देखा सामने ही साला खड़ा हुआ उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। राजो ने मन में सोचा--अच्छा अवसर मिला है, इनके घर चलकर अवश्य ही कुछ खाने को मिल जायगा। घर जाने पर साले का घर लिवा जाने का रहस्य मालूम हुआ--वह था पिता पुत्र का पारस्पारिक कलह। पुत्र कलकत्ते में

व्यापार करने के लिए तुला हुआ था किन्तु पिता उसके हाथ में अभी कुछ पूंजी देना नहीं चाहते थे।

राजो के ससुराल पहुँचने पर उसके खाने की तो किसी ने परवाह नहीं की, किन्तु उसके माथे पर निर्णय का एक और भार रख दिया गया। गाँव भर के आदमी उन्हें समझाने बुझाने के लिए बैठे हुए थे; किन्तु पिता बीस तो पुत्र बाईस पड़ता था। दोनों अपने अपने पक्ष पर डटे थे। किसी की दाल नहीं गल रही थी। राजो का ऑफिस जाने का समय हो गया था। अपने कार्य में सफलता न होते देख राजो ने चलने का निश्चय किया। पिता पुत्र का वाणी विलास अब हाथापाई का रूप धारण कर चुका था। राजो ने धीमे से खिसक जाने में ही अपना कल्याण समझा। राजो जब ऑफिस पहुँचा तो १० मिनिट देर हो चुकी थी।

घड़ी की इन दोनों सूइयों पर उसे अत्यन्त क्रोध आया। इच्छा हुई घड़ी को चकनाचूर कर दे। मुख से निकल पड़ा--आज न मालूम किस पापी का मुख देखा है कि दिन भर परेशानी ही परेशानी उठानी पड़ रही है। वह धीरे से ऑफिस के अन्दर घुसा पर इस बार उससे किसी ने प्रश्न नहीं किया था। राजो ने मन में सोचा--खैरियत है। पर पीछे से आवाज आई--राजो जी!

राजो बिना उत्तर दिए अन्दर पहुँचा, नम्रता से पूछा--क्या है? अध्यक्ष ने कहा--राजो जी! आज तो काम बहुत कम और गलतियाँ अधिक हैं। देखो यहाँ ह्रस्व "इ" के स्थान पर दीर्घ "ई" हो गई है। "आ" की मात्रा ही रह गई है। इसे पुनः टाइप करो।

राजो फाइल लेकर चुपचाप चल दिया। पेट गुड़गुड़ाहट कर ऑफिस को सुना देना चाहता था कि आज राजो भूखा है। किन्तु भगवान् ने सभी को इतने बारीक कान नहीं दिए थे कि वे भूखे पेटों की आवाज अनायास ही सुन लें। सभी अपने अपने कार्य में व्यस्त थे। राजो ने चपरासी को बुलाकर पानी लाने के लिए कहा। अमृतमय पानी भी आज बिना अन्न के विष के समान कड़ुवा मालूम हो रहा था। ५ बजे तक सारा कार्य समाप्त कर राजो आफिस से बाहर आया। जेब में हाथ डालकर देखा तो एक पैसा भी पल्ले नहीं था। सोचा--उधार खाया जाय। धीमी धीमी चाल से चलता हुआ राजो ६ बजे होटल पर पहुँचा। देखा तो सभी दुकाने बंद थी होटल भी। पूछने पर पता

लगा कि श्यामा प्रसाद मुखर्जी का देहावसान हो जाने के कारण बाजार बंद है। राजो का भूखा पेट वाणी के मार्ग से बोल उठा——हे भगवान। क्या श्यामा-प्रसाद मुखर्जी को भी आज ही शरीर पूरा करना था।

राजो ने आज निश्चय कर लिया कि वह घर नहीं जायगा। वह महेन्द्र के घर पहुँचा। महेन्द्र——उसका अभिन्न मित्र। सहपाठी रह चुका है। दोनों "एक प्राण दुइ गात" हैं। भूख से व्याकुल राजो के कदम डगमगा रहे थे। पैरों में चलने की शक्ति न रह गई थी। कभी गाँधी के अनशन का ध्यान आता तो कभी आंध्रप्रांत का निर्माण करने का अनुरोध करने वाले के ऊपर आश्चर्य; जो महीने भर भूखे रहने पर भी मरे नहीं। राजो महेन्द्र के घर पहुँचा तो देखा वह ताश खेलने पर डटा हुआ है। साथ में तीन साथी और भी हैं।

"भाई महेन्द्र, नमस्ते" कहकर राजो ने महेन्द्र की समाधि भंग करते हुआ कहा——क्यों भाई, तुम भी अब अपने समय पर ध्यान नहीं देते? दुकान बंद कर यहाँ पड़े क्यों व्यर्थ समय खो रहे हो।

महेन्द्र ने कहा——मित्रवर! तुम ही तो कहा करते थे कि भोजन करने के पश्चात् ताश पाचनवटी का काम करता है। अभी अभी भोजन करके बैठा ही था कि तुम्हारी भाभी जी की कुछ सहेलियाँ आ गई और बाजार चलने को कहने लगीं। खाली पड़े घर में मन नहीं लगा, सोचा चलो जरा इसी से मन बहलाया जाय। यदि आप सहमत नहीं हैं तो अभी बंद कर देता हूँ। हाँ, जरा इनका पूरा सैट खोल दूं——केवल एक बाजी की ही देर है। आइए जरा खेलने में आप भी सहयोग प्रदान करें। विपक्षियों की विजय हुई। खेल और भी आगे बढ़ा।

राजो ने सोचा था कि भाभी जी आकर भोजन अवश्य ही बनाएँगी। किन्तु इसी समय किसी के कराहने की आवाज ने अन्य खेलने वालों का भी ध्यान भंग किया। बाहर जाकर देखा——भाभी जी बेहोश पडी थीं। काफी दौड़ धूप के पश्चात ९ बजे के लगभग उन्हें होश आया। महेन्द्र ने मुस्कुराते हुए पत्नी से कहा——देखो! ऑफिस के क्लर्क को तो तुमने पूछा ही नहीं।

राजो भी कुछ मुस्करा दिया।

वैशाली के गणतन्त्र की एक झांकी

मगधाधिपति के पाँच सौ मन्त्री थे। खण्ड प्रधान मन्त्री था। वह बड़ा योग्य और सज्जन था। उसका शासन निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण था। दूसरे मन्त्री उससे ईर्ष्या करने लगे और विविध प्रकार के जाल रचने लगे। उन्होंने राजा को झूठी बातें कहकर खण्ड के विरुद्ध भड़काना प्रारम्भ किया। खण्ड को इसका पता चल गया और उसने राज्य छोड़ने का निश्चय कर लिया। वह सोचने लगा—कहाँ जाऊँ ? श्रावस्ती, वाराणसी, राजगृह या चम्पा जाना तो ठीक न होगा। क्योंकि वे सभी एक राजा के द्वारा शासित हैं। इसलिए जो बात मगध में हुई, वहाँ भी हो सकती हैं। मुझे वैशाली जाना चाहिए। वहाँ गणतन्त्र है। किसी एक व्यक्ति की नहीं चलती। वहाँ यदि दस आदमी कोई बात करना चाहते हैं तो बीस न चाहने वाले भी निकल आते हैं।

यह सोचकर खण्ड ने वैशाली के लिच्छवियों के पास एक दूत भेजा और उनके संरक्षण में रहने की अनुमति मांगी। लिच्छवियों ने स्वीकृति दे दी। खण्ड अपने सम्बन्धियों के साथ वहाँ चला गया।

उन दिनों वैशाली तीन वसतियों (स्कन्धों) में विभक्त था—उच्च, मध्यम तथा नीच। जनता अपने अपने वर्ग के अनुसार उनमें रहती थी। गणतन्त्र के अपने नियम थे। कन्या विवाह के विषय में एक नियम था—उच्च स्कन्ध की कन्या उच्च या मध्यम स्कन्ध में ही ब्याही जा सकती है। मध्यम स्कन्ध की कन्या मध्यम तथा उच्च स्कन्ध में ब्याही जा सकती है। किन्तु नीच स्कन्ध की कन्या तीनों स्कन्धों में ब्याही जा सकती है।

विवाह के विषय में दो नियम और भी थे। उनमें से पहला यह था कि वैशाली की कन्या किसी बाहर वाले को न दी जाय। दूसरा यह था कि जो कन्या अत्यन्त सुन्दरी हो, जिसे स्त्रीरत्न कहा जाता था, वह किसी एक व्यक्ति के साथ विवाह नहीं कर सकती। उसे गणिका अर्थात् गण की नायिका बनना पड़ता था।

खण्ड उक्च वर्ग का व्यक्ति था। इसलिए उसे उच्च स्कन्ध में स्थान दिया गया था। जब लिच्छवियों की समिति हुई तो खण्ड को भी आमन्त्रित किया गया किन्तु वह उपस्थित नहीं हुआ। कारण पूछने पर उसने कहा—इस प्रकार की परिषद् के कारण ही मुझ पर विपत्ति आई। इसलिए मैं उसमें नहीं जाना चाहता।

लिच्छवियों के विशेष आग्रह से उसने समिति में जाना तो प्रारम्भ कर दिया किन्तु वहाँ जाकर शान्त बैठा रहता। किसी विषय में अपनी सम्मति न देता। उसे डर था कि कहीं सम्मति देने से कोई विपत्ति न खड़ी हो जाय। किन्तु गण के कार्यकर्ताओं ने उसके भय को दूर कर दिया और वह अपनी सम्मति देने लगा।

खण्ड के आने से पहले लिच्छवि परस्पर व्यवहार करते समय और लिखते समय रूखी भाषा का प्रयोग करते थे किन्तु जब से उसने विचारविनिमय में भाग लेना प्रारम्भ किया वे नम्र और सभ्य भाषा का प्रयोग करने लगे। सभी इस बात को जान गए कि यह खण्ड का ही प्रभाव था।

उन दिनों गण के सरकारी पत्रों में इस प्रकार लिखा जाता था···प्रमुख गण आज्ञा देता है। जैसे—"खण्डप्रमुख गण आज्ञा देता है। सिंहप्रमुख गण आज्ञा देता है"

खण्ड के दो पुत्र थे। गोप और सिंह। गोप बड़ा था। वह बुरे कार्यों में प्रवृत्त हो गया इसलिए लिच्छवि उसपर रुष्ट हो गए। खण्ड ने उसे किसी दूर देश में जाकर व्यापार करने की सलाह दी जिससे गण की अप्रसन्नता दूर हो जाय। गोप ने पिता की बात मान ली।

कुछ समय बीतने पर वैशाली गणतन्त्र के सेनापति की मृत्यु हो गई। गण ने उस पद के लिए खण्ड को चुना। कुछ समय बाद उसकी भी मृत्यु हो गई। नए सभापति का चुनाव करने के लिए गण की सभा एकत्रित हुई। कुछ सदस्यों ने कहा—खण्ड ने हमारे गण को सुरक्षित और सुव्यवस्थित किया इसलिए हमें इस पद के लिए उसके पुत्रको चुन लेना चाहिए। दूसरों ने कहा—खण्ड के दो पुत्र हैं। बड़ा पुत्र असभ्य, ईर्ष्यालु तथा दुष्ट है। वह गण में भेद डाल देगा। उसके छोटे लड़के सिंह को चुना जा सकता है। वह सरल तथा मिलनसार है। उसके साथ रहने में आनन्द आता है। वह गण को सन्तुष्ट रख सकेगा। यदि वह स्वीकार कर लेवे तो उसे सेनापति चुन लेना चाहिए। प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। सभी सदस्य इकट्ठे होकर सिंह के पास गए, और उससे सेनापति का पद स्वीकार करने की प्रार्थना की। सिंह ने कहा—"गोप मेरा बड़ा भाई है। आप लोग कृपा करके उसे सेनापति बना लीजिए।" उन्होंने उत्तर दिया—सिंह ! सेनापति का पद आपका वंशक्रमागत नहीं है। सेनापति वही बनता है जिसे गण चाहता है। यदि आप इसे स्वीकार न करेंगे तो हम किसी दूसरे को चुन लेंगे। सिंह ने सोचा—इस पद को जाने देना ठीक

नहीं है। सिंह ने स्वीकृति दे दी। गण ने बड़े सम्मान के साथ उसे सेनापति चुन लिया।

जब गोप को यह मालूम पड़ा तो वह सिंह पर क्रुद्ध हो गया। उसने सिंह से कहा—"भाई! बड़े भाई के जीवित रहते क्या तुम्हारे लिए सेनापति बनना उचित है?" सिंह ने सारी बातें ठीक ठीक कह दी। किन्तु गोप का क्रोध शान्त न हुआ उसने वैशाली को छोड़ने का निश्चय कर लिया। उसे यह अपना अपमान प्रतीत हुआ कि जो पद छोटे भाई को दिया गया है उसके लिए उससे पूछा तक न गया। वह वापिस राजगृह चला गया। राजा बिम्बसार ने उसे अपना मन्त्री बना लिया।

सिंह की दो कन्याएँ थीं। छोटी सभी शुभ लक्षणों से युक्त थी। राजा बिम्बसार की पटरानी का देहान्त हो गया। वह शोक से विह्वल हो उठा। गोप ने उसकी दशा देखी तो अनुमति लेकर अपने भाई की छोटी कन्या का विवाह बिम्बसार के साथ करने को लिखा। सिंह ने उत्तर दिया—"भाई साहेब! यद्यपि आप दूर चले गए हैं फिर भी मुझे आपसे पूछ कर ही सब कुछ करना है। मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। आप जानते हैं, वैशाली गणतन्त्र का यह नियम है कि यहाँ की कन्या बाहर नहीं ब्याही जाती।" फिर भी गुप्त रीति से सिंह की बड़ी लड़की बिम्बसार को ब्याह दी गई। इस कारण बिम्बसार और लिच्छवियों में भयङ्कर युद्ध हुआ। इस में लिच्छवि हार गए और उन्होंने राजपुत्रों से बदला लेने का निश्चय किया।

—इन्द्र
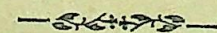
[पृष्ठ ३२ से आगे]

ही प्रकाश में लाने से इतिहास का कार्य सरल होगा। जैनाचार्यों के इतिहास के विषय में अभी बहुत कुछ संशोधन बाकी है। विद्वान लोग उस अंधकार को दूर करने में अपनी शक्ति खर्च करेंगे तो सबका मार्ग सरल होगा। व्यर्थ के आक्षेप प्रत्याक्षेप से किसी को कोई लाभ होगा नहीं। —जैन संदेश से

सिद्धिविनिश्चय और अकलंक

प्रो० दलसुखभाई मालवणिया

ता० ७ जनवरी का 'जैन संदेश' (साप्ताहिक) का अंक जैन साहित्य और उसके इतिहास की चर्चा से भरा हुआ है। यह एक शुभ चिन्ह है। ऐसी चर्चा की उत्तेजना का कारण श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम की साहित्य के इतिहास की योजना है। इस योजना को साम्प्रदायिक बताया गया है और दिगम्बर समाज से सिफारिश भी की गई है कि वह उस योजना से अपने को दूर रखे। दूर रहकर भी यदि वह असांप्रदायिक इतिहास के निर्माण की कोई योजना बनाकर कुछ कार्य करेगा तो यह एक अच्छी ही बात होगी। इस विषय में मुझे अधिक कुछ भी नहीं कहना है।

किन्तु यहाँ, उक्त अंक में जो पं० कैलाशचन्द्र जी का लेख छपा है, उसी के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। उनका यह जो आक्षेप है कि डॉ० इन्द्रचन्द्र ने किसी खास व्यक्ति का अनुसरण करके 'श्रमण में तालिका छापी है और प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्यों को श्वेताम्बर आचार्य के बाद ही माना है और इतिहास में ऐसा ही रहेगा, इतिहास की साम्प्रदायिकता का इससे बढ़कर कोई प्रमाण नहीं, इत्यादि। इस विषय में इतना ही कहना है कि डॉ० इन्द्रचन्द्र ने जो तालिका छापी है वह किसी खास व्यक्ति के मत का अनुसरण नहीं करती, वह तालिका उन्हीं के दिमाग की सूझ है। और इतिहास में वही क्रम रहेगा, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। चर्चा के लिए सब स्वतंत्र हैं। किन्तु एक व्यक्ति का लिखा किसी अन्य व्यक्ति पर थोपकर किसी को बदनाम करने की यह चाल शोभा नहीं देती। भूल किससे नहीं होती? किन्तु भूल के पीछे साम्प्रदायिकता ही छिपी है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। डॉ० इन्द्रचन्द्र अपने विचार के लिए स्वतंत्र हैं जैसा अन्य कोई हो सकता है। किन्तु उनके सभी विचार संपादक को भी मान्य होंगे और इतिहास में भी स्थान पाएँगे, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। वे व्यवस्था समिति के संयुक्त मंत्री हैं और क्या कैसे लिखा जायगा उसका निर्णय तो संपादक समिति में ही हो सकता है, व्यवस्था-समिति में नहीं। उनके द्वारा छापी गई तालिका उन्होंने संयुक्त मंत्री के नाते तो छापी नहीं है, अपने व्यक्तिगत रूप में छापी है। उसमें जो भ्रम हो, उसे दूर करना एक बात है और उसको लेकर सारी योजना को ही बदनाम करना दूसरी बात है।

अकलंक के समय की चर्चा करते हुए पं० कैलाशचन्द्र जी ने लिखा है कि दूसरे सिद्धिविनिश्चय की कल्पना करना साम्प्रदायिक व्यामोह है। जब आचार्य जिनविजय जी ने दूसरे सिद्धिविनिश्चय की कल्पना की थी तब उनका साम्प्रदायिक व्यामोह नहीं था किन्तु ऐतिहासिक की दृष्टि कितनी पैनी हो सकती हैं—उसका एक प्रबल प्रमाण ही उन्होंने दिया था। सद्भाग्य से दूसरे सिद्धिविनिश्चय का अब पता लग गया है और पं० कैलाशचन्द्र जी ने जिस उदारता से 'संजद पद' के अस्तित्व को स्वीकार किया था उतनी ही उदारता इस विषय में भी दिखाएँगे, ऐसा मुझे विश्वास है। और भविष्य में किसी के विषय में ऐसा आक्षेप करने से पहले ही एक बार सोचेंगे, ऐसी आशा मैं उनसे कर सकता हूँ।

शाकटायन आचार्य ने स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखा है। इसकी एक टीका हाल ही में मुनि श्री पुण्यविजय जी को खंभात के जैनभंडार से मिली है। उसमें मूल करिकाओं की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि "यत् संयमोपकाराय" इत्यादि जो दो कारिकाएँ हैं, वे शाकटायन ने आचार्य शिवस्वामी के सिद्धिविनिश्चय से उद्धृत की हैं। इस प्रमाण के रहते अब यह सिद्ध होता है कि शाकटायन आचार्य से पहले भी एक सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रंथ बना था जो अकलंक के सिद्धिविनिश्चय से भिन्न था।

आचार्य हरिभद्र ने अकलंक का निर्देश किया है इस बात को न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में से पंडित जी ने इस लेख में फिर दोहराया है। किन्तु पं० जी से निवेदन है कि वे अनेकांतजयपताका के पूरे सन्दर्भ को देखें। 'जयपताका' में 'अकलंक-न्यायानुसारी' यह वचन पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष दोनों जगह आया है। पण्डित जी ने एक ही जगह इसे देखा और अकलंक शब्द को ही देखकर मान लिया कि उससे अकलंक नामक जैनाचार्य का उल्लेख होता है। किन्तु वस्तुतः वहाँ अकलंक नामक आचार्य से कोई संबंध नहीं है। बौद्ध अपने पूर्वपक्ष में कहता है कि हमारा यह वक्तव्य अकलंक-न्यायानुसारी है और हरिभद्र कहते हैं कि तुम्हारा वैसा कहना अकलंक-न्यायानुसारी नहीं हैं। बौद्ध अपने पक्ष को अकलंक अर्थात् निर्दोष तो कह सकता है किन्तु उसे आचार्य अकलंक के न्यायानुसार बताए, ऐसा कैसे हो सकता है। आशा है पंडित जी उस प्रकरण को दुबारा देखेंगे और अपना भ्रम दूर करेंगे।

अंत में इतना ही निवेदन है कि व्यक्तिगत आक्षेपों को छोड़कर तथ्यों की

[शेष पृष्ठ ३० पर देखिए]
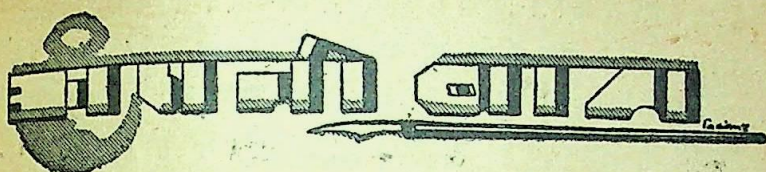
जैनसमाज और यतिवर्ग

जैन समाज में साधु और श्रावकों के बीच एक तीसरे वर्ग की स्थापना के लिए कई बार प्रयत्न हुए हैं। विचारक वर्ग इस बात का अनुभव कर रहा है कि साधु अपनी आचार सम्बन्धी मर्यादाओं में इतने बँधे हुए हैं कि प्रचार के आधुनिक साधनों को नहीं अपना सकते। वे रेल द्वारा यात्रा नहीं कर सकते, कच्चा पानी नहीं पी सकते, आवश्यक खर्च के लिए भी पास में पैसा नहीं रख सकते, रात को किसी बड़ी सभा में जाकर भाषण नहीं दे सकते, यहाँ तक कि ध्वनिवर्धक यन्त्र पर भी नहीं बोल सकते। इनके अतिरिक्त आहार तथा आचार सम्बन्धी अन्य कठिनाइयाँ भी पद पद पर उपस्थित होती रहती हैं। अध्ययन के लिए भी उन्हें उचित सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो पातीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उपाश्रय में बैठ कर अपनी योग्यतानुसार शास्त्र आदि सुना देने या अपने गुरु से ही आगमों का वाचन कर लेने के अतिरिक्त यदि कोई साधु प्रचार या अध्ययन के लिए प्रवृत्त होता है तो उसकी मुनिवृत्ति में शैथिल्य आए बिना नहीं रहता। यह बात दूसरी है कि उसे नगण्य समझ कर उपेक्षा कर दी जाय।

ऐसी स्थिति में हमारे सामने दो विकल्प आते हैं—पहला विकल्प यह है कि धर्मप्रचार का उत्तरदायित्व साधुओं पर रहे और प्रचार तथा अध्ययन में बाधक बनने वाली मर्यादाओं को प्रकट रूप से छोड़ दिया जाय। इसमें किसी प्रकार की दुविधा या द्राविड प्राणायाम नहीं होना चाहिए। यदि हम एक साधु के लिए आवश्यक मानते हैं और उसके लिए पण्डित को रखना ही है तो यह भी आवश्यक है कि वह किसी एक स्थान में रह कर अधिक से अधिक समय अध्ययन में लगावें। इसके लिए उसे सारी सुविधाएँ बिना किसी आड़ से खुले रूप में प्राप्त होनी चाहिए। उसे एक पाठशाला के विद्यार्थी के समान ही रहना पड़ेगा। इसके बिना ठोस पाण्डित्य दुराशा मात्र है। व्यापक प्रचार के लिए भी इसी प्रकार मर्यादाओं का शिथिलीकरण अनिवार्य है। दूसरा विकल्प है साधुओं का मुख्य ध्येय आत्म-कल्याण मान कर चलना।

उनसे यही आशा करना कि वे आत्मोद्धार की शास्त्र प्रतिपादित मर्यादा पर दृढ़ रहें। उसे अक्षुण्ण रखते हुए धर्म प्रचार या ज्ञान प्राप्ति के लिए जितना हो सके, करें किन्तु चारित्र की मर्यादा में किसी प्रकार का शैथिल्य न आने दें। हम समझते हैं, धर्मसंस्था का प्रतिष्ठान ऐसे व्यक्ति ही हुआ करते हैं। वे उपदेश दें या न दें; ऊँचे ऊँचे ग्रन्थों का अध्ययन करें या न करें किन्तु उनकी आत्मशुद्धि, उनका पवित्र जीवन और उनकी तपस्या मौन रह कर भी इतना महान् कार्य करेगी जो बड़े बड़े प्रचारक नहीं कर सकते। किन्तु यह आवश्यक है कि त्याग में सचाई हो, उसमें किसी प्रकार का दिखावा न हो। ऐसी स्थिति में साधु समाज प्रचार आदि प्रवृत्तियों के दायित्व से मुक्त हो जाता है। और उसका लक्ष्य एकमात्र आत्म-साधना रह जाता है।

इस समय हमारा साधुसमाज एक दुविधा में पड़ा हुआ है। एक ओर वह अपने को आत्म-साधना का पथिक मानता है दूसरी ओर समाज-रक्षा के लिए भी चिन्तित है। वह अपने अनुयायिओं की संख्या बढ़ाना चाहता है। साहित्य-निर्माता, युगप्रवर्तक तथा उद्धारक बनना चाहता है। संस्था तथा संगठनों की स्थापना करके अपने नाम को अमर करना चाहता है। समान-तन्त्र प्रतिपक्षियों के विरुद्ध मोर्चा खड़ा करना चाहता है। किन्तु ये सब कार्य आत्म-साधना के विक्षेप हैं। वस्तुतः देखा जाय तो इनमें धर्मप्रचार का नारा लगाकर लोकेषणा काम करती है और लोकेषणा से अभिभूत व्यक्ति आत्म-साधक नहीं बन सकता।

हम समझते हैं, साधुसंस्था को इन प्रवृत्तियों में न पड़ना चाहिए। उसे अपने चारित्र के उच्चतम आदर्श भी कायम रखना चाहिए। इसके विपरीत जो व्यक्ति गार्हस्थ्य के झंझटों से दूर रहते हुए अध्ययन, धर्मप्रचार या अन्य सात्त्विक प्रवृत्तियों में अपना जीवन अर्पित करना चाहें उन्हें नए वर्ग के रूप में सामने आना चाहिए।

इस प्रकार के वर्ग का प्रश्न उपस्थित होने पर यति समाज की चर्चा भी आवश्यक हो जाती है। जैन समाज में यतियों का एक ऐसा वर्ग है जो न साधु हैं और न गृहस्थ। वह अपने पास रुपया पैसा रखता है, रेलगाड़ी, पालकी तथा अन्य वाहनों को काम में लाता है, स्थावर तथा जंगम सम्पत्ति रखता है किन्तु विवाह आदि करके गार्हस्थ्य के प्रपंच में नहीं पड़ता। वास्तव में देखा जाय तो वह जैन धर्म की प्राचीन साधु संस्था का अवशेष है। जब

जैन साधुओं ने विद्या मन्त्र तथा चमत्कारों के आधार पर राज्य सम्मान प्राप्त करना चाहा और इस प्रकार त्याग की उपेक्षा होने लगी तो उसी संस्था ने विकृत होते हुए यतियों का रूप धारण कर लिया। दादा जिनदत्त सूरि हीरविजय सूरि, जिनकुशल सूरि, आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि महापुरुष इसी परम्परा में हुए थे। सिद्धसेन दिवाकर के जीवन में भी राज्याश्रय की घटना आती है। धीरे धीरे यति समाज को राज्य की ओर से कई प्रकार के सम्मान प्राप्त हुए और वह निर्ग्रन्थ त्यगियों की संस्था न रहकर राजमान्य संस्था बन गई। इस संमान की ओर आकर्षित होने पर यतिसमाज मन्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि लौकिक विद्याओं की ओर अधिक ध्यान देने लगा। धर्मशास्त्र को उसने वहीं तक अपने पास रखा जहाँ तक उसका सम्बन्ध क्रिया-काण्ड या अन्य अनुष्ठानों से है। इस प्रकार जैन समाज में ब्राह्मणों के समान एक ऐसा वर्ग बन गया जो मन्दिर-प्रतिष्ठा पर्युषणपर्व उपधान तप आदि अनुष्ठानों में पौरोहित्य का कार्य करने लगा। जिस प्रकार राजसम्मान और उससे प्रसूत लोकेषणा एवं वित्तेषणा ब्राह्मणवर्ग के पतन का कारण बनी उसी प्रकार उनके कारण यति समाज ने महत्व पूर्ण कार्य किया है। मुसलमान बादशाह तथा अन्य नरेशों को प्रभावित करके जैन मन्दिर तथा अन्य कार्यों के लिए विविध प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त करना उन्हीं का कार्य है। ज्योतिष, मन्त्र तन्त्र आदि के चमत्कारों द्वारा उन्होंने साधारण जनता को विशाल संख्या में जैन बनाया और पुराने जैनों को स्थिर किया। इससे भी अधिक महत्व-पूर्ण कार्य जैन साहित्य की रक्षा का है। राजस्थान, गुजरात, पंजाब आदि में यतिओं ने सैकड़ों की संख्या में ग्रन्थभण्डार स्थापित किए और उनमें हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह किया। जैसल्मेर, पाटण, खम्भात आदि के ऐतिहासिक ग्रन्थ भण्डार यति समाज की देन हैं। उनकी अपनी विद्योपासना प्रायः लौकिक विद्याओं तक सीमित रही है फिर समाज की इस बहुमूल्य सम्पत्ति के रक्षण के लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया है वह कम नहीं हैं।

कई जगह यतिओं के लिए कुलगुरु शब्द का प्रयोग हुआ है। वास्तव में वे जैनियों के कुलगुरु होते थे। जैन बालक में विद्या तथा धर्म के संस्कार डालना, जैनविधि से पूजा पाठ करना तथा अन्य संस्कार करना यतियों का काम था। तपस्या तथा त्याग को प्रधानता देने वाले जैन धर्म में लौकिक संस्कारों के लिए गृहस्थ समाज ब्राह्मणों के अधीन रहा है। यति समाज ने उससे मुक्ति दिलाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है। परिणाम स्वरूप

ओसवालों में विवाह के अतिरिक्त सभी संस्कार यतियों द्वारा कराए जाते हैं और उनमें जैनधर्म का वातावरण बना रहता है।

त्याग को प्रधानता देने वाले धर्म को ऐसी लौकिक बातों में पड़ना चाहिए या नहीं, यह एक दूसरा प्रश्न है। त्याग को ध्येय मानकर चलने वाला तो समाज या पन्थ भी खड़ा नहीं करता। किन्तु यदि यह माना जाता है कि जैन समाज का स्वतन्त्र अस्तित्व है और उसे स्वतन्त्र रूप से खड़े रहना है तो उसके लिए ऐसी बातें अनिवार्य है और उनके संचालन करने के लिए एक वर्ग भी आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति हमारा यति समाज करता रहा है।

जब जब धर्म के नाम पर मिथ्या आडम्बर बढ़ा तो जैन समाज में भी क्रान्तियाँ हुईं। उन क्रान्तियों ने यतिसमाज की प्रतिष्ठा पर कठोर आघात किया। मूर्ति के नाम पर बढ़ी हुई हिंसा और आडम्बर को देखकर पन्द्रहवीं सदी में लोंकाशाह ने एक क्रान्ति की। उससे एक ऐसी साधुसंस्था का जन्म हुआ जो इस प्रकार की प्रवृत्तियों को छोड़कर त्याग का सच्चा आदर्श उपस्थित कर सके। किन्तु धीरे धीरे वह भी आडम्बर प्रधान बन गई। सत्रहवीं सदी में धर्मसिंह जी महाराज ने फिर एक क्रान्ति की और चारित्र शुद्धि की ओर लक्ष्य दिया। उसी का परिणाम स्थानकवासियों का वर्तमान साधु समाज है। दूसरी ओर मूर्तिपूजकों में एक जागृति पैदा हुई जिससे वहाँ भी किसी प्रकार का परिग्रह न रखने वाले साधुवर्ग की स्थापना हुई। स्वाभाविक रूप से गृहस्थ वर्ग इस त्यागी वर्ग को अधिक श्रद्धा से देखने लगा। यति समाज और इस नए वर्ग में संघर्ष भी हुआ किन्तु उससे यति समाज की प्रतिष्ठा को और भी धक्का लगा। परिणाम स्वरूप इस समय चारित्र की दृष्टि से यति-समाज की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। फिर भी पूजा-पाठ आदि लौकिक आचारों के लिए उन्हें अब भी माना जाता है। जहाँ साधु नहीं होते वहाँ उन्हें शास्त्र-वांचन आदि के लिए भी बुला लिया जाता है। दूसरी ओर यतिवर्ग, ज्योतिष, वैद्यक, यन्त्र-तन्त्र, पूजापाठ आदि को अपनी आजीविका का साधन मानकर उचित तैयारी रखता है।

अब हमारे सामने प्रश्न है—साधु और श्रावक के बीच जिस तीसरे वर्ग की आवश्यकता अनुभव की जा रही है क्या यतिसमाज उसकी पूर्ति कर सकता है? हम यह मानते हैं कि इसके लिए यतिसमाज को कुछ सुधार करना होगा।

उसे समाज सेवा की सच्ची भावना से विद्योपासना करनी होगी। चारित्र के विषय में भी अमुक दृढ़ता लानी होगी। किन्तु ऐसा हो जाने से उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाएगी। यदि हमारा यति समाज चाहे तो अपने उपाश्रयों को विद्याकेन्द्रों के रूप में बदल सकता है। प्रत्येक उपाश्रय में एक छोटा या बड़ा पुस्तकालय रहे। वहाँ रहने वाले यति अपने शिष्यों को पढ़ाएँ, साथ ही समाज के बालकों में धर्म के संस्कार डालें। उनके इस उपयोगी कार्य में समाज भी यथाशक्ति सहयोग देने को तैयार रहेगा। इस प्रकार वे समाज के आवश्यक अंग बन जाएँगे और अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकेंगे।

इसके लिए हम नीचे लिखे सुझाव रखना चाहते हैं—

१. प्रत्येक यति को जैनधर्म के मूलतत्त्वों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। साथ ही लेखन तथा भाषण का भी उचित अभ्यास करना चाहिए।

२. प्रत्येक उपाश्रय में एक धार्मिक पाठशाला होनी चाहिए जहाँ यति जी समाज के बालकों को धर्म तथा हिन्दी का प्रारम्भिक ज्ञान कराएँ।

३. सुविधानुसार उच्च अभ्यास तथा अनुशीलन की ओर भी लक्ष्य दिया जाय।

४. जहाँ जहाँ प्राचीन पुस्तकालय हों वहाँ से अप्रकाशित ग्रन्थों को प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाय।

५. जो यति प्रतिभासम्पन्न हों और व्याख्यान द्वारा दूसरों को प्रभावित कर सकते हों उन्हें प्रचार के लिए भेजा जाय।

हम आशा करते हैं, यतिसमाज इस ओर ध्यान देगा और अपनी गतिविधि को ऐसी बनाएगा जिससे वह समाज के लिए अधिक से अधिक उपयोगी सिद्ध हो सके।

—इन्द्र

कल्याण—नारद-विष्णुपुराण अंक

प्रसिद्ध 'कल्याण' मासिक ने विशेषांकों की परम्परा में अपने २८ वें वर्ष के प्रथम अंक के रूप में उक्त दो पुराणों का संक्षिप्त हिन्दी संस्करण प्रकाशित करके एक और महत्त्वपूर्ण कड़ी जोड़ी है। इसके लिए भक्तजन और सामान्य जिज्ञासु 'कल्याण' संचालकों के आभारी रहेंगे ऐसा हमारा विश्वास है। 'कल्याण' संचालकों की संक्षेप करने में एक खास दृष्टि है। 'पुराणों में कई प्रसंग ऐसे हैं जो सत्य इतिहास तो हैं किन्तु आज की जनता के लिए वह हानिप्रद है और तामसी उपासना के प्रसंग भी हैं जिनका जनता में प्रचार इष्ट नहीं।' ऐसी मान्यता को लेकर कल्याण संपादक यहाँ जो पुराण का हिन्दी संक्षिप्त रूप उपस्थित करते हैं वह हूबहू नहीं है। छवि भी नहीं है किन्तु कुछ अंगों को काटकर विकलांग बनाकर ही हमारे सामने रखते हैं। अतएव संक्षिप्त संस्करण का अर्थ यह नहीं है कि पुनरावृत्ति और विस्तार का ही निराकरण करके जो जो रूप बने वह उपस्थित किया जाय। किन्तु संपादक को जो विषय आज की दृष्टि से हानिकर लगे उसे भी निकाल कर जो रूप बने वह हमारे सामने रखा जाय। पुराण जैसे बड़े बड़े ग्रन्थों का प्रकाशन व्यय अत्यधिक होने से अन्य प्रकाशक उन्हें प्रकाशित करने का साहस नहीं करते अतएव यह आवश्यक है कि पुराणों का प्रकाशन सिर्फ भक्तजनों के लिए ही नहीं किन्तु सभी प्रकार के जिज्ञासुओं की दृष्टि से भी हो। हम संपादक महोदय से प्रार्थना करेंगे कि आगे जो पुराण प्रकाशित करें उनमें से काँट छाट न करें जिससे सभी प्रकार के जिज्ञासु उनसे पूरा पूरा लाभ उठा सकें। कलियुगमें निषिद्ध कह करके भी बहुत सी पुराण की बातों का निराकरण स्वयं भक्त जन कर लेंगे। किन्तु हानिकर या [illegible] समझकर उन बातों को हिन्दी संस्करण में से हटा देना युक्त प्रयत्न नहीं होता।

अंक में कल्याण की सुस्थित परम्परा के अनुसार कई चित्र दिए गए हैं। फिर भी इस अङ्क का मूल्य सिर्फ ७ा।) रखा गया है। भक्तजन इससे पूरा लाभ उठावेंगे ऐसा विश्वास है।

नारद पुराण में शिव और विष्णु की भक्ति का अच्छा समन्वय किया गया है। शिव और विष्णु के भक्तों में एक दूसरे को हीन बताने की वृत्ति का लोप

होकर जब समन्वय भावना का उदय हुआ है तब नारद पुराण जैसे पुराणों का आविर्भाव हुआ है। फलतः भगवान के भक्त का नया लक्षण हमारे सामने उपस्थित हुआ है कि—

शिवे च परमेशे च विष्णौ च परमात्मनि ।
समबुद्धया प्रवर्तन्ते ते वै भागवताः स्मृताः ।।

भक्त सज्जनों के लिए यह आवश्यक है कि इस समन्वय भावना का विस्तार करें और मानव जाति के जितने भी उद्धारक हुए हैं या होते हैं उन सभी के प्रति विष्णु और शिव जैसा ही आदर रखें।

—दलसुख मालवणिया

ज्ञानोदयः (सरस, सजीव चित्रमय मासिक) सम्पादकः—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'; ज्ञानोदय कार्यालय सहारनपुर; वार्षिक ९), एक प्रति ।।।)

भारतीय ज्ञानपीठ काशी का 'ज्ञानोदय' अब सहारनपुर से प्रकाशित होने लगा है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि यद्यपि 'ज्ञानोदय' की दृष्टि अब वह नहीं रह गई है जो इसके प्रथम दो वर्षों में थी, पर अब उसकी दृष्टि सीमित नहीं रह गई है। अब उसने काफी विस्तृत दायरे को अपनाया है। 'ज्ञानोदय' का यह नया रूप अब केवल साहित्य, कला, संस्कृति का ही संगम नहीं, वरन् जन, जीवन और जहान की त्रिवेणी भी है। इतनी व्यापक दृष्टि वाला हिन्दी में कोई पत्र नजर नहीं आता। राष्ट्रनिर्माण, समाज सोचता है, अतीत का वैभव, इतिहास के पृष्ठ, आज का विज्ञान, भारत के नगर, बोलती तस्वीरें, संस्कृति दर्शन और धर्म, हमारे जीवित तीर्थ, पड़ोसी और प्रवासी, अध्ययन और चिन्तन आदि स्तम्भ 'ज्ञानोदय' की विशाल दृष्टि के परिचायक हैं। अन्य पत्रों की अपेक्षा 'ज्ञानोदय' की एक प्रमुख विशेषता है कि इसका उद्देश्य अब रचनात्मक हो गया है। इस उद्देश्य से संबंधित रचनाएँ अन्य पत्रों में बहुत ही कम देखने में आती हैं। श्री प्रभाकर जी के सम्पादकत्व में 'ज्ञानोदय' का नया रूप बहुत ही निखर उठा है। और उनकी मौलिक सूझ-बूझ का परिचायक है। अमेरिकन 'लाइफ' का यह आकार, प्रकार, रूप-रंग में हिन्दी रूप तो है ही, पर इसकी रचनाएँ 'लाइफ' नाम को भी चरितार्थ करती हैं। 'ज्ञानोदय' हिन्दी पत्र जगत में मील का पत्थर है।

—महेन्द्र 'राजा'

विद्याश्रम समाचार

समिति की बैठक

श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति की मैनेजिंग कमेटी की बैठक अमृतसर में ता० २० दिसम्बर १९५३ रविवार को लाला कुंजलाल ओसवाल देहलवी की अध्यक्षता में हुई थी। स्वर्गीया प्रवर्तिनी श्री राजमति जी के देहावसान पर शोक प्रस्ताव के सम्बन्ध में १ मिनट चुप रहने के बाद अहमदाबाद में विद्वन्मण्डल का जो अधिवेशन गत २९ अक्टूबर को एकत्रित हुआ था, उसकी जैन साहित्य के इतिहास की तैयारी के सम्बन्ध में विस्तृत कार्यवाही श्रमण में से सुनकर सभा ने सन्तोष प्रगट किया और आशा जाहिर की कि यह महत्त्वपूर्ण योजना यथासमय पूर्ण हो जाएगी। अधिवेशन में जो तीन—व्यवस्था, परामर्श और सम्पादक—उपसमितियां बनाई थीं, उनको भी स्वीकृत किया गया। श्री रत्नचन्द सेमलानी, बांदरा (बम्बई) और श्री जगन्नाथ जैन, विल्ले पार्ले (बम्बई) को उनके ५०१, ५०१ रुपये दान देने के उपलक्ष्य में विषय नं० ६ (४) (b) वे अनुसार आजीवन सदस्य घोषित किया गया, पंजाब में मितिदान इकट्ठा करने के लिए और समिति की प्रवृत्तियों का परिचय देने के लिए उत्साह पूर्वक तारीखें आदि निश्चित की गईं। डॉ० इन्द्रचन्द्र जी ने अभीतक अपने 'जैन ज्ञानवाद' को प्रकाशनार्थ पुस्तकाकार नहीं दिया है, इस हालत पर खेद और परेशानी जाहिर की और चिन्ता प्रकट की कि इससे प्रकाशन का खर्च सहन करने वाली संस्था और उसके संचालकों का उत्साह आहत होता है। उन्होंने चाहा कि डॉ० इन्द्रचन्द्र जी का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाए कि ऐसा न करने से स्वयं उनका भी अहित है।

पदाधिकारियों के चुनाव में लाला त्रिभुवननाथ कपूरथला—प्रमुख स्थान पर; लाला हरजस राय जैन अमृतसर—मन्त्री स्थान पर और लाला मुनिलाल जैनी अमृतसर—खज़ांची स्थान पर सर्वानुमति से पुनः निर्वाचित हुए।

अन्त में सभा ने अपने सदस्यों और समिति के मित्रवर्ग से अपील की है कि अपने अपने क्षेत्र में मितिदान, श्रमण के ग्राहक और विविध दान प्राप्ति के लिए अपने प्रभाव से सहायता करें।

इस अवसर पर यह हर्ष समाचार है कि १३-१२-५३ को अमृतसर के युवक समुदाय ने मन्त्री को समिति के कार्यों का परिचय देने के लिए निमन्त्रित किया। इसी प्रकार जैन युवक मण्डल जालन्धर शहर और जैन आदर्श संघ, होशियारपुर ने सहयोग का इजहार किया है। —हरजसराय जैन, मंत्री

—जैन साहित्य के इतिहास की चर्चा—

'श्रमण' के पाठक जानते हैं कि जैन साहित्य के इतिहास के निर्माण की चर्चा 'श्रमण' में लगातार चलती आ रही है। इन दिनों दूसरे जैन पत्रों ने भी इसकी चर्चा खूब की है। कई एक पत्रों में तो एक ही अंक में तीन २ लेख छपे हैं, जिनमें मथुरा का साप्ताहिक 'जैन सन्देश' प्रमुख है। यह पत्र, जब से यह योजना सामने आई है, इसमें तभी से पूरी दिलचस्पी ले रहा है। भावनगर के 'जैन' (गुजराती) पत्र ने भी समय-समय पर काफी चर्चा की है। अब 'अनेकान्त' तथा 'जैनगजट' देहली आदि पत्रों का भी इस ओर ध्यान गया है।

चर्चा पक्ष-विपक्ष में दोनों तरह की है। जिसको हम इस योजना की सफलता के लिए शुभ लक्षण ही मानते हैं। इससे जैन समाज में जागृति पैदा होगी और उसका ध्यान इस महत्व के कार्य की ओर जाएगा। जिसकी कि आज जैन समाज को परम आवश्यकता है। संस्था के कार्यकर्ताओं तथा इस योजना के संचालक विद्वानों के लिए तो यह चर्चा विशेष रूप से प्रोत्साहन व प्रेरणा देने वाली है।

जिन पत्रों ने इस योजना के विरोध में लिखा है, उनका यह आशय नहीं है कि वे इस योजना को बुरा समझते हैं उन्हें तो डर सिर्फ इस बात का है कि इस योजना के संचालक विद्वान इस महत्व के कार्य में भी कहीं सांप्रदायिक दृष्टिकोण से काम न लें, जिससे कि एक संप्रदाय का महत्व प्रकट हो और दूसरे को उपेक्षित किया जाए।

इसका असली जवाब तो तभी मिल सकेगा, जब यह ग्रंथ तैयार होकर विद्वानों के सामने आएगा। तब पता लगेगा कि इस ग्रन्थ में सांप्रदायिकता की गन्ध भी है, या नहीं। फिर भी इस समय इतना कहा जा सकता है कि योजना के संचालक विद्वानों का दृष्टिकोण बिलकुल ही असांप्रदायिक है। वे तो इतना ही चाहते हैं कि जो विद्वान अपने-अपने अध्यायों को लिखेंगे, वे अपने विषय में स्वतंत्र होने के साथ ही निष्पक्ष होकर लिखेंगे।

रही बात आर्थिक चिंता करनेवाली संस्था की। उसकी इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है कि अकलंक या हरिभद्र कुछ शताब्दी पहले हुए थे, या बाद में। उसे तो वही कुछ मान्य होगा, जो कुछ इस विषय के विद्वान लिखेंगे। यह संस्था तो इतना ही चाहती है कि जैन साहित्य का इतिहास समग्ररूप में जैन व जैनेतर विद्वानों के सामने आ सके। उसे इस बात का भी आग्रह नहीं कि इस इतिहास में त्रुटियाँ रह जाएंगी, तो बाद में उनका सुधार ही नहीं हो सकेगा। यह काम विद्वानों का है, वे ही इसे करेंगे। आर्थिक चिंता करनेवाली समिति का प्रयत्न तो उनके रास्ते को सरल बनाना है।

—कृष्णचन्द्राचार्य

लुधियाना में विराजमान समस्त श्रमण संघ के प्रधानाचार्य श्री १००८ श्री आत्माराम जी महाराज का 'जैन साहित्य का इतिहास' के संबंध में आशीर्वचन-मय सहयोग का आश्वासन—

आपका ८-१-५४ का पत्र मिला। पूज्याचार्य श्री जी के चरणों में निवेदन किया गया। आप द्वारा प्रेषित "श्री जैन साहित्य निर्माण योजना" तथा अहमदाबाद में विद्वन्मण्डल के अधिवेशन की कार्यवाही प्राप्त हुई। उक्त योजना तथा अधिवेशन की कार्यवाही भी आचार्य श्री जी के चरणों में निवेदन कर दी गई। इसे सुनकर आचार्य श्री जी ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। आचार्य श्री जी के विचार में श्री सोहन लाल जैन धर्म प्रचारक समिति की ओर से श्री जैन साहित्य निर्माण कार्य जैन साहित्य क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। श्री स्थानांग सूत्र में लिखा है कि तीन कारणों से लोक में अन्धकार हो जाता है। इस आशय का बोधक पाठ निम्नलिखित है—"तिहिं ठाणेहिं लोगंधयारे सिया तंजहा—अरहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं अरहंत पण्णत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे पुव्वगए वोच्छिज्जमाणे।" उक्त पाठ के अनुसार श्री सोहन लाल जैनधर्म प्रचारक समिति जैन वाङ्मय की सेवा के लिए पग उठा रही है। उसके लिए यह धन्यवादार्ह है। वार्धक्य आदि के कारण आचार्य श्री जी का स्वास्थ्य प्रायः निर्बल ही रहता है, परन्तु जैन साहित्य सेवा के इस पुनीत कार्य में आप श्री यथाशक्ति सहयोग देने के भाव रखते हैं। आचार्य श्री जी आपको धर्मध्यान के लिए फरमाते हैं।

गुज्जरमल बलवन्तराय जैन
चौड़ा बाजार
लुधियाना।

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस—५

श्रमण
सम्पादक
डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम.ए., पी-एच. डी.
अंक
५

इस अंक में—

श्रमण के विषय में—

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाए जाते हैं।
३. श्रमण में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता।
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें।
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।
६. वार्षिक मूल्य मनिऑर्डर से भेजना ठीक होगा।
७. समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—कृष्णचन्द्राचार्य,

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ५ मार्च १९५४ अंक ५

भगवान् महावीर के गणधर

—प्रो० दलसुख भाई मालवणिया

आगमों में गणधरों के सम्बन्ध में बहुत ही कम उल्लेख है। समवयांग[1] सूत्र में गणधरों के नामों तथा आयु के विषय में बिखरी हुई बातें उपलब्ध हैं।

कल्पसूत्र में भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र वर्णित है, किंतु उसमें गणधरवाद का कहीं भी उल्लेख नहीं, कल्पसूत्र की टीकाओं में गणधरवाद के प्रसंग का वर्णन है। कल्पसूत्र में स्थविरावलि[2] के प्रकरण में कहा है कि भ० महावीर के नव गण और ग्यारह गणधर थे। उसके स्पष्टीकरण में कल्पसूत्र में ११ गणधरों के नाम, गोत्र तथा प्रत्येक की शिष्य संख्या का निर्देश है। इनकी योग्यता के विषय में लिखा है कि सभी गणधर द्वादशांगी तथा १४ पूर्व के धारक थे। यह भी कहा है कि सभी गणधर राजगृह में मुक्त हुए। उनमें स्थविर इन्द्रभूति तथा सुधर्मा के अतिरिक्त सभी ने भ० महावीर के जीवनकाल में ही मोक्ष प्राप्त किया था। इस समय जो श्रमण संघ है, वह आर्य सुधर्मा की परंपरा में है। शेष गणधरों का परिवार विच्छिन्न है[3]। स्थविर सुधर्मा के शिष्य आर्य जंबूस्वामी थे और उनके शिष्य आर्य प्रभव।

[1] समवायांग—११, ७४, ७८, ९२ इत्यादि।
[2] कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ० २१५।
[3] कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ० २१५।

इस प्रकार आगे स्थविरावलि का वर्णन किया गया[१] है। सभी गणधरों के विषय में उपर्युक्त सामान्य बातें उक्त आगम में वर्णित हैं।

कल्पसूत्र में प्रधान गणधर इन्द्रभूति के विषय में लिखा है कि जिस रात्रि में भ० महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात को भगवान् के ज्येष्ठ अंतेवासी गौतम इन्द्रभूति गणधर का भगवान् महावीर संबंधी प्रीतिबंधन टूट गया और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई[२]। एक जगह यह भी लिखा है कि भगवान् महावीर के इन्द्रभूति प्रमुख १४००० शिष्य[३] थे। इससे ज्ञात होता है कि सभी गणधरों में इन्द्रभूति प्रमुख थे और उन्हें भगवान् से अपार प्रेम था। भगवान् के जीवनकाल में उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ। इस बात का समर्थन भगवतीसूत्र के एक प्रसंग से भी होता है।[४]

भ० महावीर और इन्द्रभूति गौतम का संबंध अत्यंत मधुर था और वह दीर्घ भी था। भगवान् के प्रति गौतम का अपार स्नेह था। इन बातों का उल्लेख भगवती के एक संवाद में दृष्टिगोचर होता है। भगवान् गौतम से कहते हैं, हे गौतम! तू मेरे साथ बहुत समय से स्नेह से बद्ध है। हे गौतम! तू ने बहुत समय से मेरी प्रशंसा की है। हे गौतम! हम दोनों का परिचय दीर्घकालीन है। हे गौतम! तू ने दीर्घकालसे मेरी सेवा की है, मेरा अनुसरण किया है, मेरे साथ अनुकूल व्यवहार किया है। हे गौतम! अनन्तर (तुरत के) देवभव में और तुरत के मनुष्यभव में (इस प्रकार तुम्हारे साथ संबंध है)। अधिक क्या? मृत्यु के बाद शरीर का नाश हो जाने पर यहां से चल कर हम दोनों समान, एकार्थ (एक प्रयोजन वाले अथवा एक सिद्धक्षेत्र में रहने वाले) विशेषता तथा भेद-रहित हो जाएँगे।[५]

इस प्रसंग का टीकाकार अभयदेव ने यह स्पष्टीकरण किया है कि गौतम के शिष्यों को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई, फिर भी गौतम को नहीं हुई। गौतम इस बात से खिन्न थे। अतः भगवान् ने उक्त प्रकारेण उन्हें आश्वासन दिया।

---

[१] वही—पृ० २१७।

[२] वही—सूत्र १२०।

[३] कल्पसूत्र—सू० १३४।

[४] भगवती १४.७

[५] भगवती अनुवाद १४.७, पृ० ३५४ भाग ३।

गणधरों के जो प्रश्न उपलब्ध होते हैं, उनसे इतना तो ज्ञात होता है कि उनका स्वभाव शंका करने का था। गौतम इन्द्रभूति तो भगवान् से छोटे छोटे प्रश्न पूछ कर तीनों लोक की बातें जानने के लिए उत्सुक हैं। अतः उनके अधिकतर प्रश्नों की पृष्ठभूमि में जिज्ञासा का तत्त्व है। किंतु कुछ ऐसे भी प्रश्न हैं जिनसे उनकी जिज्ञासा के अतिरिक्त पूर्ण तुष्टि हुए बिना कोई भी बात स्वीकार न करने की उनके स्वभाव की विशेषता विदित होती है। इसके उदाहरण स्वरूप आनन्द श्रावक के अवधिज्ञान के प्रसंग का उल्लेख किया जा सकता है।[१] आनन्दश्रावक को अमुक मर्यादा में अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई थी। यह जान कर भी गौतम ने कहा, "गृहस्थ को अवधि ज्ञान होता तो है किंतु इतना अधिक नहीं, अतः तू आलोचना कर और प्रायश्चित्त ले।" किन्तु आनन्द ने प्रत्युत्तर में उन्हें कहा कि आलोचना मुझे नहीं, अपितु आपको करनी है। यह सुन कर इन्द्रभूति शंका, कांक्षा और विचिकित्सा में पड़ गए और भगवान् के पास जाकर सारी बात उनसे कही। भगवान् ने गौतम से कहा कि जो कुछ आनन्द ने कहा है, वही तथ्य है, अतः तुम्हें उससे क्षमा मांगनी चाहिए। गौतम थे तो सरल स्वभाव के, अतः उन्होंने जाकर आनन्द से क्षमा मांगी[२]। इससे गौतम की नम्रता भी स्पष्ट होती है।

इसी प्रकार किसी भी परतीर्थिक की बात सुन कर गौतम तत्काल भगवान् के पास आते हैं और स्पष्टीकरण करके ही उन्हें संतोष होता है।[3] यदि कोई नई बात प्रत्यक्ष हुई हो तो वे उसका भी शीघ्र ही समाधान कर लेते थे। उदाहरणतः वह प्रश्न लिया जा सकता है जो उन्होंने देवानन्दा के स्तन में से दूध की धारा बहने पर किया था[४]।

आगमों में जैसे गौतम के भगवान् महावीर के साथ हुए संवादों का उल्लेख है, उसी प्रकार उनके अन्य स्थविरों के साथ हुए संवाद भी निर्दिष्ट हैं। दृष्टांत के रूप में केशी गौतम संवाद लिया जा सकता है। उसमें गौतम केशी-श्रमण को महावीर और पार्श्वनाथ के शासन भेद का रहस्य समझाते हैं और निदान उन्हें महावीर के शासन में दीक्षित करते हैं।[५]

---

[१] उपासक दशांग अ० १ [२] उपासक दशांग, अ० १।

[३] भगवती २.५ इत्यादि

[४] भगवती ९.३३ गुज० अनुवाद भाग ३, पृ० १६४।

[५] उत्तराध्ययन अ० २३

'समयं गोयम ! मा पमायए'—इस प्रसिद्ध पद्यांश वाला अध्ययन अत्यंत प्रसिद्ध है। वह गौतम के बहाने सर्व जनसाधारण को भगवान् द्वारा दिए गए अप्रमाद के उपदेश का सुन्दर उदाहरण हैं।[१]

गौतम की समय सूचकता का परिचय देने वाले कुछ प्रसंग आगम में उल्लिखित हैं। अन्य तीर्थिक स्कंदक के आगमन का समाचार भगवान् से सुन कर वे उसके पास गए और उसे पहले ही बता दिया कि वह भगवान् के पास क्यों आया है और उसके मन में क्या शंकाएँ हैं। इससे स्कंदक परिव्राजक भगवान् का श्रद्धालु बन जाता है।[२]

आगम में हम इन्द्रभूति को भगवान् महावीर के सन्देशवाहक का कार्य करते हुए भी देखते हैं। महाशतक की मारणान्तिक संलेखना के समय भगवान् से प्रायश्चित्त करने की प्रेरणा लेकर वे उसके पास जाते हैं और उसे कहते हैं कि तुमने अपनी पत्नी रेवती को सत्य होते हुए भी जो कटु वचन कहे हैं उनका प्रायश्चित्त करना आवश्यक[3] है।

इन्द्रभूति का गुण वर्णन भगवती में तथा अन्यत्र एक समान है। वह इस प्रकार है—"उस काल में और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पास (बहुत दूर नहीं और बहुत निकट भी नहीं) ऊर्ध्वजानु—खड़े रहने वाले—अधः शिर—नीचे झुके हुए मुख वाले, और ध्यानरूप कोष्ठ में प्रविष्ट उनके ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति नाम के अनगार—साधु, संयम और तप द्वारा आत्मा को शुद्ध करते हुए रहते थे। वे गौतम गोत्र वाले, सात हाथ ऊंचे, समचोरस संस्थान वाले, वज्रऋषभनाराच संहनन धारण करने वाले, सोने के कड़े की रेखा के समान और पद्मकेसर के समान धवल वर्ण वाले, उग्रतपस्वी, दीप्त तपस्वी, तप्ततपस्वी, महातपस्वी, उदार, अतिशय गुण वाले, अतिशय तप वाले, घोर ब्रह्मचर्य के पालन के स्वभाव वाले, शरीर के संस्कारों का त्याग करने वाले, शरीर में रहने पर संक्षिप्त एवं दूरगामी होने पर विपुल तेजोलेश्या वाले, पूर्व के ज्ञाता, चारज्ञान संपन्न और सर्वाक्षर सन्निपाती थे।[४]

---

[१] उत्तरा० अ० १०।

[२] भगवती शतक २, ३. १।

[३] उपासक दशांग अ० ८।

[४] भगवती शतक १ (विद्यापीठ, प्रथम भाग पृ० ३३।)

विद्यमान आगमों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उनमें से कई का निर्माण इन्द्रभूति गौतम के प्रश्नों के आधार पर ही है। ऐसे आगमों में उववाइ सूत्र, रायपसेणइय, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति को गिना जा सकता है। भगवतीसूत्र का अधिकतर भाग भी इन्द्रभूति के प्रश्नों का आभारी है। शेष आगमों में भी कहीं कहीं गौतम के प्रश्न हैं।

आगमों में इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त यदि किसी दूसरे गणधर के कुछ उल्लेख हैं तो वे आर्य सुधर्मा के संबंध में हैं। किंतु उनकी जीवन घटनाओं का आगमों में कोई उल्लेख नहीं। केवल यही उपलब्ध होता है कि जंबू के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने अमुक आगम का अर्थ कहा।

केवल भगवती सूत्र ही प्रश्न बहुल है और उसमें भी गौतम इन्द्रभूति के प्रश्नों की अधिकता है। यह एक महान् आश्चर्य है कि सुधर्मा की परंपरा के संघ के विद्यमान होने पर भी और प्रस्तुत आगमों की वाचना परंपरा से सुधर्मा से प्राप्त होने की मान्यता के अस्तित्व होने पर भी तथा कई आगमों की प्रथम वाचना सुधर्मा द्वारा जंबू को दिए जाने पर भी और इस बात के उन आगमों से सिद्ध[1] होने पर भी—समस्त आगमों में सुधर्मा द्वारा भगवान् से पूछे गए किसी भी प्रश्न का निर्देश नहीं है। इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त केवल अग्निभूति[2] वायुभूति[3] तथा मंडियपुत्त द्वारा पूछे गए कुछ प्रश्नों का उल्लेख भगवती में है।

इन्हें छोड़ कर किसी और गणधर द्वारा किया गया प्रश्न आगमों में दृष्टिगोचर नहीं होता।

'सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं' इस वाक्य से आगमों का जो प्रारंभ होता है, उसकी व्याख्या करते हुए टीकाकारों ने यह स्पष्ट मत प्रगट किया है कि इससे भगवान् के मुख से सुनने वाले आर्य सुधर्मा अभिप्रेत हैं।

---

[1] ज्ञाताधर्मकथांग, अनुत्तरोपपातिक, विपाक, निरयावलिका सूत्रों के प्रारंभिक वक्तव्य से स्पष्ट है कि उनकी प्रथम वाचना आर्य सुधर्मा ने जंबू को दी।

[2] भगवती ३.१।

[3] भगवती ३.३।

वे अपने शिष्य जंबू को इस श्रुत का अर्थ संबंधित आगम में बताते हैं। उक्त वाक्य से शुरू होने वाले आगमों में आचारांग, स्थानांग, समवायांग का निर्देश किया जा सकता है। कुछ ऐसे भी आगम हैं जिनके अर्थ की प्ररूपणा जंबू के प्रश्न के आधार पर सुधर्मा ने की है। किंतु उस विषय का ज्ञान भगवान् महावीर से ही प्राप्त हुआ था। ऐसे आगम ये हैं—ज्ञाताधर्मकथा, अनुत्त-रोपपातिक, विपाक, निरयावलिका।

आर्य सुधर्मा का गुण वर्णन भी इन्द्रभूति गौतम जैसा ही है। भेद केवल यह है कि उन्हें ज्येष्ठ नहीं कहा।

गणधरों के संबंध में इतनी बातें मूल आगमों में मिलती हैं। इनमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि गणधरवाद में प्रत्येक गणधर के मन की जिन शंकाओं की कल्पना की गई है, उन्हें उन्होंने भगवान् के सन्मुख पहले व्यक्त किया अथवा भगवान् ने उनकी शंकाएँ पहले ही बता दीं, इस विषय में कुछ भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कल्पसूत्र से इस बात की आशा की जा सकती थी। किंतु उसमें भी इस संबंध में निर्देश नहीं। गणधरवाद का मूल सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति की ही एक गाथा में मिलता है। इस गाथा में ११ गणधरों के संशयों को क्रमशः इस प्रकार गिनाया गया है—

[१]जीवे कम्मे[२] त[३]ज्जीव भूय[४] तारिसय[५] बंध[६]मोक्खे य।
देवा[७] णेरइ[८]य या पुण्णे[९] परलोय[१०] णेव्वाणे[११]॥

आव० नि० गाथा ५९६

[१] जीव है या नहीं ?
[२] कर्म है या नहीं ?
[३] शरीर ही जीव है अथवा अन्य ?
[४] भूत हैं या नहीं ?
[५] इस-भव में जीव जैसा है, परभव में भी वैसा ही होता है या नहीं ?
[६] बंध-मोक्ष है या नहीं ?
[७] देव हैं अथवा नहीं ?
[८] नारक हैं अथवा नहीं ?
[९] पुण्य पाप की सत्ता है या नहीं ?
[१०] परलोक है या नहीं ?
[११] निर्वाण है अथवा नहीं ?

इसके अतिरिक्त निर्युक्ति में गणधरों के विषय में जो व्यवस्थित बातें उपलब्ध होती हैं, उन्हें कोष्ठक के रूप में प्रतिपादित किया गया[१] है। जिज्ञासु को मेरे 'गणधरवाद' में देखलेना चाहिए।

भगवान् के गणधर ११ थे परन्तु गण ९ ही थे, यह बात कल्पसूत्र में निर्दिष्ट है[२] और इसका वहां स्पष्टीकरण भी किया गया है। गणभेद का आधार वाचनाभेद है। अर्थ का अभेद होने पर भी शब्द भेद के कारण वाचना में भेद पड़ता है। भगवान् के उपदेश को प्राप्त कर गणधरों ने जिन आगमों की रचना की, उनमें शब्दभेद के कारण नव वाचनाएँ थीं। एक ही प्रकार की वाचना लेने वाला साधुसमुदाय गण कहलाता है। ऐसे गण नव थे, अतः ११ गणधर होने पर भी गण ९ ही थे। अंतिम चार गणधरों में आर्य अकंपित और आर्य अचल[३]भ्राता दोनों की मिलकर ६०० शिष्यों की एक ही वाचना थी। अतः उनके दो गणों के स्थान पर एक ही गण गिना जाता है। इसी प्रकार आर्य मेतार्य और प्रभास दोनों की ६०० शिष्यों की एक ही वाचना थी। अतः उनके दो गणों के स्थान पर भी एक ही गण गिना जाता है। अतः ११ गणधरों के ११ गणों के स्थान पर ९ गण गिने गए हैं।[४]

आ० निर्युक्ति में भगवान् के साथ इन्द्रभूति आदि के प्रथम परिचय का वर्णन है। उसमें लिखा है कि जिनवरेन्द्र[५] की देवकृत महिमा सुनकर अभिमानी इन्द्रभूति मात्सर्य युक्त होकर भगवान् के पास आया। जाति, जरा, मरण से रहित जिन भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। अतः उन्होंने उस के नाम और गोत्र से उसे बुलाया और कहा कि तू वेदपदों का यथार्थ अर्थ नहीं

---

[१] इसी प्रकार का एक कोष्ठक कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी में आ० विजय-राजेन्द्र सूरि ने दिया है पृ० २५५। उनमें कुछ और बातें मिलाकर मैंने इसे तैयार किया है। आ० नि०, गा० ५९३-६५९।

[२] कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ० २१५।

[३] वही।

[४] श्री विजयराजेन्द्र सूरि ने स्मृतिभंग से कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी में अकंपित और अचलभ्राता की माता एक तथा पिता भिन्न बता कर गोत्रभेद लिखा है। वस्तुतः यह विधान मंडिक और मौर्यपुत्र के लिए होना चाहिए। आ० नि०, हरि० टीका गाथा ६४८ देखें।

[५] आ० नि०, गा० ५८९—६४१।

जानता, इसीलिए तुझे यह संशय है कि जीव है अथवा नहीं। वेदपदों का वास्तविक अर्थ तो यह है। जब उसका संशय दूर हो गया तब उसने अपने ५०० शिष्यों सहित दीक्षा ले ली। उसे दीक्षित हुए सुन कर अग्निभूति भी मात्सर्यवश होकर और यह विचारकर कि भगवान् के पास जाकर इन्द्रभूति को वापिस ले आऊं, भगवान् के पास आया। उसे भी भगवान् ने उसके मन में स्थित कर्म विषयक सन्देह बता दिया। यह भी अपनी शिष्यमंडली सहित दीक्षित हो गया। शेष गणधर मात्सर्य से नहीं, अपितु भगवान् के महत्त्व को समझ कर उनके पास क्रमशः उनकी वन्दना और सेवा करने के उद्देश्य से आते हैं और सभी दीक्षा ग्रहण करते हैं। यह सामान्य उल्लेख निर्युक्तिकार ने किया है।

इन सामान्य तथ्यों के आधार पर कल्पसूत्र के अनेक टीकाकारों ने इस प्रसंग का आलंकारिक भाषों में विविध रीति से वर्णन किया है। किंतु भाषा के अलंकार हटा दें तो उनमें विशेष नई बातें ज्ञात नहीं होतीं। विशेषावश्यक भाष्यकार ने गणधरों की शंकाओं से संकेत लेकर उन्हें वाद का रूप प्रदान किया है। उसी का अनुसरण कर आवश्यक निर्युक्ति तथा कल्पसूत्र के टीकाकारों ने भी उस प्रसंग पर वाद की रचना की है। यह समस्त वाद 'गणधरवाद' नामक मेरे ग्रंथ में दिया ही गया है, अतः उसका विशेष विवेचन यहां अनावश्यक है।

गणधरों के जीवन के संबंध में जो नई बातें बाद के साहित्य में उपलब्ध होती हैं, उनका निर्देश करने पर यह प्रकरण पूरा हो जाएगा।

आ० हेमचन्द्र ने उस समय सुख्यात कथानुयोग का दोहन कर त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र लिखा था। अतः उसमें वर्णित तथ्यों के आधार पर ही यहां कुछ लिखना उचित है। उसमें भी इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त अन्य गणधरों के विषय में कोई विशेष बात दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः इन्द्रभूति गौतम के जीवन की वर्णनीय बातों का ही यहां प्रतिपादन किया जाता है।

छद्मस्थ-अवस्था में सुदंष्ट्र नामक नागकुमार ने भगवान् को उपसर्ग उत्पन्न किया था। वह मर कर एक किसान बना था। उसे सुलभबोधि जीव देख कर भगवान् ने गौतम इन्द्रभूति को उस किसान के पास उपदेश देने के लिए भेजा। गौतम ने उसे उपदेश देकर दीक्षा दी। तत्पश्चात् गौतम अपने गुरु भगवान् महावीर के अतिशयों का वर्णन करके उसे उनके पास ले

जाने लगे। भगवान् महावीर को देखते ही किसान के मन में पूर्वभव के वैर के कारण उनके प्रति घृणा उत्पन्न हुई और वह यह कह कर चलता बना कि 'यदि यही तुम्हारे गुरु हैं, तो मुझे आप से कोई प्रयोजन नहीं।" इसका कारण पूछने पर भगवान् ने गौतम को अपने पूर्वभव का संबंध बताते हुए कहा, "मैंने त्रिपृष्ठ के भव में जिस सिंह को मारा था, उसी का जीव यह किसान है। उस समय क्रोध से उद्दीप्त उस सिंह को तुमने मेरे सारथि के रूप में आश्वासन दिया था। इसी से वह सिंह तब से तुम्हारे प्रति स्नेहशील और मेरे प्रति द्वेषयुक्त बना।' पर्व १०, सर्ग ९।

इस घटना का मूल मालूम करना हो तो वह भगवती सूत्र में मिल जाता है। वहां भगवान् ने गौतम से स्वयं कहा कि हमारा संबंध कोई नया नहीं, किंतु पूर्व जन्म से चला आता है। संभव है कि इसे या अन्य किसी ऐसे उद्गार को आधार बना कर कथाकार ने महावीर और गौतम का उक्त कथा में निर्दिष्ट संबंध जोड़ा हो।

इसी प्रकार अभयदेव आदि टीकाकार भगवती के इसी प्रसंग को गौतम के लिए आश्वासन रूप समझते हैं। उसके अनुसंधान में जिस कथा की रचना की गई है वह यह है—गौतम ने पृष्ठचंपा के गागली राजा को उसके माता पिता के साथ दीक्षा दी थी और वे सब भगवान् को वन्दना करने के लिए पृष्ठ-चंपा से चंपा जा रहे थे। इसी अवधि में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। किंतु गौतम को इस बात का पता न था। अतः जब भगवान् की प्रदक्षिणा करके वे केवली परिषद् में बैठने लगे तब गौतम कहने लगे, "प्रभु को वन्दना तो करो।" यह सुन कर भगवान् ने गौतम से कहा, "तुमने केवली की आशातना की है'। तब गौतम ने प्रायश्चित्त किया। किंतु उनके मन में दुःख हुआ कि जब मेरे शिष्यों को केवलज्ञान हो जाता है, तो मुझे क्यों नहीं होता[१] ?

ऐसे ही एक अन्य प्रसंग का वहां वर्णन है। गौतम ने अपने ऋद्धिबल से अष्टापद का आरोहण किया। और तापसों को दीक्षा देकर, ऋद्धिबल से अष्टापदारोहण करवा कर तथा तीर्थंकरों का दर्शन करवा कर ऋद्धिबल से ही पारणा करवाया। इन सब तापसों को भी गौतम के प्रति भक्ति

[१] त्रिषष्टि० पर्व १०, सर्ग ९।

के अतिरेक से उनके गुणों का चिंतन करते करते भगवान् के मात्र मुख-दर्शन से केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। भगवान् के समवसरण में गागली के समान ही घटना घटित हुई। इससे भी गौतम को विशेष रूप से दुःख हुआ कि उन्हें केवल ज्ञान क्यों नहीं होता? इस प्रसंग पर भगवान् ने गौतम को आश्वासन दिया कि धैर्य रखो, हम दोनों समान बनेंगे।

कथाकार की तथा प्रायः सभी आचार्यों की मान्यता है कि गौतम के हृदय में भगवान् के प्रति जो दृढ़ राग था, वही उनके केवल ज्ञान में बाधक था। जिस क्षण वह दूर हुआ, उसी क्षण उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। यह क्षण भगवान् के निर्वाण के बाद का था। उस प्रसंग का वर्णन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि उसी रात को अपना मोक्ष ज्ञात कर प्रभु ने विचार किया कि मेरे प्रति गाढ़ राग के कारण ही गौतम को केवलज्ञान नहीं होता, अतः इस राग के उच्छेद का उपाय करना चाहिए। यह सोच कर उन्होंने गौतम को एक निकटस्थ गांव में देवशर्मा को प्रतिबोधित करने के निमित्त भेज दिया। उनके वापिस आने से पूर्व ही भगवान् का निर्वाण हो गया। यह मालूम कर गौतम को पहले तो दुःख हुआ कि अंतिम समय में भगवान् ने मुझे अपने से दूर क्यों किया, किंतु निदान उन्होंने विचार किया कि मैं ही अब तक भ्रांति में ग्रस्त था। निर्मम तथा वीतराग प्रभु में मैंने ममता रखी, मेरा राग और मेरी ममता ही बाधक हैं। इस विचार श्रेणी पर चढ़ते चढ़ते उन्हें केवलज्ञान हो गया।[१]

वस्तुतः उक्त सभी कथाओं की उत्पत्ति भगवती सूत्र के उक्त एक ही प्रसंग के आधार पर हुई ज्ञात होती है। कारण यह है कि उसमें विशेष रूपेण यह बात कही गई है कि गौतम का भगवान् के प्रति दृढ़ अनुराग था। उनका पूर्व जन्म में भी सम्बन्ध था और वे दोनों भविष्य में भी एक सदृश होने वाले थे[२]।

अनु०—प्रो० पृथ्वीराज जैन, एम० ए०

---

[१] त्रिषष्टि० पर्व १०, सर्ग १३।

[२] भगवतीसूत्र १४,७।

सूत्रकृतांग में वर्णित मत मतान्तर

-डॉ० इन्द्र

अंग सूत्रों में सूत्रकृतांग का दूसरा स्थान है। किन्तु दार्शनिक साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्व आचारांग से अधिक है। भगवान् महावीर के समय प्रचलित मत मतान्तरों का इसमें विस्तृत उल्लेख है।

सूत्रकृतांग का इस समय जो संस्करण उपलब्ध है उसमें दो श्रुतस्कन्ध और तेईस अध्ययन हैं। पहले श्रुत स्कन्ध में १६ अध्ययन हैं और दूसरे में ७। उनके नाम तथा विषय निम्न लिखित हैं—

प्रथम श्रुतस्कन्ध

१. समय—इसके चार उद्देश हैं। पहले में सताईस गाथाएँ हैं, दूसरे में बत्तीस, तीसरे में सोलह तथा चौथे में तेरह हैं। इसमें वीतराग के अहिंसा सिद्धान्त को बताते हुए बहुत से दूसरों मतों का उल्लेख किया गया है।

२. वैतालीय—इसमें तीन उद्देश हैं। पहले में बाईस गाथाएं हैं, दूसरे में बत्तीस तथा तीसरे में बाईस। वैतालीय छन्द में रचा गया होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। इसमें मुख्यरूप से वैराग्य का उपदेश है।

३. उपसर्ग—इसमें चार उद्देश हैं। पहले में सत्रह गाथाएं हैं और दूसरे में बाईस, तीसरे में इक्कीस तथा चौथे में बाईस। इसमें उपसर्ग अर्थात् संयमी जीवन में आनेवाली विघ्न बाधाओं का वर्णन है।

४. स्त्रीपरिज्ञा—इसमें दो उद्देश हैं। पहले की इकतीस गाथाएं हैं और दूसरे की बाईस। इसमें स्त्रियों द्वारा उपस्थित किए जानेवाले विघ्नों का वर्णन है। उपसर्ग-अध्ययन में प्रतिकूल विघ्नों का वर्णन था और इसमें अनुकूल विघ्नों का वर्णन है।

५. निरयविभक्ति—इसके भी दो अध्ययन हैं। पहले की सत्ताईस गाथाएं हैं और दूसरे की पच्चीस। दोनों में नरक के दुःखों का वर्णन है।

६. वीरस्तुति—इसमें उनतीस गाथाएं हैं और भगवान् महावीर की स्तुति की गई है।

७. कुशील भाषित—इसमें तीस गाथाएं हैं और कुशील अर्थात् चरित्रहीन व्यक्तियों की दशा का वर्णन है।

८. वीर्य—इसमें छब्बीस गाथाएं हैं और वीर्य—शुभाशुभ प्रयत्न का स्वरूप बताया गया है।

९. धर्म—इसमें छत्तीस गाथाएँ हैं और धर्म का स्वरूप बताया गया है।

१०. समाधि—इसमें चौबीस गाथाएं हैं और धर्म में समाधि अर्थात् स्थिरता का वर्णन है।

११. मार्ग—इसमें अड़तीस गाथाएं हैं और संसार से छुटकारा प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है।

१२. समवसरण—इसमें बाईस गाथाएं हैं तथा क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतों की चर्चा है।

१३. याथातथ्य—इसमें तेईस गाथाएं हैं और मानवस्वभाव का वर्णन है।

१४. ग्रन्थ—इसमें सत्ताईस गाथाएं हैं और ज्ञानप्राप्ति के मार्ग का वर्णन है।

१५. आदानीय—इसमें पच्चीस गाथाएं हैं और महावीर के उपदेश का सार दिया गया है।

१६. गाथा—यह अध्ययन गद्य में है। इसमें भिक्षु अथवा श्रमण का स्वरूप बताया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कंध

१. पुण्डरीक—यह भी गद्य में है। इसमें एक सरोवर और पुण्डरीक की उपमा देकर यह बताया गया है कि विभिन्न मतावलम्बी जनता तथा राजा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं किन्तु स्वयं ही कष्टों में फँस जाते हैं। राजा वहां का वहीं रह जाता है। दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देनेवाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खिंचा चला आता है। इसके बाद विभिन्न मतों तथा साधु के आचार का वर्णन है।

२. क्रियास्थान—इसमें कर्मबन्ध के तेरह स्थानों का वर्णन है।

३. आहार परिज्ञा—इसमें निर्दोष आहार का स्वरूप बताया गया है।

४. प्रत्याख्यान—त्याग तथा व्रत आदि।

५. आचार श्रुत—त्याज्य मान्यताएँ।

६. आर्द्रक—आर्द्रक कुमार की कथा।

७. नालन्दा—भगवान् महावीर का नालन्दा में दिया गया उपदेश।

सूत्रकृतांग में जिन मतों का उल्लेख है उनमें से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्त्ववाद अर्थात् दर्शन से। कुछ मतों का खण्डन भी किया गया है। संक्षेप में उनका निर्देश निम्न लिखित है—

१. पंचमहाभूतवाद—यह संसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तथा आकाश रूप पाँच भूतों का बना हुआ है। इन्हीं के विशिष्ट संयोग से आत्मा का भी नाश हो जाता है। (१ श्रु०, १ अ०, १उ०, गा० ७-८)

मूल में इस वाद का कोई नाम नहीं बताया गया। निर्युक्तिकार ने इसे पंचभूतवाद तथा टीकाकार ने चार्वाक मत या बार्हस्पत्य मत कहा है। इस मत का उल्लेख दूसरे श्रुत स्कन्ध में भी है और वहाँ इसे पंच महाभूतिक कहा गया है

२. तज्जीव-तच्छरीर वाद—संसार में जितने शरीर हैं प्रत्येक में एक आत्मा है। इसका अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक शरीर विद्यमान है। शरीर का नाश होते ही आत्मा का नाश हो जाता है। परलोक जानेवाला कोई आत्मा नहीं है। पाप और पुण्य का भी कोई अस्तित्व नहीं है। इस लोक के अतिरिक्त कोई दूसरा लोक नहीं है। शरीर का नाश होते ही शरीर अर्थात् जीव का भी नाश हो जाता है। (गा० ११–१२)

मूलकार ने इस मत का भी कोई नाम नहीं दिया। निर्युक्ति तथा टीकाकार ने इसे उपरोक्त नाम दिया है। दूसरे श्रुत स्कन्ध ( ) में इस वाद का विस्तार से वर्णन किया गया है। शरीर से भिन्न आत्मा को मानने वालों का खण्डन करते हुए वादी कहता है—

कुछ लोग कहते हैं कि शरीर अलग है और जीव अलग है। वे जीव का आकार, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि कुछ भी नहीं बता सकते। यदि जीव शरीर से पृथक् होता तो जिस प्रकार म्यान में से तलवार, मूँज में से सीख तथा मांस में से अस्थियाँ अलग करके बताई जा सकती हैं, उसी प्रकार आत्मा भी बताया जा सकता। जिस प्रकार हाथ में रहा हुआ आँवला अलग प्रतीत होता है, तथा दही में से मक्खन, तिल में से तेल, इक्षु में से रस एवं अरणिकाष्ठ में से आग निकाली जा सकती है इसी प्रकार आत्मा भी अलग प्रतीत होती या उसे निकाल कर बताया जा सकता। इसलिए शरीर और जीव को एक ही मानना चाहिए। (द्वि० श्रुतस्कन्ध)

पंचमहाभूत वाद मानता है पाँच महाभूत ही विशिष्ट प्रकार से एकत्रित होकर जीव का कार्य करते हैं। तज्जीव-तच्छरीर वादी यह मानता है कि

पाँच महाभूतों से चेतन शरीर का निर्माण होता है। यह वाद शरीर के रूप में परिणत हुए पाँच महाभूतों का रूपान्तर मानता है जब कि पंचभूतवादी उन्हें वैसे ही स्वीकार करता है। यही दोनों वादों में अन्तर है।

३. एकात्मवाद—जिस प्रकार पृथ्वी-पिंड (स्तूप) एक होने पर भी पर्वत, नगर, ग्राम, नदी, समुद्र आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है इसी प्रकार यह समस्त लोक ज्ञानपिण्ड के रूप में एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है अर्थात् ज्ञानपिंड के रूप में सर्वत्र एक ही आत्मा है, वही मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि में अनेक रूपों में दिखाई देता है। (गा० ९)

निर्युक्तिकार ने इसका नाम एकात्मवाद बताया है। टीकाकार ने इसे एकात्म-अद्वैत वाद कहा है। मूलकार ने इसका कोई नामोल्लेख नहीं किया।

४. अकारकवाद— आत्मा न कुछ करता है न कराता है। (गा०) टीकाकार ने इसे सांख्यमत बताया है और निर्युक्तिकार ने अकारकवाद।

५. आत्मषष्ठवाद—पाँच भूत हैं और उनसे भिन्न आत्मा नाम का छठा तत्त्व भी है। आत्मा तथा लोक दोनों शाश्वत हैं। भूत तथा आत्म किसी का नाश नहीं होता। असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। सभी भाव अपने अपने रूपों में नियत हैं। (गा० १५-१६)

पाँचों भूत अनिर्मित, अनिर्मापित, अकृत, अकृत्रिम, अनादि, अनिधन, अवन्ध्य, अपुरोहित (जिनका कोई प्रेरक नहीं है), स्वतन्त्र तथा शाश्वत हैं। इसी प्रकार छठा आत्मा है। (गा०) सत् का नाश नहीं होता असत् की उत्पत्ति नहीं होती। जीवकाय अनादिकाल से उतना ही है। उतना ही अस्तिकाय है, उतना ही सर्वलोक है। यही पाँच भूत जगत् की तृणसमान प्रवृत्तियों के भी संचालक हैं। (पृ०)

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में मूलकार ने इस मत को पंचमहाभूतिक मत के साथ रखा है, निर्युक्तिकार ने आत्मषष्ठवादी और टीकाकार ने सांख्य अथवा शैवाधिकारी कहा है।

६. पंचस्कन्धवाद—कुछ बाल (अज्ञानी) कहते हैं कि पाँच स्कन्ध हैं। वे स्कन्ध क्षणिक हैं। इनके अतिरिक्त कोई सहेतुक या निर्हेतुक पदार्थ नहीं है। स्कन्धों से भिन्न अथवा अभिन्न भी कोई पदार्थ नहीं है। (गा. १०)

निर्युक्तिकार इस मत को अफलवाद कहते हैं और टीकाकार बौद्ध।

७. चतुर्धातुवाद—कुछ लोग यह कहते हैं कि यह जगत् पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायुरूप चार धातुओं से बना है। (गा. १८)

निर्युक्तिकार इस मत को अफलवाद कहते हैं और टीकाकार बौद्धविशेष।

८. भिक्षुकर्मवाद—किन्हीं की यह मान्यता है कि चार दशाओं में कर्म का संचय नहीं होता—

१. परिज्ञोपचित—जानता हो, अर्थात् केवल मन से हिंसा करता हो और शरीर से न करता हो तो कर्म संचय नहीं होता।

२. अविज्ञोपचित—अविज्ञ अर्थात् केवल शरीर से हिंसा करता हो और मन से न करता हो।

३. ईर्याप्रत्यय—मार्ग में चलते समय बिना जाने लगने वाली हिंसा।

४. स्वप्नान्तिक—स्वप्न में की हुई क्रियाएँ। (गा. २५)

मूलसूत्र में कर्म संचय न होने की पहली दो ही दशाएँ बताई गई हैं। निर्युक्तिकार का कथन है—भिक्षु (बौद्ध) के सिद्धान्त में चार दशाएँ बताई गई हैं। इसी उल्लेख के आधार पर टीकाकार ने शेष दो दशाएँ बताई हैं। इनके नाम भी टीकाकार की कल्पना है।

मूलसूत्र में यह भी बताया गया है कि आत्महत्या से कर्म का संचय नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि आत्महत्या से लम्बे काल तक तीव्र फल देने वाला कर्म संचय नहीं होता। बहुत थोड़ा, नगण्य सा कर्मबन्ध होता है उसका विपाक स्पर्शमलीसंवेद्य है। इससे अधिक नहीं। उपरोक्त चारों प्रकार का कर्म अव्यक्त दोष वाला है।

भिक्षुमत में जिन कारणों से बँध होता है उन्हें बताते हुए मूलकार ने तीन आदान कहे हैं—

१. अभिक्रम्यादान—शरीर से हिंसा करते हुए मन का उसी ओर उत्सुक रहना।

२. प्रेष्यादान—किसी को मारने के लिए नौकर को आज्ञा देना।

३. मनोनुज्ञादान—मारने वाले का मन से अनुमोदन करना।

भिक्षु समय में उपरोक्त तीन आदानों द्वारा कर्मबन्ध होता है और भावविशुद्धि से निर्वाण प्राप्त होता है। (गा० २६-२७)

भावविशुद्धि का उदाहरण देते हुए मूलकार ने बताया है—संकट में पड़ा हुआ कोई असंयत पिता राग तथा द्वेष से रहित होकर संकट-निवारण के लिए

यदि पुत्र को मारकर खा जाय अथवा कोई संयत उसे खा जाय तो शुद्धाशय होने के कारण उन्हें पाप नहीं लगता। (गा० २८)

मूलकार ने इस भिक्षुदर्शन को क्रियावादी-दर्शन कहा है। (गा० २४)

टीकाकार ने बताया है कि भिक्षुसमय में तभी कर्मबन्ध होता है जब नीचे लिखी पाँच बातें एकत्रित हों—

१. मारा जाने वाला प्राणी हो

२. मारने वाले को यह भान हो कि वह जिसे मार रहा है वह प्राणी है।

३. मारने वाले के मन में यह खयाल हो कि मैं मार रहा हूँ।

४. मारने वाला शरीर से मारने की क्रिया कर रहा हो।

५. जिसे मारने की इच्छा हो वह वास्तव में मारा जा रहा हो।

उपरोक्त पाँच बातों में से यदि एक भी न्यून हो तो कर्मबन्ध नहीं होता।

मूलकार ने भिक्षु समय के विषय में और भी कहा है—

जो व्यक्ति अपनी सम्प्रदाय के दो हज़ार भिक्षुओं को भोजन कराता है, वह महासत्त्व आरोप्यदेव होता है। (गा)

टीकाकार ने भिक्षु का अर्थ बोधिसत्त्व अथवा पंचशिक्षापदिक आदि बताया है।

जिह्वालोलुप, अनार्य धर्म वाले अनार्य इस प्रकार कहते हैं—संघ के उद्देश्य से एक मोटे घोड़े को मारकर उसे नमक, तेल, पीपर आदि मसालों में पकाकर खाने पर भी हमें पाप नहीं लगता। (गा० २९, ३७-३८)

टीकाकार ने इसे भी शाक्योपदेश बताया है।

९ नियतिवाद—किन्हीं की यह मान्यता है कि भिन्न भिन्न जीव जो सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, अथवा अपने स्थान से भ्रष्ट होते हैं, यह सब जीव के अपने पुरुषार्थ के कारण नहीं होता। इन सब का करने वाला जब जीव स्वयं नहीं है तो दूसरा कौन हो सकता है? जीव जो सुख दुख का अनुभव करते हैं वह सांगतिक है—नियति के कारण होता है। अर्थात् जिस प्रकार होने का समय आता है, वह होकर ही रहता है। उसमें पुरुषार्थ, काल, ईश्वर, स्वभाव या कर्म की कुछ नहीं चलती। (गा० १-२-३)

दूसरे श्रुतस्कन्ध में इस वाद के सम्बन्ध में नीचे लिखे अनुसार कहा है— कुछ श्रमण तथा ब्राह्मण कहते हैं कि जो लोग क्रियावाद की स्थापना करते हैं

और जो लोग अक्रियावाद की स्थापना करते हैं वे दोनों नियतिवाद की अपेक्षा एक सरीखे हैं। क्रिया तथा अक्रिया दोनों का कारण नियति है।

जो अज्ञानी है, वह कहता है—मैं जो दुखी शोकाकुल, चिन्ताग्रस्त पीड़ित और संतप्त हो रहा हूँ वह सब मेरे किए हुए कर्मों का फल है। इसी प्रकार यदि दूसरा व्यक्ति दुखी हो रहा है तो वह उसके किए हुए कर्मों का फल है।

जो मेधावी है, वह कहता है—मेरा शोक, दुःख परिताप आदि पूर्वजन्म कृत कर्मों का फल नहीं है। वह सब सांगतिक अर्थात् नियतिजन्य है। जो होने का समय आता है वह होकर रहता है।

मूल, निर्युक्ति तथा टीका सभी में इसे नियतिवाद कहा है। भगवान् महावीर के समय संखलिपुत्र गोशालक की यही मान्यता थी।

१०. कृतवाद—

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में कई प्रकार की मान्यताएँ हैं—

(क) कोई कहते हैं, यह संसार देव द्वारा बनाया गया है।

(ख) कोई कहते हैं, ब्रह्मा द्वारा बनाया गया है।

(ग) कोई कहते हैं, ईश्वर द्वारा बनाया गया है।

(घ) कोई कहते हैं, जीवाजीव तथा सुख दुःख से परिपूर्ण यह संसार प्रकृति द्वारा बनाया गया है।

(ङ) कोई महर्षि कहते हैं, यह संसार स्वयम्भू द्वारा रचा गया है। स्वयम्भू ने मार को बनाया और मार की माया के कारण यह लोक अशाश्वत है।

(च) कुछ ब्राह्मण तथा श्रमण कहते हैं कि यह संसार अंडे में से निकला है। टीकाकार ने इस मत को पौराणिक त्रिदण्डियों का मत माना है। (गा. ५-६)

दूसरे श्रुतस्कन्ध में कृतवाद को नीचे लिखे अनुसार बताया है—

कुछ ब्राह्मण तथा श्रमण इस प्रकार कहते हैं कि धर्म (पदार्थ) पुरुषादिक हैं, पुरुषोत्तर हैं, पुरुषप्रणीत हैं, पुरुष संभूत हैं, पुरुष प्रद्योतित हैं, पुरुषाभि-समन्वागत हैं तथा पुरुषाश्रित हैं। जैसे फोड़ा शरीर में उत्पन्न होता है, शरीर में बढ़ता है और शरीर को ही आश्रित किए रहता है; जिस प्रकार पृथ्वी में उत्पन्न होता है, पृथ्वी में बढ़ता है और अन्त में पृथ्वी पर ही आश्रित रहता है; जैसे वृक्ष पृथ्वी पर उगता है, पृथ्वी पर बढ़ता है और अंत में पृथ्वी पर ही आश्रित रहता है; जैसे बावड़ी पृथ्वी में रहती है, पृथ्वी में बढ़ती है और अन्त में पृथ्वी पर ही आश्रित रहती है; जिस प्रकार पानी की प्रचुरता पानी में होती

है, पानी में बढ़ती है और अन्त में पानी पर ही आश्रित रहती है; जिस प्रकार बुद्बुद पानी में उठता है, पानी में बढ़ता है और पानी को ही आश्रित किए रहता है उसी प्रकार समस्त पदार्थ पुरुष में उत्पन्न होते हैं, पुरुष को आश्रित करके बढ़ते हैं और अन्त में भी पुरुषाश्रित रहते हैं। ( )

मूलकार ने इस मत को ईश्वरकारणिक कहा है, निर्युक्तिकार ने कृतवादी और टीकाकार ने ईश्वरकारणिक, आत्मविवर्तवादी अथवा अद्वैतवादी कहा है। टीकाकार ने पुरुष का अर्थ आत्मा समझ कर उपरोक्त नाम दिया है।

११. अवतारवाद—किन्हीं की मान्यता है कि जिस प्रकार निर्मल जल फिर मैला हो जाता है उसी प्रकार आत्मा शुद्ध तथा पाप रहित होने के बाद फिर राग तथा द्वेष से घिर जाती है। (गा० ११-१२)

मूल तथा निर्युक्ति में इस मत के लिए कोई नाम नहीं दिया गया। टीकाकार ने इसे कृतवाद कहकर गोशाल के अनुयायी त्रैराशिक का सम्मत बतलाया है। यहाँ त्रैराशिक का अर्थ है आत्मा की तीन दशाएँ मानने वाला। पहली अशुद्ध दशा, दूसरी अकर्म अथवा शुद्ध दशा और तीसरी सकर्म दशा।

१२. सिद्ध अरोग वाद—किन्हीं की मान्यता है कि सिद्धों को रोग नहीं होता। (गा० १५)

यहाँ सिद्ध का अर्थ है अणिमा आदि आठ सिद्धियों को प्राप्त करके समाधि द्वारा शरीर त्याग करने वाले। टीकाकार ने इसे 'शैवों' की मान्यता बताया है।

१३. लोकवाद—किन्हीं की मान्यता है कि लोक अनन्त है, नित्य है शाश्वत है, इसका नाश नहीं होता।

धीर पुरुष लोक को अन्तरवाला तथा नित्य मानते हैं ( )

टीकाकार ने धीर शब्द से व्यास आदि को लिया है।

किन्हीं की यह मान्यता है कि तीर्थङ्कर अपरिमित जानते हैं। यह सब लोकवाद है।

१४. सुख से सुखवाद—किन्हीं की यह मान्यता है कि सुख से सुख होता है। सुख में आर्य मार्ग और समाधि की प्राप्ति होती है। (उपसर्ग अ० गा० ६) टीकाकार ने किन्हीं का अर्थ किया है शाक्य अथवा जैन (स्वयूथ्य)। "सुख से सुख होता है इस वचन का विवरण करते हुए टीकाकार लिखते हैं—तप तथा लोच सरीखे दुःख सहने से परिणाम में कोई सुख नहीं मिलता। अच्छा आहार तथा विहार रहने पर चित्त स्वस्थ रहता है, उससे समाधि प्राप्त होती है, और

परिणाम में निर्वाण प्राप्त होता है। इसलिए यह बात ठीक है कि सुख से सुख मिलता है।

१५. स्त्री संगवाद—कुछ पासत्थे (ढीले आचार वाले) यह कहते हैं कि यदि स्त्री स्वयं याचना करे तो उसके साथ सहवास करने में कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार पके हुए फोड़े को फोड़ देने पर थोड़ी देर के लिए सुख मिलता है, इसी प्रकार स्त्रीसंग भी थोड़ी देर के लिए सुखकर होता है। जिस प्रकार बकरा बिना हिले डुले पानी पीता हुआ सन्तोष प्राप्त करता है उसी प्रकार स्त्रीसंग में किसी को पीड़ा नहीं होती, किन्तु सन्तोष मिलता है। कुछ मिथ्या-दृष्टि अनार्य इस प्रकार कहते हैं।

मूल तथा निर्युक्ति में इस मत के लिए कोई नामोल्लेख नहीं है। टीकाकार ने यह मान्यता नाथवादिक मण्डल की बताई है।

१६. मुक्ति साधन वाद—

(क) कुछ मूढ़ लोग यह कहते हैं कि नमक नहीं खाने से मोक्ष मिलता है।
(ख) कुछ यह मानते हैं कि ठण्डे पानी के सेवन से मोक्ष प्राप्त होता है।
(ग) कुछ यह कहते हैं कि हवन करने से मोक्ष मिलता है।

(कुशील परिभाषा गा० १२)

ठंढे पानी के सेवन से मोक्ष मानने वालों को टीकाकार ने भागवत सम्प्रदाय के तापस कहा है। उनकी वारिभद्रक आदि अनेक जातियाँ हैं।

सूत्र कृतांग के 'समवसरण' अध्ययन में क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद तथा अज्ञानवाद इन चार वादों की चर्चा है। मूलसूत्र में नीचे लिखे अनुसार उनका केवल नामोल्लेख है—

क्रियासमवसरण, अक्रिया समवसरण, विनयसमवसरण, तथा अज्ञान समवसरण इस प्रकार चार समवसरण हैं। वादी लोग इन्हें भिन्न भिन्न स्वीकार करते हैं। (सम० अध्य० गा० १)

१७. क्रियावाद—कुछ श्रमण तथा ब्राह्मण लोक का स्वरूप ठीक ठीक समझकर कहते हैं कि दुःख स्वयंकृत है, अन्यकृत नहीं हैं। (गा० ११)

१८. अक्रियावाद—अक्रियावादी अक्रिया का समर्थन करते हैं। वे अपने तत्त्वों में दृढ़ नहीं हैं। कोई कुछ पूछता है तो उत्तर नहीं दे सकते। यह एक पक्ष वाला है, यह दो पक्ष वाला है, इस प्रकार कहते रहते हैं। कर्म के छः आयतन हैं। वे कहते हैं—सूर्य न उगता है न छिपता है। चन्द्रमा न घटता है न

बढ़ता है। पानी झरता नहीं है। हवा बहती नहीं है। समस्त संसार वंध्य (निष्फल) तथा नियत है। (गा० ५-८)

१९. विनयवाद—विनयवादी सत्य को असत्य समझते हैं और असाधु को साधु समझते हैं। (गा० ३)

२०. अज्ञानवाद—कुछ श्रमण तथा ब्राह्मण कहते हैं कि सभी ज्ञान परस्पर विरुद्ध हैं, इसलिए असत्य हैं। संसार में कोई प्राणी यथार्थ ज्ञान वाला नहीं है। जिस प्रकार अम्लेच्छ भाषा को नहीं समझने वाला म्लेच्छ केवल अम्लेच्छ के वचनों का अनुवाद करता है किन्तु समझता कुछ नहीं। उनका कोई प्रयोजन नहीं जान पाता। इसी प्रकार सभी लोग अपनी अपनी परम्परा द्वारा माने गए तत्त्वों का केवल अनुवाद करते हैं। उनका कोई अर्थ या प्रयोजन नहीं समझ पाते। किसी को किसी प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता। इसलिए अज्ञान ही श्रेष्ठ है। (गा० १४-१५)

२१. हिंसावाद—बहुत से श्रमण ब्राह्मण यह प्ररूपणा करते हैं कि सभी प्राणी, भूत, जीव तथा सत्त्वों का हनन करना चाहिए, उन्हें दुःख, त्रास तथा उपद्रव करना चाहिए।

टीकाकार ने इसे धर्म, श्राद्ध, तथा यज्ञ के लिए हिंसा को धर्म बताने वालों का मत बताया है।

२२. हस्ति-तापस-वाद—दया धर्म का पालन करने के लिए कुछ लोग यह कहते हैं कि हम लोग प्रतिवर्ष एक हाथी को बाण द्वारा मारकर अपना निर्वाह करते हैं इससे शेष सभी प्राणियों की दया पल जाती है।

इस मान्यता वालों को निर्युक्ति तथा टीका में हस्तितापस कहा गया है।

२३. वेदवाद—जो व्यक्ति अपनी सम्प्रदाय के दो हजार ब्राह्मण स्नातकों को भोजन कराता है वह महान् पुण्य संचय करके देवत्व को प्राप्त करता है।

यह मान्यता वेदवाद है।

(पुरातत्त्व में प्रकाशित पं० बेचरदास जी के एतद्विषयक लेख के आधार पर)

महात्मा हुसेन बसराई

डॉ० इन्द्र

मुस्लिम महात्माओं में महातपस्वी हुसेन का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। उनका जन्म आज से तेरह सौ वर्ष पहले मदीना में हुआ था। उग्र साधना, दृढ़ संयम, कठोर व्रत, तपस्या एवं आत्मशोधन से भरा हुआ उनका जीवन साधकों के लिए उच्च आदर्श उपस्थित करता है। जैन साधना में प्रतिक्रमण का जो स्थान है, इस्लाम में वही स्थान सिज्दा अर्थात् अपने पापों के लिए पश्चात्ताप का है। हुसेन ने अपनी जीवनशुद्धि के लिए इसे बहुत महत्व दिया है। नीचे उनके कुछ जीवन प्रसंगों का वर्णन किया जाएगा।

हुसेन की माता हजरत मुहम्मद की पत्नी आयेशा की परिचारिका थी। जब वह अपनी मालकिन के काम काज में लगी रहती तो बालक हुसेन भूख के मारे रोने लगता। आयेशा के अपनी कोई सन्तान न थी। बालक हुसेन से उसे बहुत स्नेह था। रोना सुन कर वह बड़े प्यार से उसे अपनी गोद में उठा लेती और अपना स्तन पिलाने लगती। हुसेन भूख से व्याकुल होकर उसे चूसने लगता। वात्सल्य के कारण निःसन्तान माता के भी स्तनों में दूध की बूंदें उतर आती।

जब हुसेन का जन्म हुआ तो उसे हजरत मुहम्मद के साथी महात्मा ओमर के पास ले जाया गया। उन्होंने बालक का सुन्दर मुख देख कर उसका नाम हुसेन (सुन्दर मुख वाला) रखा। हुसेन ने एक सौ तीस साधुओं का सहवास किया। हजरत मुहम्मद के दौहित्र के साथ उनकी गहरी मित्रता थी। दोनों ने एक साथ विद्याध्ययन किया था। हुसेन के पिता अली ने ही उन दोनों को दीक्षा दी थी।

हुसेन जौहरी का धंधा करते थे। हीरे मोती के आभूषण बनाना भी जानते थे। इस कारण वे 'हुसेन जौहरी' के नाम से पुकारे जाते थे। एक बार उन्हें व्यापार के लिए रोम जाना पड़ा। उसी समय कार्यवशात् वहाँ के

राजमन्त्री से भी मिलना हुआ। दोनों में घनिष्ठ मित्रता हो गई। एक बार वे मन्त्री के आग्रह से घोड़े पर बैठ कर नगर से कुछ दूर भ्रमण के लिए निकले। वहाँ उन्होंने हीरे जवाहर मोती आदि बहुमूल्य वस्तुओं से सजा हुआ एक विशाल मण्डप देखा। थोड़ी देर में वहाँ सुन्दर वेशभूषा तथा अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर सैनिकों की एक टुकड़ी आई। उसने मण्डप की प्रदक्षिणा की और रोमन भाषा में कुछ गुनगुनाती हुई चली गई। उसके बाद श्वेत वस्त्र धारण किए वयोवृद्ध पुरुषों की एक टोली आई। उसकी वेशभूषा तथा मुखमण्डल से तेजस्विता प्रतीत होती थी। वह भी मण्डप का चक्कर लगा कर कुछ गुनगुनाती हुई चली गई। उनके बाद चार सौ विद्वान् पण्डितों की एक टोली आई और उसी प्रकार चली गई। उसके पश्चात् अत्यन्त रूप वाली दो सौ दासियाँ हीरे, मोती, माणिक्य आदि से भरे हुए सोने के थाल लेकर आईं। वे भी उसी प्रकार मण्डप की प्रदक्षिणा करके कुछ बोलती हुई चली गईं। सब के अन्त में राजा और रानी आए। वे मण्डप के अन्दर गए। थोड़ी देर वहाँ ठहर कर बाहर निकले और चले गए।

हुसेन ने यह सारा दृश्य देखा और मन ही मन कहा—"यह सब क्या हो रहा है। इसका रहस्य समझ में नहीं आया।" अन्त में इसका रहस्य मन्त्री से पूछा। मन्त्री ने कहा—"हमारे राजा के एक परम रूपवान् तथा गुणवान् पुत्र था। राजा का उस पर अत्यन्त स्नेह था। राजकुमार की अकस्मात् मृत्यु हो गई। राजा को भयङ्कर आघात लगा। उसके शोक की कोई सीमा न थी। इस मण्डप के अन्दर उसी राजकुमार की कब्र है। प्रतिवर्ष एकबार राजा अपने दरबारी तथा सामन्तों के साथ यहाँ आता है। आपने देखा—सबसे पहले सैनिकों का एक दल आया था और प्रदक्षिणा करके कुछ बोलता हुआ चला गया। वे कह रहे थे—'हे राजकुमार! तुम्हारी जो अवस्था हुई है, हमारे बाहुबल और पराक्रम से यदि वह बदल सकती तो हम खुशी खुशी अपने प्राणों की बाजी लगाकर तुम्हें वापिस बुला लेते। किन्तु जिसने तुम्हारी यह अवस्था की है उससे किसी प्रकार युद्ध नहीं किया जा सकता।" इसके बाद नगर के विद्वान् पण्डित आए। उन्होंने कहा—हे राजकुमार! यदि ज्ञान विज्ञान या पाण्डित्य के द्वारा तुम्हारा यह कष्ट दूर करना सम्भव होता तो हम तुम्हें अवश्य जीवित कर देते। किन्तु यहाँ ज्ञान का कोई वश नहीं चलता।" इसी प्रकार नगर के गणमान्य वृद्धजनों ने आकर कहा—"हे राजकुमार! हमारे आशीर्वाद तथा शोकोद्गार से यदि तुम्हारे जीवन की रक्षा

करना सम्भव होता तो हम देर न करते। किन्तु यहाँ किसी का वश नहीं चलता।" इसके पश्चात् रूपवती दासियों ने रत्नों से भरे थाल रखकर कहा—हे हमारे मालिक ! यदि धन सम्पत्ति या रूप के द्वारा तुम्हें वापिस बुलाया जा सकता हो तो यह सब आपके चरणों में अर्पित है। किन्तु इस परिवर्तन का जो नियन्ता है उसके सामने धन, सम्पत्ति तथा सौन्दर्य की कोई कीमत नहीं है।" सबके अन्त में राजा तथा रानी आए। उन्होंने कहा—प्यारे बेटा ! तुम्हारे बाप के हाथ में कोई सत्ता नहीं है। हमने तुम्हारे लिए विशाल सेना अनुभवी एवं वयोवृद्ध नागरिकों को भेजा, बड़े बड़े ज्ञानियों को भेजा, रूप-यौवन से भरपूर सुन्दरियों को भेजा और अन्त में स्वयं भी आए। सैन्यबल, ज्ञानबल, धनबल तथा सौन्दर्यबल, इन चारों का उपयोग करके हमारे से जो बन सका, किया। किन्तु जो बात हो गई उसमें फेरफार करना तुम्हारे पिता की शक्ति से बाहर है। यह घटना जिसकी आज्ञा से हुई है उसके आगे तुम्हारा पिता तथा संसार की समस्त शक्ति भी तुच्छ है। उस सर्वशक्ति के सामने सभी शक्तिहीन हैं।" ऐसा कहकर राजा भी चला गया। प्रतिवर्ष निश्चित तिथि पर इसी प्रकार किया जाता है।"

मन्त्री के उपरोक्त वचनों से हुसेन का कोमल हृदय व्याकुल हो उठा। मानव जीवन की अस्थिरता और पामरता स्पष्ट झलकने लगी। सांसारिक सुखों से विरक्ति हो गई। बाह्य प्रपञ्चों से मन उदास रहने लगा। वृत्तियाँ अन्तर्मुखी रहने लगीं। उन्होंने अपना व्यापार समेट लिया और मदीना छोड़कर बसरे में रहना प्रारम्भ किया। उसी समय हुसेन ने प्रतिज्ञा की—"जबतक जीवन में पाप विकार अंशमात्र भी रहेगा तबतक मेरे लिए सांसारिक सुख भोगना हराम है।" उसके बाद उन्होंने सतत उपासना तथा कठोर साधना का कार्यक्रम बनाया और उसी में लीन हो गए। लोकसंसर्ग का त्याग करके एकान्त में रहने लगे। लम्बे समय तक इस प्रकार रहने के बाद उन्होंने सप्ताह में एक दिन उपदेश देना प्रारम्भ किया।

उनका उपदेश सभी के लिए खुला था। किन्तु जब तक तपस्विनी रवैया न आती उपदेश प्रारम्भ न होता। एक दिन किसी ने पूछा—हुजूर ! आपका उपदेश सुनने के लिए इतने बड़े बड़े सम्मानित विद्वान् उपस्थित हैं, फिर एक बुढ़िया नहीं आई तो क्या हुआ ? हुसेन ने उत्तर दिया—"मैंने इतना शरबत तैयार किया है जो हाथी के पेट में ही समा सकता है। उसे चींटियों को कैसे पिलाऊँ ?"

व्याख्यान देते देते जब वे आवेश में आ जाते तो रबैया की ओर देख कर कहते—माता जी, मेरा उत्साह तुम्हारे हृदय की ज्योति में से उत्पन्न होता है।

एक बार किसी ने उनसे पूछा—"आपका व्याख्यान सुनने के लिए इतने लोग इकट्ठे होते हैं। उन्हें देखकर आपके मनमें खुशी होती है?" हुसेन ने उत्तर दिया—"श्रोताओं की संख्या से मुझे प्रसन्नता नहीं होती। इतनी बड़ी संख्या में यदि एक मनुष्य भी सत्य का जिज्ञासु बनकर तथा पापों के लिए अनुताप करता हुआ निरभिमान होकर आए तो उसे देख कर मुझे परम संतोष होगा।"

दूसरे दिन किसी ने पूछा—"यदि वैद्य स्वयं बीमार है तो वह दूसरों का इलाज कैसे कर सकता है।" हुसेन ने उत्तर दिया—"वैद्य को पहले अपना इलाज करना चाहिए। उसके बाद दूसरों को दवा देनी चाहिए।"

एक दिन जब वे सभा में बैठकर उपदेश दे रहे थे, बसरे का बादशाह होज्जाज अपनी सेना तथा सामन्तों के साथ आ पहुँचा। श्रोता इधर उधर देखने लगे। किन्तु हुसेन की व्याख्यान धारा उसी प्रकार चलती रही। बादशाह व्याख्यान सभा में आया और खाली जगह देख कर बैठ गया। हुसेन ने नजर उठाकर देखा भी नहीं। जब व्याख्यान पूरा हुआ तो बादशाह ने हुसेन के पास जाकर उनका हाथ चूमा और अपने साथियों से कहा—"यदि किसी को सच्चे महात्मा के दर्शन करने हों तो हुसेन के पास आना चाहिए।"

बाल्यावस्था में हुसेन के द्वारा एक पाप हो गया था। उसके लिए उनके मन में सदा पश्चात्ताप होता रहता था। वे जब कोई नया वस्त्र पहिनते तो उस पर पाप का नाम लिख डालते और लिखते लिखते खूब रोते। इस प्रकार वे उस पाप की स्मृति को सदा जागृत रखते।

मालिक दीनार के पूछने पर एक दिन उन्होंने कहा—सांसारिक भोगों में आसक्ति मन की मृत्यु है और यह मनुष्य की सबसे भयंकर दुर्दशा है।

हुसेन अपने को इतना तुच्छ मानते थे कि प्रत्येक मनुष्य तथा प्रत्येक प्राणी को अपने से श्रेष्ठ समझते थे। एक बार वे दजला नदी के किनारे जा रहे थे। वहाँ एक स्त्री के साथ एक काफ़िर बैठा हुआ था। सामने एक बोतल थी।

उसमें से कोई तरल वस्तु निकालकर वह पी रहा था। उसे देखकर हुसेन सोचने लगे—"क्या यह मनुष्य भी मुझसे श्रेष्ठ है? नहीं ऐसा नहीं हो सकता। यह स्त्री के साथ बैठा है और शराब पी रहा है। यह मुझ से श्रेष्ठ कैसे हो सकता है?" थोड़ी देर में वहाँ एक डोंगी आई और अचानक पानी के धक्के से उलट गई। डोंगी में सात आदमी बैठे थे। सब के सब डूबने लगे काफिर ने एक दम पानी में छलाँग लगाई और जान जोखम में डालकर अत्यन्त साहस के साथ छह आदमियों को किनारे ले आया। इसके बाद वह हुसेन की ओर देख कर बोला—" सात में से छ को मैंने बचा लिया है। यदि हो सके तो सातवें को तुम बचाओ। अरे मौलवी! यह जो स्त्री मेरे पास बैठी है, मेरी माँ है। इस बोतल में साफ पानी है। मैं देखना चाहता था कि तुम अन्धे हो या नेत्र वाले हो। मैं समझ गया कि तुम अन्धे हो।" यह सुन कर हुसेन अत्यन्त लज्जित हुए और काफिर के पैरों में गिर कर क्षमा माँगने लगे। उन्होंने काफिर से कहा—"आपने छह आदमियों को नदी में डूबने से बचा लिया। मैं भी अहंकार रूपी नदी में डूब रहा हूँ। मुझे भी बचाइए।" काफिर ने उसे आशीर्वाद दिया—"तुम नेत्र वाले बनो। अहङ्कार के दूर होते ही तुम्हारी दृष्टि खुल जाएगी और सच्ची वस्तु दिखाई देने लगेगी।" इस घटना के बाद हुसेन ने अपने को कभी किसी से श्रेष्ठ नहीं माना। प्रत्येक व्यक्ति में कोई न कोई गुण देख कर वे नम्र बन जाते थे।

एक दिन एक कुत्ता उनके पास आकर बैठ गया। किसी ने पूछा—"यह कुत्ता श्रेष्ठ है या तुम श्रेष्ठ हो?" हुसेन ने उत्तर दिया—"यदि मैं अपने धार्मिक नियमों का शुद्ध हृदय से पालन करता हूँ तो मैं श्रेष्ठ हूँ। नहीं तो मेरे सरीखे एक नहीं सौ हुसेनों से भी कुत्ता श्रेष्ठ है।"

हुसेन ने लिखा है—"मुझे तीन बार हार खानी पड़ी। पहली बार एक शराबी से, दूसरी बार एक बालक से और तीसरी बार एक औरत से। एक बार मुझे एक शराबी मिला। नशे में इतना चूर था कि होश ठिकाने न थे। टाँगें लड़खड़ा रहीं थी। बिना देखे कीचड़ में फँसा जा रहा था। मैंने उसे कहा—"भाई। जरा सम्हल कर पैर रखना नहीं तो फिसल जाओगे। वह बोला—"तुम अपना पैर जमाए रखो तो बहुत है। मैं शराबी हूँ और तुम धर्म गुरु हो। मैं गिर पड़ूँगा तो कीचड़ पोंछकर फिर खड़ा हो जाऊँगा। मेरे लिए तो यह रोज की बात है। किन्तु तुम सम्हल कर चलना। अगर

तुम फिसल गए तो खड़ा होना मुश्किल हो जाएगा। तुम्हारे साथ और भी बहुत से फिसल पड़ेंगे।"

कुछ दिनों बाद एक लड़का मिला। वह हाथ में दीया लिए जा रहा था। मैंने पूछा—"भाई ! यह दीया कहाँ से लाए ? इतने में हवा का झोंका आया और दीया बुझ गया। बालक ने मुझ से पूछा—"पहले आप यह बताइए कि दीया गया कहाँ ? फिर मैं बताऊँगा कि वह कहाँ से आया था।"[1]

एक दिन ऐसा हुआ कि एक अत्यन्त रूपवती सुन्दरी हाथ और मुँह नंगा[2] रख कर गुस्से में भरी हुई मेरे सामने आकर खड़ी हो गई। इस हालत में उसे देख कर मैं शर्मा गया। मैंने कहा—"पहले अपने हाथ और मुँह बुरके के अन्दर कर लो।" वह कहने लगी—"मैं एक सृष्ट वस्तु के प्रेम के पीछे इतनी पगली हो गई कि अपना मान खो बैठी। अगर आप सावधान न करते तो मैं इसी तरह खुले मुँह बाजार में चली जाती। किन्तु आप तो सृष्टि रचने वाले के प्रेम में मस्त हैं। फिर इतनी बातचीत करने तथा मेरा मुँह देख कर शर्मा जाने का भान आपको कैसे रहता है ?"

एक बार एक मुसाफिर हुसेन के पास आया और सहिष्णुता के विषय में प्रश्न पूछने लगा। हुसेन ने बताया—"सहिष्णुता दो प्रकार की है पहली कष्ट तथा विपत्ति में स्थिर रहना सिखाती है, दूसरी निषिद्ध वस्तुओं से दूर रहने में है।" इसके बाद उन्होंने धैर्य के विषय में बहुत सी बातों का स्पष्टीकरण किया। सब कुछ सुनकर मुसाफिर ने कहा—'मैंने ऐसा कोई मनुष्य नहीं देखा और न सुना जो वैराग्य तथा सहिष्णुता में आप से बढ़कर हो।" हुसेन ने कहा—"भाई ! मुझमें जो धैर्य है उसका कारण अधैर्य है। मुझमें जो वैराग्य है उसका कारण आसक्ति है। न मेरा धैर्य सच्चा धैर्य है न मेरा वैराग्य सच्चा वैराग्य है।" मुसाफिर उलझन में पड़ गया। उसने चकित होकर कहा—"आप की बात का रहस्य समझ में नहीं आया। उसे स्पष्ट करने की कृपा कीजिए।" हुसेन ने कहा—"मुझे दोजख की आग का

---

[1] बालक यह बताना चाहता था कि दीया शून्य से आया और शून्य में मिल गया। उसका उत्तर बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित था।

[2] अरब में उन दिनों सख्त परदा था और कोई स्त्री बाहर निकलते समय हाथ या मुँह बुरके से बाहर नहीं रख सकती थी।

भय लगा रहता है। उसे याद कर मेरे शरीर में कँपकँपी चढ़ जाती है। मेरा सारा धैर्य समाप्त हो जाता है। इस ज़िन्दगी में मिलने वाले सुख दुःखों के प्रति मेरा जो धैर्य है उसका कारण यही अधीरता है। दूसरी ओर बहिश्त के सुख मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। उन्हीं को प्राप्त करने के लिए मेरा इस जन्म में सुखों से वैराग्य है। सच्चे धीर तो वे होते हैं जिनकी धीरता भय से नहीं किन्तु ईश्वरनिष्ठा से उत्पन्न होती है। उसी प्रकार जिनके वैराग्य का कारण ईश्वर के प्रति प्रेम है वे ही सच्चे विरक्त हैं। नरक के भय से डरने वाले धीर नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार स्वर्ग में भोगों की लालसा रखने वाले सच्चे विरक्त नहीं हैं।

हुसेन को कुरान का नीचे लिखा सन्देश अत्यन्त प्रिय था—जो मनुष्य अपने हृदय के आसन पर खुदा की बराबरी में किसी और को बैठाता है, खुदा उसे क्षमा नहीं करता, इस बात को अच्छी तरह याद रखो। जो व्यक्ति केवल खुदा से प्रेम करता है वही खुदा की मुआफी का हकदार है। खुदा कहते हैं—"मैं तुम्हारी सब भूलों को क्षमा कर दूँगा। लेकिन अगर तुमने अपने दिल के कोने में मेरे सिवाय और किसी को बैठाया तो कभी मुआफी नहीं मिलेगी।"

किसी ने हुसेन से पूछा—"तुम्हारी हालत कैसी है।" हुसेन ने उत्तर दिया—समुद्र के बीच जहाज टूट जानेपर डूबता हुआ आदमी लकड़ी के पटिए को पकड़ लेता है। उसकी हालत कैसी होती है ? मेरी हालत भी वैसी ही है।

उपदेश वचन

(१) यदि तुम किसी पर अपनी आज्ञा चलाना चाहते हो तो उचित है कि पहले स्वयं आज्ञाकारी बनो।

(२) मुझे स्त्री, पुत्र तथा नौकर चाकरों की अपेक्षा अपने साधर्मी बन्धु अधिक प्रिय हैं। स्त्री, पुत्र आदि संसार के साथी हैं। उनकी अपेक्षा धर्म के साथी अधिक काम आते हैं।

(३) अन्तरात्मा के प्रकाश का अनुसरण करना ही कर्तव्य है।

(४) जो लोग इन्द्रिय विषयों में आसक्त हैं, दुराचारी हैं अथवा जो धर्म-गुरु, धर्मनीति के विरुद्ध आचरण करते हैं, उनके दोषों को प्रकट करना निन्दा नहीं है।

(५) विषयी लोग तीन बातों के लिए दुखी होते हुए मरते हैं—(१) उनके मन में अफसोस रह जाता है कि हम पेट भरकर इन्द्रियसुखों को नहीं भोग सके। (२) हमने जो जो आशाएँ बाँधी थीं, वे अपूर्ण रह गईं। (३) हमने परलोक के लिए कोई भाथा नहीं लिया।

(६) जो लोग अपने ऊपर अधिक भार उठाए फिरते हैं उन्हीं की मृत्यु होती है, जो भार को हल्का करते जाते हैं वे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं।

(७) जो लोग संसार को किसी की धरोहर मानकर स्वीकार करते हैं, ईश्वर उनके अपराधों को क्षमा कर देता है। धरोहर उसके मालिक को सौंप कर वे अपना भार हलका कर देते हैं। फिर संसार समुद्र को अनायास ही पार कर लेते हैं।

(८) तुम्हारे मरने के बाद दुनिया तुम्हें किस तरह याद करेगी तथा तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव करेगी, यह जानना हो तो दूसरे लोगों को देखो कि मरने के बाद उनका क्या हुआ।

(९) एक हजार वर्ष की नमाज से भी अनासक्ति की एक बूंद श्रेष्ठ है।

(१०) तुम्हारे विचार तुम्हारी आत्मा का दर्पण हैं। वे बता देते हैं कि वह कितनी मलीन है।

(११) जिसने अपनी कामनाओं को पैरों तले कुचल दिया है वही मुक्त है। जिसने ईर्ष्या का त्याग कर दिया है उसी को प्रेम की प्राप्ति होती है। जिसने धैर्य रखना सीखा है वही शुभ फल का अधिकारी है।

(१२) जब तक हृदय से आवाज नहीं आती, ज्ञानी लोग चुप बैठे रहते हैं। वे लोग अपने हृदय के शब्द ही जीभ पर लाते हैं।

(१३) साधना के मूल तत्त्व तीन हैं—(१) सबसे पहली बात यह है कि साधक अपनें मुँह से वही बात कहता है जो ईश्वरी आदेश के अनुसार उसकी अन्तरात्मा में उठती है। वह इस बात की चिन्ता नहीं करता कि सुनने वाले नाराज हो रहे हैं या प्रसन्न। दूसरी बात यह है कि जो बातें ईश्वर को प्रिय नहीं है उनसे वह अपने मन को खींच लेता है। तीसरी बात यह है कि जो बातें ईश्वर को प्रिय हैं उनके लिए प्रयत्न करता रहता है।

जैन कथा साहित्य का सार्वजनीन महत्व

—आचार्य जिनविजय जी

जैन कथासाहित्य लोकजीवन को उन्नत और चरित्रशील बनने वाली नैतिक शिक्षा की प्रेरणा का एक उत्कृष्ट वाङ्मय है। जैन कथाकारों का एक मात्र लक्ष्य जनता में दान, शील, तप और सद्भावस्वरूप सार्वधर्म का विकास और प्रसार करने का रहा है। जिस व्यक्ति में जितने अंश में इन दान, शील, तप और सद्भावना रूप चतुर्विध धार्मिक गुणों का विकास होता है, वह व्यक्ति उतने अंश में ऐहिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टि से सुख और शान्ति का भोक्ता बनता है। जिसके आत्मा में इन गुणों का चरम विकास हो जाता है, वह मनुष्य सर्वकर्म विमुक्त बन जाता है और संसार के सर्व प्रकार के द्वंद्वों से पार हो जाता है। जैसे व्यक्ति के जीवन विकास के लिए यह धर्म आदर्शभूत है वैसे ही अन्यान्य समाज के लिए और समूचे मानवसमूह के लिए भी यह धर्म आदर्शभूत है। इससे बढ़कर न कोई धर्मशास्त्र और न कोई नीतिसिद्धान्त—मनुष्य की ऐहिक सुख-शान्ति का और आध्यात्मिक उन्नति का अन्य कोई श्रेष्ठ धर्ममार्ग बतला सका है। जैन कथाकारों ने सद्धर्म और सन्मार्ग के जो ये ४ प्रकार बतलाए हैं, वे संसार के सभी मनुष्यों का सदा कल्याण करने वाले हैं, इसमें कोई शंका नहीं है। चाहे परलोक को कोई माने या नहीं, चाहे स्वर्ग और नरक को कोई माने या नहीं, चाहे पुण्य और पाप जैसा कोई शुभ अशुभ कर्म और उसका अच्छा या बुरा फल होने वाला हो या नहीं, लेकिन यह चतुर्विध धर्म, इसके पालन करने वाले मनुष्य या मनुष्य समाज के जीवन को निश्चित रूप से सुखी, संस्कारी और सत्कर्मी बना सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। संसार के भिन्न भिन्न धर्मों ने और भिन्न भिन्न नीतिमार्गों ने ऐहिक और पारलौकिक सुखशान्ति के लिए जितने भी धार्मिक और नैतिक विचार प्रगट किए हैं और जितने भी आदर्शभूत उपाय प्रदर्शित किए हैं, उन सब में इन जैन कथाकारों के बतलाए हुए इन ४ सर्वोत्तम

सरल और सुगम धार्मिक गुणों से बढ़कर अन्य कोई धार्मिक गुण, सनातन और सार्वभौम पद पाने की योग्यता नहीं रखते। ये गुण सार्वभौम इसलिए हैं कि इनका पालन संसार का हर कोई व्यक्ति बिना किसी धर्म, संप्रदाय, मत या पक्ष के बंधन के एवं बाधा के कर सकता है। ये गुण किसी धर्म, मत, संप्रदाय या पक्ष का कोई संकेत चिन्ह नहीं रखते। चाहे किसी देश में, चाहे किसी जाति में, चाहे किसी धर्म में और चाहे किसी पक्ष में, एवं चाहे किसी स्थिति में रहकर भी मनुष्य इन चतुर्विध गुणों का यथाशक्ति पालन कर सकता है और इनके द्वारा इसी जन्म में परम सुख और शान्ति प्राप्त कर सकता है। सनातन इसलिए हैं कि संसार में कभी भी कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती कि जिसमें इन गुणों का पालन मनुष्य के लिए अहितकर हो सकता हो या अशक्य हो सकता हो। यह है इन जैन कथाग्रंथों का श्रेष्ठतम नैतिक महत्व।

इसी तरह सांस्कृतिक महत्व की दृष्टि से भी इन कथाग्रंथों का वैसा ही उच्चतम स्थान है। भारतवर्ष के, पिछले ढाई हजार वर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का सुरेख चित्रपट अंकित करने में, जितनी विश्वस्त और विस्तृत उपादान सामग्री इन कथाग्रंथों से मिल सकती है उतनी अन्य किसी प्रकार के साहित्य में से नहीं मिल सकती। इन कथाओं में भारत के भिन्न भिन्न धर्म, संप्रदाय, राष्ट्र, समाज, वर्ण आदि के विविध कोटि के मनुष्यों के, नाना प्रकार के आचार, विचार, व्यवहार, सिद्धान्त, आदर्श, शिक्षण, संस्कार, नीति, रीति, जीवन-पद्धति, राजतंत्र, वाणिज्य व्यवसाय, अर्थोपार्जन, समाजसंगठन, धर्मानुष्ठान, एवं आत्म-साधन आदि के निदर्शक बहुविध वर्णन निबद्ध किए हुए हैं जिनके आधार से हम प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास का सर्वाङ्गीण और सर्वतोमुखी मानचित्र तैयार कर सकते हैं। जर्मनी के प्रो० हर्टेल, विण्टरनित्स, लॉयमान आदि भारतीय विद्या-संस्कृति के प्रखर पण्डितों ने, जैन कथासाहित्य के इस महत्व का मूल्याङ्कन बहुत पहले ही कर लिया था और उन्होंने इस विषय में कितना ही मार्गदर्शक संशोधन, अन्वेषण, समालोचन, और संपादन आदि का उत्तम कार्य भी कर दिखाया था, लेकिन दुर्भाग्य से कहो या अज्ञान से कहो, हमारे भारतवर्ष के विद्वानों का इस विषय की ओर अभी तक स्थूल दृष्टिपात भी नहीं हो रहा है। (आगे दिये हुए विहंग दर्शन से पाठकों को जैन कथा साहित्य की विविधता व विशालता का कुछ पता लग सकेगा) —

जैन कथा साहित्य का विहंगदर्शन

विक्रम संवत् दूसरी शती

पादलिप्त सूरि	कथा	तरंगवती (प्राकृत)
गुणाढ्य	कथा	बृहत् कथा

विक्रम दूसरी—तीसरी

विमल	कथा	पउमचरिय

छठी

संघदास क्षमाश्रमण	कथा	वसुदेव हिंडि

विक्रम आठवीं

हरिभद्रसूरि	चरित्र-कथा	समराइच्चकहा, मुनिपतिचरित्र, यशोधर चरित्र, वीरांगद कथा, कथाकोश, नेमिनाथ चरित्र, धूर्ताख्यान
हरिषेण	चरित्र	पद्मचरित—पद्मपुराण
चतुर्मुख	पुराण	हरिवंश—पद्मपुराण

विक्रम नवमी

आचार्य जिनसेन	पुराण	हरिवंशपुराण
कवि परमेष्ठी		वागर्थ संग्रह
जिनसेन	इतिहास	आदिपुराण (त्रिषष्टि चरित्र)
महासेन	चरित्र	सुलोचना कथा
प्रभंजन	चरित्र	यशोधर चरित्र
सिद्धर्षि (दुर्ग स्वामी के शिष्य)	कथा	उपमितिभवप्रपंचा कथा, चंद्रकेवली चरित्र
विजयसिंह सूरि	कथा	भुवनसुंदरी-(८९११ गाथा)
महेश्वरसूरि	कथा	पंचमी माहात्म्य कथा
हरिषेण	कथा	आराधना कथा कोश (१२५०० श्लोक)

कवि पम्प	पुराण	आदिपुराण चम्पू, विक्रमार्जुन विजय
कवि पोन्न	पुराण	शान्तिपुराण
धनपाल (धक्कड़ वंशीय)	कथा	भविसयत्त कहा (पंचमीकहा)

विक्रम ग्यारहवीं

जम्बूसूरि	चरित्र	मणिपति चरित्र (सं० १००५)
धनेश्वर सूरि (अभयदेव के शिष्य)	कथा	सुरसुंदरी कथा
पुष्पदंत महाकवि	चरित्र	त्रिषष्टिमहापुरुषगुणालंकार (अपभ्रंश), णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित्र) जसहर चरिउ
	पुराण	महापुराण (उत्तरपुराण)
आचार्य महासेन (जयसेन के-शिष्य गुणाकर के शिष्य)	चरित्र	प्रद्युम्न चरित्र
अजितसेन के शिष्य	पुराण	चामुंडपुराण (त्रिषष्टि लक्षण पुराण)
वीरनंदी (अभयनंदी के शिष्य)	चरित्र	चंद्रप्रभचरित्र महाकाव्य
इन्द्रनंदी ,,	,,	श्रुतावतार (श्रुतपंचमी कथा)
श्रीचंद्र	पुराण	महापुराण (पुष्पदंत) का टिप्पण, पुराणसार
	चरित	पद्मचरित (रविषेण) का टिप्पण
प्रभाचंद्र	कथा	आराधना टीका
वादिराज सूरि,	कथा	पार्श्वनाथ चरित्र
	स्तोत्र	एकीभाव स्तोत्र, अध्यात्माष्टक
मल्लिषेण	पुराण	महापुराण (त्रिषष्टि चरित्र)
सोमदेव	चम्पू चरित्र	यशस्तिलक चम्पू
		पार्श्वनाथ चरित्र
वर्धमानसूरि (१०८८ स्वर्ग)	कथानक	उपमितिभवप्रपंचानामसमुच्चय
शान्तिसूरि वादिवेताल	आगमिक	उत्तराध्ययन की पाइअ टीका
वीराचार्य		आराधना पताका

जिनेश्वर सूरि (वर्धमान सूरि के शिष्य, खरतर गच्छ के स्थापक)	कथा-चरित्र	निर्वाण लीलावती कथा
धनेश्वर सूरि	कथा	सुरसुंदरी (?)
सूराचार्य	पुराण	महाकाव्य (१०९०)
महाकवि धवल		हरिवंश पुराण (अपभ्रंश १८०० श्लोक)
नरेश्वर सूरि	कथा	संयम मंजरी (अपभ्रंश)
श्रीचंद्र मुनि	,,	महावीरोत्साह (") कथाकोश (अनु०)
सागरदत्त	चरित्र-पुराण	जंबूचरिउ (अप०)
		पार्श्व पुराण (अपभ्रंश)
नयनंदी	,,	सुदर्शन चरिउ (अपभ्रंश)

बारहवीं शताब्दी

कवि साधारण (सिद्धसेनसूरि)	कथा	विलासवती कथा (समराइच्च कथा से उद्धृत अपभ्रंश (११२३)
नेमिचंद्र सूरि (आम्रदेव के शिष्य)	कथा-चरित्र	रत्नचूड कथा, महावीर चरियं प्राकृत (११३९) आख्यान मणिकोश
देवभद्रसूरि (नवांगीटीकाकार अभयदेव के प्रशिष्य)	कथा-चरित्र	वीरचरियं, कहारयण कोसो (११५८), पार्श्वनाथ चरित्र (११६५)
वर्धमान सूरि (")	चरित्र	आदिनाथ चरित्र (११६०).
वादीदेव सूरि (मुनिचंद्र के शिष्य) (जन्म ११४३, दीक्षा ११५२, आचार्य ११७४, स्वर्ग० १२२६)	आगमिक	मूलशुद्धि की स्थानक टीका (स्थानकानि)
हेमचंद्र (पूर्णतल्लगच्छ) (जन्म ११४५, दीक्षा ११५४, आचार्य ११६६, स्वर्ग० १२२९)	पुराण	त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित परिशिष्ट पर्व सहित
विनयचंद्र	कथा	कथानक कोश (११६६)
महेन्द्र सूरि	कथा	नर्मदा सुंदरी कथा (११८७)

आम्रदेव सूरि (वडगच्छीय जिनचंद्र सूरि के शिष्य)	कथा	आख्यानमणि कोश (नेमिचंद्रसूरि) की टीका (११९०)
श्रीचन्द्र सूरि (मलधारी हेमचन्द्र के शिष्य)	चरित्र	मुनिसुव्रत चरित्र—१०९९४ गाथा; (११९३)
लक्ष्मणगणि ,,	,,	सुपासनाह चरियं
वर्धमान सूरि (गोविन्द सूरि के शिष्य)	,,	सिद्धराज वर्णन
घाहिल	,,	पउमसिरि चरिय (अप०)

तेरहवीं शताब्दी

लक्ष्मणगणि (मलधारी हेमचंद्र के शिष्य)	चरित्र	सुपासनाहचरियं (१०००० श्लोक सं० ११९९)
मुनिरत्नसूरि (पौर्णमिकगच्छीय समुद्रघोष सूरि के शिष्य)	चरित्र	अममस्वामिचरित्र (१२२४) अंबड चरित्र, मुनिसुव्रत चरित्र
सोमप्रभसूरि (वडगच्छीय)	,,	सुमतिनाथ चरित्र (प्रा०) कुमारपाल प्रतिबोध (१२४१)
देवभद्र (अभयदेव की परंपरा में)	,,	श्रेयांस चरित्र
सिद्धसेनसूरि (देवभद्र के शिष्य)	,,	पद्मप्रभ चरित्र
जिनपाल (जिनपतिसूरि के शिष्य)	,,	सनत्कुमार चरित्र
देवेन्द्रसूरि	,,	चन्द्रप्रभ चरित्र (१२६४)
पूर्णभद्र	कथा चरित्र	दश उपासक कथा (१२७५)
वर्धमानसूरि	चरित्र	वासुपूज्य चरित्र (१२२९)
माणिक्यचंद्र सूरि	,,	पार्श्वनाथ चरित्र (१२७६) शांतिनाथ चरित्र
देवप्रभ सूरि	,,	पांडव चरित्र, मृगावती चरित्र काकुत्स्थ केलि
नरचंद्र सूरि (देवप्रभ के शिष्य)	कथा	कथारत्न सागर अनर्घराघव (मुरारिकृत) टिप्पण
पद्मप्रभसूरि	चरित्र	मुनिसुव्रत चरित्र, कुंथुचरित्र, पार्श्वस्तव भुवनदीपक (१२९४)

१३ वीं शती अपभ्रंश

हरिभद्रसूरि		नेमिनाह चरिय ८०३२ गाथा
वरदत्त		वज्रस्वामी चरिय

चौदहवीं शताब्दी

देवेन्द्रसूरि (जगतचंद्रसूरि के शिष्य, स्वर्गं० १३२७)	चरित्र	सुदर्शनाचरित्र
सर्वानन्द	,,	चन्द्रप्रभ चरित्र (१३०२)
अजितप्रभसूरि	,,	शान्तिनाथ चरित्र (१३०७)
लक्ष्मीतिलक (जिनेश्वर के शिष्य)	,,	प्रत्येक बुद्ध चरित्र (सं० १३११)
चन्द्रतिलक उपाध्याय ,,	,,	अभयकुमार चरित्र, श्लोक (९०३६ (१३१२)
मुनिदेवसूरि	,,	शान्तिनाथ चरित्र
प्रद्युम्नसूरि (चांद्रगच्छीय)	कथा	समरादित्य संक्षेप (१३२४)
मानतुंगाचार्य	चरित्र	श्रेयांस चरित्र
धर्मकुमार	,,	शालिभद्र चरित्र (१३३८)
विवेकसागर	कथा चरित्र	पुण्यसार कथानक
प्रभाचंद्रसूरि	चरित्र	प्रभावक चरित्र (१३३८)
जिनप्रभसूरि	अपभ्रंशसाहित्य	मदनरेखा संधि, मल्लि चरित्र, नेमिनाथरास, वयरस्वामि चरित्र, षटपंचाशक दिक्कुमारिका अभिषेक, मुनिसुव्रत जन्माभिषेक, स्थूलभद्र फाग
जिनप्रभसूरि के शिष्य (??)	कथाचरित्र	नर्मदा सुंदरी संधि (१३२८) गौतमस्वामि चरित्र
महेश्वर सूरि	कथा	कालकाचार्य कथा (१३३५)

पन्द्रहवीं शताब्दी

मेरुतुंग	प्रबंधचरित्र	कामदेवचरित्र (१४०१) संभवनाथ चरित्र (१४१३)

कमलप्रभ (सोमप्रभ के शिष्य)	चरित्र	पुंडरीक चरित्र
	स्तोत्रस्तुति	सोमप्रभकृत २८ स्तुतिपर वृत्ति
सर्वानन्द सूरि	चरित्र	जगडु चरित्र
राजशेखर	प्रबंधचरित्र	कौतुक कथा
भवदेव सूरि	चरित्र	पार्श्वनाथ चरित्र
		कालकाचार्य कथा
जयानंद	,,	स्थूलभद्र चरित्र
मुनिसुंदरसूरि (सोमसुंदर के शिष्य)	,,	गुर्वावलि
जिनकीर्ति ,,	,,	धन्यकुमार चरित्र (दानकल्पद्रुम), श्री पालगोपाल कथा, चंपक श्रेष्ठि कथा
माणिक्यसुंदर (जयशेखर मेरुतुंग के शिष्य)	कथाचरित्र	चतुःपर्वी चम्पू (१४६३) श्रीधरचरित्र, गुणवर्म चरित्र, धर्मदत्त कथानक, महाबलमलय, सुन्दरी चरित्र
देवमूर्त्ति	चरित्र	विक्रम चरित्र
गुणसमुद्रसूरि	कथा	जिनदत्त कथा (१४७४)

सोलहवीं शताब्दी

शुभशील (मुनिसुन्दर के शिष्य)	कथाचरित्र	विक्रमचरित्र (१४९०) भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति, प्रभावक कथा (१५०६)
जिनहर्ष	,,	वस्तुपाल चरित्र, रत्नशेखर कथा, आरामशोभा चरित्र
सर्वसुन्दर सूरि	चरित्र	हंसराज-वत्सराज चरित्र
साधुसोम	चरित्र	महावीर चरित्र (जिनवल्लभ) वृत्ति
ज्ञानसागर	,,	विमलनाथ चरित्र
शुभशीलगणि	,,	शालीवाहन चरित्र (१५४०)
राजवल्लभ	कथाचरित्र	चित्रसेन पद्मावती कथा

सत्यराज	चरित्र	पृथ्वीचंद्र चरित्र (१५३५)
भावचंद्रसूरि	,,	शान्तिनाथ चरित्र
सर्व विजय	,,	दशश्रावक चरित्र
शुभवर्धन	,,	,, ,,
जिनमाणिक्य	,,	कुर्मापुत्र चरित्र
इंद्रसिंह गणि	चरित्र	भुवनभानुचरित्र (१५५४)
अनंतहंस गणि	,,	दशदृष्टान्त चरित्र (१५७१)
सौभाग्यनंदी	कथा	मौनएकादशी कथा
		कुर्मापुत्र चरित्र (१५७५)
लावण्यसमय	चरित्र	विमल चरित्र (१५७८)

सत्रहवीं शताब्दी

नयरंग	चरित्र	परमहंस संबोध चरित्र (१६२४)
		अर्जुनमालाकार
हेमविजय	चरित्रकथा	पार्श्वनाथ चरित्र (१६३२)
		कथारत्नाकर (१६५७)
पद्मसागर	कथाचरित्र	तिलकमंजरीवृत्ति, यशोधर चरित्र
रविसागर	कथा चरित्र	रूपसेन चरित्र
		मौनएकादशी कथा
समयसुन्दर	कथा	चातुर्मासिक पर्वकथा, कालकाचार्य कथा (गद्य-पद्य)
गुणविनय	कथा	दमयंती कथा (त्रिविक्रम) वृत्ति
प्रीतिविमल	,,	चम्पक श्रेष्ठि कथा
कनककुशल	कथा	सौभाग्य पंचमी कथा
		सुरप्रिय मुनिकथा, रौहिणेय कथानक
बुद्धिविजय	कथा	चित्रसेन पद्मावती कथा (१६६०)
		सारंगसार वृत्ति
भानुचंद्र उपाध्याय	कथा	रत्नपाल कथानक
सिद्धिचंद्र उपाध्याय (भानुचंद्र के शिष्य)	कथाचरित्र	भानुचंद्र चरित्र

दानचंद्र	कथा	ज्ञानपञ्चमी कथा (वरदत्त गुण मंजरी कथा) (१७००)
वादिचंद्र सूरि १६४८ के करीब (प्रभाचंद्र के शिष्य)	चरित्र	यशोधर चरित्र (१६५७)
भट्टारक शुभचंद्र	कथाचरित्र	चन्द्रप्रभ, पद्मनाभ, जीवंधर चरित्र
		नंदीश्वर कथा
	पुराण	पांडवपुराण

अठारहवीं शताब्दी

मेघविजय उपाध्याय	कथाचरित्र	विजयदेव माहात्म्य
		लघुत्रिषष्टि चरित्र (५००० श्लोक)
		पंचमी कथा
		पंचाख्यान पंचतंत्र
हितरुचि	चरित्र	नलचरित्र
दानचंद्र	कथा	मौनएकादशी कथा
नयविमल	चरित्र	श्रीपाल चरित्र

उन्नीसवीं सदी

पद्मविजय गणि	चरित्र	जयानन्द चरित्र
क्षमाकल्याण उपाध्याय	कथा	चातुर्मासिक होलिका पर्वकथा
		यशोधर चरित्र
		अक्षयतृतीया कथा
	चरित्र	समरादित्य चरित्र

साहित्य-सत्कार
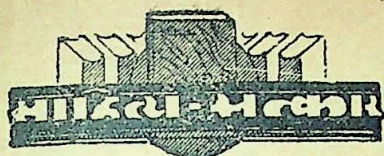
अर्चिका: रचयिता—श्री 'हलधर'; प्रकाशक—किरण मंडल प्रकाशन; राष्ट्रभाषा मुद्रणालय, लहरतारा, बनारस; मूल्य—॥।)

'अर्चिका' नई पीढ़ी के कवि श्री हलधर सिंह की प्रारम्भिक ४० कविताओं का संग्रह है। अधिकांश कविताएँ यद्यपि वैयक्तिक हैं पर नई पीढ़ी के अधिकांश कवियों की भाँति यौवन की उद्दाम प्रेरणा से अनुप्रेरित नहीं; इसीलिए कुछ कविताओं में कवि के हृदय की भावनाएँ काफी अधिक स्पष्ट रूप में उभर सकी हैं और पाठकों के हृदय को सफलता से छू सकने में समर्थ हैं। पहली ही कविता—

मैं पागल हूँ, मैं पागल हूँ !

युवक कवि की अवस्था की परिचायिका है। यद्यपि कवि पहले ही अपना पागलपन स्वीकार कर चुका है पर यह नहीं कहा जा सकता कि अपने इस पागलपन के आवेश में वह बहक गया है। अनुभव की कसौटी पर निखरे हुए कुछ गीत बड़े ही सुंदर बन पड़े हैं—

मुझसे मेरी राह न पूछो !

× × × ×

मुझे निज असफलता से प्यार।

× × × ×

भूल जाता मैं तुम्हें पर भूलने पाता नहीं हूँ !

अपने भावों को व्यक्त करने में कवि सफल हुआ है, इसमें संदेह नहीं। पर कहीं कहीं भाषा एवं व्याकरणिक भूलें खटकती हैं। जैसे—

प्यार किया यदि मैं जीवन में तो अपने प्यारे गीतों को !

× × × ×

कविता लिखकर कवि ने अपने उर की आग बुझाना चाहा !

चूँकि कवि पागलपन का अरमान लेकर चला है इसलिए गतिशील है। कवि अपनी वेदना से निराश नहीं हुआ है, उससे उसे आत्म विश्वास मिला है और श्री शम्भूनाथ सिंह जी के शब्दों में यही उसकी सबसे बड़ी सफलता है।

अवन्तिकाः काव्यलोचनाङ्क संपादक—लक्ष्मीनारायण सुधांशु, अजन्ता प्रेस, पटना, इस अंक का मूल्य—३)

अवंतिका का काव्यलोचनाङ्क आशानुरूप ही निकला है। अपने विषय के अधिकारी लेखकों के प्राचीन अर्वाचीन काव्य प्रवृत्तियाँ संबंधी लेखों से यह अंक बहुत ही सुन्दर एवं उपयोगी बन गया है। ३०० पृष्ठ के इस विशेषाङ्क में हमें कहीं भी सम्पादक के अपने विचार नहीं मिले, जो कि होना अत्यन्तावश्यक थे फिर भी यह विशेषाङ्क अपने विषय का पूर्ण ज्ञान कराता है, इस दृष्टि से बहुत ही उपयोगी है।

मस्ताना जोगीः राष्ट्र जागरण विशेषाङ्क संपादक—चेतन कुमार भटनागर, ७९ जी. बी. रोड, दिल्ली, इस अंक का मूल्य ।।।)

मस्ताना जोगी अब बड़े साइज में प्रकाशित होने लगा है और पहले से अधिक उपयोगी बन गया है। प्रस्तुत विशेषांक में राष्ट्र जागरण संबंधी कुछ रचनाएँ पठनीय हैं। 'ये ४२०' स्थायी स्तम्भ आधुनिक ठगी के रहस्यों से परिचय कराता है। सहयोगी के प्रति हमारी शुभकामना है।

—महेन्द्र 'राजा

अहिंसा नित्य स्मरणिका १९५४ (अहिंसा डायरी)

संपादक—मुनि श्री सुशीलकुमार जी। पता—हिंसा विरोधक संघ माणेक चौक, अहमदाबाद। मूल्य ।।=)

दयाप्रेमी श्री बुधाभाई के अन्तस्तल में अहिंसा का भाव कितना है, यह उनके दयामय प्रयत्नों से स्पष्ट है। कहना होगा कि आपको रातदिन एक यही धुन है—प्राणियों की रक्षा हो, कोई किसी को न सताए। इसीलिए आप 'हिंसा विरोध' पत्र भी निकालते हैं। अहिंसा के प्रचार के लिए ही अहिंसा डायरी भी निकाली है। मुनि श्री सुशीलकुमार जी ने पूरे ३६५ दिनों के लिए एक ही अहिंसा पर सुन्दर २ वाक्य देकर अपनी गम्भीर विचार शक्ति का परिचय दिया है। हम चाहते हैं इस 'अहिंसा डायरी' का घर घर में प्रचार हो।

—कृष्णचन्द्रा चार्य

विद्याश्रम समाचार

इतिहास के लिए १००००) रु० का दान—

अमृतसर से मंत्री श्री हरजसराय जी ने यह हर्ष समाचार लिखा है कि—लाला रतनचन्द हरजसराय सोना खाते के भागीदार सर्वश्री हंसराज, शादीलाल, सुरेन्द्रनाथ, हरजसराय, मुनीलाल, मोतीलाल, भीमसेन, हंसराज की मित्रमंडली ने 'जैन साहित्य के इतिहास' के प्रकाशनार्थ १००००) रु० के दान की घोषणा की है। उक्त सभी सज्जन श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति के परम हितैषियों में से हैं, और समिति को हमेशा दान-रूपी जल से सींचते रहते हैं। आप लोगों ने इस अवसर पर अपनी उदारता का परिचय देकर इतिहास लेखन के कार्य को एक कदम और आगे बढ़ा दिया है तथा जैन समाज के सामने एक उदाहरण रखा है, जिससे कि वह भी इस कार्य के महत्व को पहचाने और अपना हर तरह से सहयोग दे सके। हम कई बार निवेदन कर चुके हैं कि अकेले 'जैन साहित्य का इतिहास' के लेखन और प्रकाशन पर ४०-५० हजार रुपया खर्च आएगा। समिति ने २०-२५ हजार रुपया पहले से ही लेखनादि कार्यों के लिए नियित कर दिया था। प्रकाशन के लिए भी व्यवस्था करनी है, जिसके लिए उक्त सज्जनों ने दस हजार रुपया देकर समिति के कार्य को सरल बना दिया है। जिसके लिए समिति की ओर से सबका हार्दिक धन्यवाद किया जाता है। तथा जैन समाज से अपील है कि वह भी इस पुनीत कार्य में अपना उत्साह पूर्वक सहयोग दान करें। यह सुअवसर सदियों के बाद कहीं मिल सकता है। हम समझते हैं जो सज्जन इस कार्य के लिए उदारता दिखलाएँगे, वे स्वयं भी जैन समाज के इतिहास में चिर-स्थायी बन सकेंगे।

इतिहास के लेखन की पूर्व तैयारी—

इधर बनारस में इतिहास के लेखन के लिए पूर्व तैयारी शुरू हो चुकी है। लेखक विद्वानों से पत्रों द्वारा विचारों का आदान-प्रदान चालू है। जैन साहित्य निर्माण योजना समिति के अध्यक्ष डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, और मंत्री प्रो० श्री दलसुख मालवणिया—ये दोनों समर्थ विद्वान् इस कार्य के लिए सर्वथा प्रयत्नशील हैं। यह सतोष की बात है कि इतिहास निर्माण का यह महत्वपूर्ण कार्य ऐसे समर्थ विद्वानों के हाथ में है जिससे कार्य के संपन्न होने में पूर्ण आशा बँधती है। पूज्य पं० श्री सुखलाल जी ने अहमदाबाद के विद्वत्-सम्मेलन में कहा था कि "डॉ० अग्रवाल और श्री दलसुखभाई के हाथों में यह काम आ जाने से मुझे इसके संपन्न होने में कोई संदेह नहीं

रहा।" साथ ही समिति के मंत्री ला० श्री हरजसराय जी जैसे जब इस कार्य के लिए आर्थिक चिन्ता रखने वाले हों, तो यह सचमुच ही सोने में सुगंध है।

जैन पत्रों से निवेदन

हम देख रहे हैं—जब से 'जैन साहित्य के इतिहास' को तैयार कराने की योजना सामने आई है, जैन समाज में एक तरह से हलचल-सी पैदा हो गई है। खासकर जैन पत्र इस बारे में काफी रुचि ले रहे हैं। कई विद्वान् अपने-अपने विचार इस योजना के पक्ष-विपक्ष में लिख रहे हैं। कई तरह के स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इस अवसर पर हम जैन पत्रों से यह निवेदन करना चाहते हैं कि वे भी इस कार्य के महत्व को अनुभव करें, क्योंकि आज पत्रों की बड़ी जिम्मेवारी है। वे चाहें, तो किसी भी काम के लिए समाज को सरलता से तैयार कर सकते हैं। 'जैन साहित्य के इतिहास' का कार्य तो बहुत बड़ी जिम्मेवारी का काम है। जैनपत्र इस छोटी सी बात को नहीं पहचानेंगे, तो वे जैन धर्म व जैन समाज का हित नहीं कर सकेंगे। हमें यह भी समझना है कि वास्तव में इतिहास चीज क्या है। यह किसी के अपने मन या रुचि की चीज नहीं हो सकती, इतिहास तो उन तथ्यों संकलन है, जो बीत चुके हैं या वर्तमान हैं। अहमदाबाद के विद्व-त्सम्मेलन के अवसर पर डॉ० मोतीचन्द जी ने ठीक कहा था कि—"सत्य की जो अनवरत धारा बह रही है, उसमें जो शृंखला (कड़ी) है, उसी का नाम इतिहास है।" तथा—"इतिहास लिखना एक कठिन कार्य है। इसके लिए सांप्रदायिक संकुचित दृष्टि से दूर रहना पहली शर्त है। इतिहास और सांप्रदायिकता साथ-साथ नहीं चलते।" अतः सभी जैनपत्रों से अनुरोध है कि इस काम के महत्व और अपनी जिम्मेवारी को पहचानें। स्थानकवासी जैन समाज के पत्रों से खास निवेदन है कि वे अपनी जिम्मेवारी को सबसे पहले और सबसे अधिक अनुभव करें। क्योंकि यह इतिहास योजना का कार्य स्थानकवासी जैन समाज की संस्था ने उठाया है, इसलिए उनकी जिम्मेवारी और भी बढ़ जाती है। यदि वे सचमुच ही स्थानकवासी जैन समाज के हित चिन्तक हैं तो उन्हें चाहिए कि ऐसे विद्वानों के नाम सुझाएँ जो कम-से-कम स्थानकवासी समाज के साहित्य का इतिहास लिखने में समर्थ हों। इधर उधर की निर्मूल बातों के कहने-सुनने से कोई लाभ नहीं होगा।

आशा है सभी जैन पत्र हमारी प्रार्थना पर अवश्य ध्यान देंगे।

—कृष्णचन्द्राचार्य

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस—५

श्रमण
वर्ष ५
सम्पादक
डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम.ए., पी-एच. डी.
अंक ६

इस अंक में—

'श्रमण' के विषय में—

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाए जाते हैं।
३. श्रमण में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता।
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें।
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।
६. वार्षिक मूल्य मनिआॅर्डर से भेजना ठीक होगा।
७. समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—कृष्णचन्द्राचार्य,
श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ५ | अप्रैल १९५४ | अंक ६

अभय का आराधक

—इन्द्र

अढाई हजार वर्ष पहले की बात है। मुजफ्फरपुर जिले की हाजीपुर तहसील में आजकल जहाँ बसाड़ नाम का छोटा सा गाँव है, उस समय वहाँ धन-धान्य से परिपूर्ण वैशाली नाम की विशाल नगरी थी। कहा जाता है, यह नगरी कई मीलों तक फैली हुई थी। लिच्छवि गणतन्त्र के अध्यक्ष महाराजा चेटक उसके अधिपति थे। इस समय भी वैशाली के भग्नावशेष दूर दूर तक फैले हुए हैं। चेटक का किला अब भी पुरानी स्मृतियों को नूतन बनाने के लिए पर्याप्त है।

वैशाली के चारों ओर कई उपनगर थे। एक ब्राह्मण कुण्ड था, जहाँ वेद वेदाङ्गों के पारंगत विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। दूसरी ओर क्षत्रिय कुण्ड था, जहाँ ज्ञातृवंशीय क्षत्रियों का गण था। तीसरी ओर वाणिज्य ग्राम था, जहाँ बड़े बड़े व्यापारी तथा धनवान् रहते थे।

लिच्छवि गण संघ अपने स्वाधीनता-प्रेम तथा लोकतन्त्र के लिए दूर दूर तक प्रख्यात था। वहाँ के युवक एवं युवतियाँ किसी बात को तभी स्वीकार करते थे जब वह उनकी बुद्धि में उतर जाती। वे न कभी भय से झुके थे न अन्ध श्रद्धा से। भय व्यक्ति की शारीरिक शक्ति को कुण्ठित कर देता है और अन्ध श्रद्धा बौद्धिक शक्ति को। वे लोग किसी भी प्रकार कुण्ठित होना न जानते थे।

इसी लिच्छवि वंश में, ज्ञातृवंशीय महाराज सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला ने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र ने माता पिता के हर्ष की वृद्धि की, सौभाग्य की वृद्धि की, सम्पत्ति की वृद्धि की। फलस्वरूप उसका नाम वर्द्धमान रखा गया।

बड़े होने पर वर्द्धमान ने अध्ययन प्रारम्भ किया। किन्तु उसका अध्ययन पुस्तकों तक सीमित नहीं था। समस्त संसार ही उनकी पुस्तक थी। उन्होंने देखा संसार में अन्याय है, विषमता है, अज्ञान है और इन्हीं कारणों से सारे प्राणी दुखी हो रहे हैं। उन्होंने देखा एक प्राणी दूसरे प्राणी का सुख छीनकर, उसका बलिदान करके, उसे कष्ट देकर अपने सुख की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील है। किन्तु न कष्ट देने वाला सुखी हो रहा है और न कष्ट सहने वाला। अपनी ठण्ड मिटाने के लिए कोई दूसरे की झोंपड़ी को आग भले ही लगा दे किन्तु वह चैन से बैठ नहीं सकता। झोंपड़ी की आग सुलगने से पहले ही उसके हृदय में उत्ताप की भयङ्कर आग प्रज्वलित हो उठती है। वर्धमान ने देखा अन्याय की इस भयंकर ज्वाला में संसार कराह रहा है। उन्होंने देखा विश्व विषमता से पीड़ित है। एक व्यक्ति ऊँचा है, दूसरा नीचा। एक जन्म लेते ही अधम बन जाता है और दूसरा उत्तम। एक के लिए विकास के द्वार खुले हैं, दूसरे के लिए बन्द। एक भोक्ता है, दूसरा भोग्य। एक सम्पत्ति है, दूसरा स्वामी। एक के अस्तित्व ने दूसरे के अस्तित्व को दबोच रखा है। और दूसरा उसे वरदान समझ कर सब स्वीकार कर रहा है।

वर्धमान ने यह भी देखा—संसार में अज्ञान है। मोह है। प्राणी इनके बन्धनों में जकड़े हुए ह। उनकी विचारशक्ति कुण्ठित हो रही है। आत्मा अभिभूत हो रही है।

वर्द्धमान को स्वाधीनता के संस्कार जन्म के साथ मिले थे। किन्तु उन्होंने देखा स्वाधीनता का अर्थ केवल राजनीतिक स्वाधीनता नहीं है। असली स्वाधीनता का अर्थ है व्यक्ति का शरीर, व्यक्ति की बुद्धि, व्यक्ति का मन और व्यक्ति की आत्मा सब कुछ स्वतन्त्र हों। प्रत्येक को विकास का समान अधिकार हो, सब में समानता हो, सबमें मित्रता हो। सबके सब अपनी ओर से दूसरों को अभय कर दे।

वर्धमान ने अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा तथा सूक्ष्म दृष्टि से संसार का अध्ययन

किया। तीस वर्ष तक पारिवारिक जीवन में रह कर व्यक्ति तथा समाज की समस्याओं को समझा।

अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया कि जीवन का एक ही रहस्य है कि किसी प्राणी को किसी से भय न रहे। कोई किसी से न डरे, कोई किसी को न डरावे। कोई किसी से न दबे, कोई किसी को न दबावे। न किसी को शारीरिक अत्याचार का भय हो, न बौद्धिक अत्याचार का, न सामाजिक अत्याचार का और न आध्यात्मिक आत्याचार का।

अभय की आराधना के लिए वर्धमान ने सर्वप्रथम अपने आप को प्रयोगशाला बनाया। उन्होंने देखा—जब तक मैं राजकुमार हूँ, दुनियाँ के सामने शासक के रूपमें उपस्थित होता हूँ, अभय की आराधना नहीं हो सकती। मुझे ऐसा वेश तथा ऐसी वृत्ति स्वीकार करनी चाहिए, जिससे किसी को भय न हो।

उन्होंने देखा महल की दीवारें केवल शारीरिक बन्धन ही नहीं हैं। वे हमारी बुद्धि और आत्मा के चारों ओर भी दीवारें खड़ी कर देती हैं। थोथी पद-मर्यादा, झूठा अभिमान, विभ्रम तथा व्यामोह हमारे लिए ऐसे कारागृह बन जाते हैं कि उन्मुक्त होकर श्वास लेना भी कठिन हो जाता है। वर्धमान ने इस अवरुद्ध वातावरण को छोड़ कर उन्मुक्त गगन में विचरने का निश्चय किया।

तीस वर्ष की यौवनावस्था में, महत्वाकांक्षाओं और कामनाओं के उभार को कुचल कर सभी प्रकार के बन्धनों को तोड़ कर वर्धमान घर से निकल पड़े। राजसी नेपथ्य को उतार कर अकिंचन बन गए। महलों को छोड़कर अरण्य का रास्ता लिया। ऊपर विस्तृत आकाश और नीचे कठोर धरती यही उनका घर था। वे चाहते थे शरीर धरती के समान सर्वंसह बन जाय और मन आकाश के समान निर्लेप तथा सर्वव्यापी हो जाय।

साधना काल के बारह वर्षों में वर्धमान ने कठोर तपस्या की। भयङ्कर पशुओं तथा क्रूर नर राक्षसों में जाकर अभय तत्व की आराधना की। शत्रु और मित्र पर, उपकारी और अपकारी पर, पुजारी और प्रहारी पर एक सरीखी चित्तवृत्ति रखने का अभ्यास किया। विरोध में भी एकता का दर्शन किया।

कहा जाता है—साधना काल के प्रारम्भ में एक बार देवराज इन्द्र उनके पास आकर कहने लगे—"भगवन्! आप संसार में जिस सिद्धान्त का प्रचार

करना चाहते हैं उसके लिए तपस्या की क्या आवश्यकता है। क्या मेरा वज्र उसके लिए पर्याप्त नहीं है। अखिल विश्व इसके भय से काँपता है। किसी की शक्ति नहीं है कि इसकी आज्ञा को न माने। आप अपना सन्देश सुनाइए और इस सेवक को आज्ञा दीजिए, अखिल ब्रह्माण्ड आपका अनुयायी बन जाएगा।"

वर्धमान ने उत्तर दिया—"देवराज! मेरे सन्देश का प्रचार तुम्हारा वज्र न कर सकेगा। तुम्हारा वज्र भय का प्रतीक है और मैं अभय का सन्देश देना चाहता हूँ। तुम्हारा वज्र पाशविक शक्ति का प्रतीक है और मैं पाशविक शक्ति पर आध्यात्मिक शक्ति की विजय का सन्देश देना चाहता हूँ। तुम्हारा वज्र हिंसा का प्रतीक है और मैं अहिंसा का सन्देश देना चाहता हूँ। मैं जिस बात से संसार को मुक्त करना चाहता हूँ, तुम उसी का आश्रय लेने के लिए कहते हो। मेरा और तुम्हारा पथ भिन्न है देवेन्द्र! मेरा पथ अभय का है, तुम्हारा भय का। मेरा शमन का है तुम्हारा दमन का। मैं सब को मुक्त करना चाहता हूँ, तुम बन्धन में डालना चाहते हो। देवराज! जो सिद्धान्त इतना शक्तिहीन है कि अपने प्रचार के लिए विरोधी तत्त्वों की शरण लेता है, वह कभी कल्याणकारी नहीं हो सकता। अपरिग्रह के प्रचार के लिए यदि परिग्रह की आवश्यकता हो तो अपरिग्रह का महत्व वहीं समाप्त हो जाता है। यदि अहिंसा के प्रचार के लिए हिंसा की आवश्यकता हो तो अहिंसा का महत्व वहीं समाप्त हो जाता है। यदि अभय के प्रचार के लिए भय की शरण लेनी पड़े तो वहीं अभय की मृत्यु हो जाती है। तुम्हारा वज्र मेरे सन्देश के प्रचार में साधक नहीं बाधक ही होगा।"

देवराज को वर्धमान से कुछ व्यक्तिगत स्नेह था। उसने फिर कहा—"अच्छा भगवन्! मैं मानता हूं, अभय का प्रचार करने में वज्र साधक नहीं है। मेरी एक बात तो स्वीकार कीजिए। साधनाकाल में आप को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ेगा। हिंसक पशु, क्रूर मानव तथा प्राकृतिक उपद्रव आप को विविध प्रकार की यातनाएँ देंगे। मेरी इच्छा है, आप के साथ रहूँ और इन बाह्य कष्टों का निवारण करता रहूँ, जिससे आप की साधना निर्विघ्न चलती रहे।"

"देवेन्द्र! तुम भ्रम में हो।" वर्धमान न उत्तर दिया। "कष्ट साधना के बाधक नहीं साधक होते हैं। जिस प्रकार विद्यार्थी परीक्षा में उपस्थित हुए

बिना यह नहीं जान सकता कि उसने कितना ज्ञान प्राप्त कर लिया है और कितना बाकी है। इसी प्रकार साधक कष्ट उपस्थित हुए बिना यह नहीं जान सकता कि उसकी साधना कहाँ तक पहुँची है। क्रोध पर हमने कितनी विजय प्राप्त की है इसका पता तभी लगता है जब क्रोध के कारण उपस्थित हों। सुरेश! तुम जाओ। आध्यात्मिक साधना का पथिक भौतिक शक्ति का सहारा नहीं लेता। स्वावलम्बन की भूमिका पर ही वह आगे बढ़ सकता है। भौतिक सहायता की पालकी में बैठकर घूमने वाला अध्यात्म की कितनी ही बातें करे, वह अध्यात्म मार्ग का पथिक नहीं कहा जा सकता।"

देवराज नतमस्तक होकर चले गए।

× × ×

एक बार वर्धमान जंगल में ध्यान मग्न खड़े थे। इतने में एक ग्वाला वहाँ आया। उसके पास बैलों की जोड़ी थी। अचानक उसे गाँव में जाना पड़ा। जाते समय वर्धमान को कह गया—"जरा बैलों का ध्यान रखना।" महावीर अपने ध्यान में मग्न थे। बैल चरते चरते कहीं निकल गए। ग्वाला लौटा तो वर्धमान से पूछने लगा। वर्धमान उसी प्रकार ध्यान में खड़े रहे। ग्वाला बैलों को इधर उधर ढूँढता रहा। सारी रात जंगल में भटकता रहा किन्तु बैल न मिले। खोजते खोजते जब दिन निकल आया तो फिर वहीं पहुँचा जहाँ वर्धमान ध्यानमग्न खड़े थे। अकस्मात् बैल भी वहीं घूमते हुए आगए। ग्वाले को वर्धमान पर बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा—"इन्हीं के कारण मुझे इतनी परेशानी उठानी पड़ी है।" उसने लोहे की एक कील वर्धमान के कानों में ठोक दी। असह्य वेदना होने पर भी वर्धमान अपने ध्यान में खड़े रहे। उनके मन में ग्वाले के प्रति किंचिन्मात्र भी क्षोभ नहीं था।

× × ×

एक बार वे घूमते हुए राढ देश में पहुँचे। वहाँ के निवासियों ने उन्हें पीटना शुरू किया। उन पर जंगली कुत्ते छोड़ दिए। किन्तु वर्धमान ने मन को विचलित नहीं होने दिया

× × ×

सुन्दरियों ने उनके मन को मोहित करने का प्रयत्न किया। श्वापदों ने दन्त प्रहार किए। किन्तु महावीर का मन आकाश के समान निर्लेप बना

रहा। न उनपर हाव भाव का असर पड़ा न दन्त प्रहार का। न मोह की लालिमा आई, न द्वेष की कालिमा।

× × ×

एक बार वर्धमान श्रावस्ती की ओर जा रहे थे। मार्ग में चण्ड कौशिक नाम का दृष्टिविष सर्प रहता था। लोगों ने उनसे कहा—"भगवन्! आप दूसरे मार्ग से चले जाइए। वह साँप इतना भयङ्कर है कि जिधर देखता है जहर बरसने लगता है। आग की लपटें उठने लगती हैं। उसके कारण आस पास के वृक्ष सूख गए हैं। पक्षियों नें उधर जाना छोड़ दिया है। चारों ओर सुन सान हो गया है।"

वर्धमान ने मन में विचार किया—क्या मैं साँप से डर जाऊँ, यदि डर गया तो अभय की आराधना कैसे होगी? क्या मैं उससे मित्रता नहीं कर सकता? यदि ऐसा है तो विश्वमैत्री का पाठ कैसे सीख सकूँगा?"

वर्धमान ने पथविचलित होना ठीक न समझा। वे उसी मार्ग से चले गए और चण्डकौशिक की बिल पर ध्यान लगा कर खड़े हो गए। उनके मन में विश्वमैत्री का समुद्र उद्वेल्लित हो रहा था। भयङ्कर फुंफकार करता हुआ साँप बाहर निकला, किन्तु वर्धमान को देखकर सहम गया। उसके मन में आया— "मुझे क्रोधी, हिंसक तथा महाक्रूर समझने वाली दुनियाँ में आज यह मेरा अतिथि बनकर कौन आया है। यह कौन है जो मधुर मुस्कान के साथ मुझपर स्नेह की वृष्टि कर रहा है?"

वर्धमान ने कहा—"समझो, कौशिक! समझो।"

एक ही शब्द ने विषधर में छिपे हुए अमृत के स्रोत को प्रवाहित कर दिया। विष का आवरण हट गया और सर्वमैत्री के रूप में अन्तरात्मा प्रकट हो गई।

उसी दिन से चण्डकौशिक अहिंसक महात्मा बन गया।

× × ×

बारह वर्ष की कठोर तपस्या एवं सतत साधना के पश्चात् वैशाख शुक्ला १०मी को सर्कनीरा के तीर पर महावीर को कैवल्य प्राप्त हुआ। उन्होंने परमात्मा अवस्था को प्राप्त किया। जीवन के रहस्य को जान लिया। आत्मकल्याण करने के बाद उन्होंने जगत्कल्याण करने के लिए प्रस्थान किया।

महावीर ने बताया—विश्व में अशान्ति का मूल हिंसा है। अपने स्वार्थ के लिए मनुष्य दूसरे के प्राणों की हिंसा करता है, दूसरे की बुद्धि की हिंसा करता है, दूसरे के सामाजिक अस्तित्व की हिंसा करता है, दूसरे की अत्मा की हिंसा करता है। इस हिंसा को रोकना ही आत्मा का उत्थान है। यही शाश्वत धर्म है। यही जीवन का मूल मन्त्र है।

उन्होंने कहा—अपने लिए दूसरे के लिए अपने मित्र तथा सगे सम्बन्धियों के लिए, किसी के लिए भी हिंसा की जाय तो वह कल्याण दायिनी नहीं हो सकती।

बहुत से लोगों की मान्यता थी कि यज्ञ में पशु का होम करने से सुख मिलता है। महावीर ने उनके विरुद्ध स्पष्ट शब्दों में कहा—हिंसा से कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। हिंसा कभी धर्म नहीं हो सकता।

महावीर की हिंसा शरीर तक ही सीमित न थी। उन्होंने कहा—दूसरे के विचारों की हिंसा भी न करनी चाहिए। जब व्यक्ति अपना अभिप्राय प्रकट करता है तो किसी विशेष दृष्टिकोण को सामने रखता है। हम उसके अभिप्राय को अपने दृष्टिकोण से जाँचते हैं और एकदम असत्य कह डालते हैं। यदि उसके मन्तव्य को उसी के दृष्टिकोण से जाँचें तो वह असत्य प्रतीत न होगा। भिन्न भिन्न दृष्टिकोण वस्तु के एकाङ्गी दर्शन हैं। हमारे सामने जितने दृष्टिकोण आएंगे उतने ही हम समग्रदर्शन की ओर आगे बढ़ेंगे। इस लिए किसी को झूठा कह कर उसके विचारों की हिंसा करने के स्थान पर हमें उसके दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। संसार में मतमतान्तरों के कारण जो झगड़े चल रहे है, वे इससे शान्त हो जाएंगे।

महावीर ने यह भी देखा कि सभी प्राणियों में एक सरीखी आत्मा है। सभी की आत्मा में अनन्त बल है अनन्त ज्ञान है, अनन्त सुख है। किन्तु जीव अपने स्वरूप को भूल कर इधर उधर भटक रहे हैं, अपने को दुर्बल और अज्ञ समझ रहे हैं। महावीर ने कहा—अपनी आत्मा को पहचानो। इसे पहचान कर ही तुम संसार के दुःखों से छुटकारा पा सकते हो।

महावीर स्वावलम्बी थे। स्वावलम्बन के पक्षपाती थे। उनकी मान्यता थी जीव अपने सुख दुख के लिए स्वयं उत्तरदायी है। जैसा करता है, वैसा भोगता है। वह किसी दूसरे के अधीन नहीं है। वह स्वयं ही अपना मित्र

है, स्वयं ही अपना शत्रु है। वह स्वयं अपने लिए कामधेनु है, नन्दन वन है, वैतरणी नदी है और कूट शाल्मली वृक्ष है। उन्होंने बल देकर कहा है—"पुरुषो ! तुम्हीं तुम्हारे मित्र हो। अपने से बाहर मित्र की खोज क्यों कर रहे हो।" वे नहीं चाहते थे कोई किसी पर निर्भर रहे।

उन्होंने कहा—धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। इस क्षेत्र में विकास का सभी को समान अधिकार है। चाहे कोई ब्राह्मण हो या शूद्र, स्त्री हो या पुरुष, आत्मविकास का द्वार सभी के लिए खुला है। सभी विकास करके परमपद को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार उन्होंने सामाजिक वैषम्य को मिटाने का प्रयत्न किया।

व्यक्ति को न किसी दैवी शक्ति से भय रखना चाहिए, न समाज से, न व्यक्ति से। प्रत्येक व्यक्ति को अपना उत्तरदायित्व स्वयं समझना चाहिए और फिर निर्भय होकर विचरना चाहिए। "हम किसी के लिए भय न रहें, कोई हमारे लिए भय न रहे। हम सभी के मित्र हों, सभी हमारे मित्र हों। हमें किसी के आश्रित न रहना पड़े कोई हमारे आश्रय पर निर्भर न हो।" यही महावीर के सिद्धान्त का सार है।

तीस वर्ष तक सर्वसाधारण को अभय तथा स्वाधीनता का सन्देश सुना कर अपने जीवन द्वारा उसका उदाहरण उपस्थित करके बहत्तर वर्ष की आयु में दीवाली के दिन महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया।

उनका भौतिक शरीर नहीं रहा किन्तु उस महाज्योति की किरणें आज भी चमक रही हैं। आज भी अन्धकार में भटकती हुई मानवता को प्रकाश दे रही हैं, दृष्टि दे रही हैं। हमारा नेत्रोन्मीलन कर रही हैं।

उस दिव्य ज्योति के चरणों में शत शत वन्दन।

जीवन का सत्य

—प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त, एम० ए०

सज्जन के सत्संग से, करो हृदय को शुद्ध ।
मित्र-भाव का लाभ कर, बनो चिरन्तन बुद्ध ॥१॥

बाह्य विषय-आसक्त को, नहीं सत्य का ज्ञान ।
परम्परागत परिधि में, रहे घूमते प्राण ॥२॥

छल का रूपक भूल कर, झुको सत्य की ओर ।
माया की छाया घनी, देगी दुख में बोर ॥३॥

स्वार्थ-वृत्ति को त्याग दो, क्षण भंगुर संसार ।
जन-सेवा के मूल में, निहित प्रेम का सार ॥४॥

नये भाव की ज्योति से, करो सत्य आह्वान ।
वस्तु-तथ्य की चेतना, और प्रेम का पान ॥५॥

उद्यम का मोती लिये, चलो जगत की ओर ।
कर्म-भाव को चाहिए, नहीं कृपा की कोर ॥६॥

तृषा-शान्ति में मग्न जो, भूल आत्म की बात ।
उनका चेतन रो रहा, और काँपता गात ॥७॥

जीवन की सारी क्रिया, लिये सत्य उद्घोष ।
यदि पराग से शून्य तो, व्यर्थ कमल का कोष ॥८॥

छलना के संसार में, नहीं हृदय की शान्ति ।
गुम्फित मन के पाप में, बढ़ती रहती भ्रान्ति ॥९॥

मन की शंका त्याग कर, धारण करो प्रतीति ।
दानव से मानव बनो, यही जगत की रीति ॥१०॥

कपट-कार्य हैं हीनतर, सत को लेते छीन ।
शुद्ध प्रीति-व्यवहार में, करो हृदय को लीन ॥११॥

निश्चय के अनुकूल ही, करो हृदय अभिषेक ।
अस्थिर मन के कार्य से, दुखी रहा हर एक ॥१२॥

इच्छा पर अंकुश रखो, संयम पर विश्वास ।
बन्धन में भी श्रेय है, सुखद हृदय के पास ॥१३॥

दया मनुज की रीति है, पीडन है विष-बेलि ।
सज्जन के मन में सदा, होती सुख की केलि ॥१४॥

अपने मन में शान्त हो, तजो द्वेष की आग ।
कोकिल तो मन में सुखी, और दुखी है काग ॥१५॥

भौतिक सुख का लोभ तज, देख स्वर्ग की ओर ।
कुहरे के बादल छंटे, और हुआ है भोर ॥१६॥
क्षण-क्षण में तुम सो रहे, लिये अनागत राग ।
सुख की धारा पृथक् बही, शेष रहा है झाग ॥१७॥

निन्दा दुख का मूल है, अन्तर का अभिशाप ।
उस अंकुर से फूटते, जग के सारे पाप ॥१८॥
दीपक पर घिरते शलभ, लिये मोह की रीति ।
मन के भ्रम को त्याग दो, यही विश्व की नीति ॥१९॥

मानव का संघर्ष ही, उसका जीवन-मूल ।
कांटों में खिलता सदा, अभिनव मनहर फूल ॥२०॥
जीवन में संघर्ष से, मिलता ज्ञान अपार ।
अलस भाव की चेतना, खोज सकी कब सार ॥२१॥

आज कर्म की ज्योति से, निखरा अरे दिगन्त ।
मन के सारे कलुष का, होगा इससे अन्त ॥२२॥
मन की तृष्णा को मिटा, पाओ नूतन आभ ।
याचक के मन में कभी, खिली न कोमल दाभ ॥२३॥

तृष्णा के पीछे कभी, रहा न स्वच्छ विवेक ।
युग के पुण्यों को मिटा, हँसता है अघ एक ॥२४॥
सौदामिनी की चमक-से, जीवन के ये फूल ।
यहाँ लोभ के जाल में, कभी न जाना भूल ॥२५॥

लोभ, मोह औ द्वेष का, करना तुम प्रतिकार ।
मन के सारे मैल के, ये ही मुख्य प्रकार ॥२६॥
मन के कलुषित ताप को, छोड़ जगत के तीर ।
उज्ज्वल मणियों को सँजो, हरो अन्य की पीर ॥२७॥

पावन है मन का सुमन, जीवन सुरभि-वितान ।
विश्व-लाभ को साध कर, गाओ स्वर्णिम गान ॥२८॥

सुख-दुख में रह एक सम, काटो बन्धन मोह ।
शीतल बातों से सदा, हुआ व्यथा-अवरोह ॥२९॥

कृत्रिमता का युग सदा, मिटता जाता आप ।
सहज हृदय के सामने, कभी न टिकता पाप ॥३०॥

जग की निर्मल छाँव में, पाप सदा ही हेय ।
प्रेयस का परित्याग कर, नित्य खोजना श्रेय ॥३१॥

अपने चेतन को जगा, करो अविद्या-नाश ।
उपचेतन में नित्य ही, घिरते माया-पाश ॥३२॥

चिन्ता का परित्याग कर, बढ़ो सृष्टि की ओर ।
जीव-मात्र के लाभ में, छिपी व्यष्टि की डोर ॥३३॥

मुझको मन की साधना, देती नव परितोष ।
इसमें सत चेतन निहित, मधुमय सुख के कोष ॥३४॥

इस छवि के संसार में, लिये मृषा औ भ्रान्ति ।
आकुल जन जो घूमते, दो उनको निज कान्ति ॥३५॥

विद्या का संलाभ कर, करो यथेच्छ प्रसार ।
उसका दान प्रधान है, वही दुग्ध की धार ॥३६॥

अपनी सत्ता भूल कर, जन को करो प्रणाम ।
उनसे पीछे जो रहा, उसका विधि है वाम ॥३७॥

जड़-चेतन के प्रेम में, निहित विश्व का सार ।
सर्वभूत में घूमतीं, नूतन निर्झर धार ॥३८॥

मदिरा की मादक प्रलय, चेतनता को छीन ।
शोभन तत्व बटोर कर, करती जन को हीन ॥३९॥

निन्दक मन का मित्र है, नहीं द्वेष का दूत ।
उसके हर सन्देश में, छिपी भावना पूत ॥४०॥

रसना की सारी क्रिया, लिये लोभ का गीत ।
उसको वश में शीघ्र कर लेना मन को जीत ॥४१॥

वाणी को वश में रखो, तीखेपन को त्याग ।
मधुर वचन से प्रीति है, कटुक शब्द से आग ॥४२॥

सदा सत्य का गान कर, धारण करो प्रतीति।
मिथ्या जग की भ्रान्ति को, काटे जग की प्रीति ॥४३॥

जो कुछ तुमको प्राप्त है, उसमें ही सुख मान।
चन्दा की शीतल कला, कब पाता दिनमान ॥४४॥

मूर्ख व्यक्ति के भाव सब, कर्दम में हैं स्नात।
वृत्ति उसकी बहुत दुखी, स्वयं करे अपघात ॥४५॥

व्यर्थ मोह के बन्ध हैं, कहते वेद पुराण।
जग की माया त्याग कर, करो जीव का त्राण ॥४६॥

पर हित के मृदु भाव में, निहित स्नेह का गान।
इसके कोमल स्पर्श से, दुख का है अवसान ॥४७॥

सहज शील की यह विभा, अपने में है पूर्ण।
श्रद्धा की मृदु मान्यता, किये दम्भ को चूर्ण ॥४८॥

नयनों पर पर्दा दिये, खोज रहे हो सार।
दुख की पर्त्त घनी हुई, और बढ़ा है भार ॥४९॥

चरित्र-गुण के सत्य से, करो चित्त-संस्कार।
जन-सेवा की वृत्ति लो, जीवन के दिन चार ॥५०॥

सादा जीवन में निहित, नए स्वास्थ्य के प्राण।
कृत्रिमता के पाश से, करो लोक का त्राण ॥५१॥

अबुध जनों की भावना, नित्य रही अवसन्न।
जड़ीभूत-सी चेतना, पल भर नहीं प्रपन्न ॥५२॥

शान्त भाव से त्याग दो, मन के सभी विकार।
नूतन श्री की परिधि में, होगा बस उद्धार ॥५३॥

हिंसा का परित्याग कर, करो शान्ति का गान।
हिंसा के परिणाम का, दशरथ से लो ज्ञान ॥५४॥

प्रेम बीज का वपन कर, छोड़ो मत्सर-भेद।
द्वार-द्वार पर घूम कर, गाओ गीता-वेद ॥५५॥

जीवन के कुछ कार्य कर, करो जगत-उद्धार।
केवल इंगित मात्र से, लब्ध हुआ कब सार ? ॥५६॥

शैल-शिखर पर दीखते, मणिमय मुक्ता-पाश।
मानों माया मनुज से, करती हो कुछ आश ॥५७॥

स्वावलम्ब का पाठ पढ़, लिये श्रमिक का मान।
जग को नव उत्साह दो, सभी शक्ति को छान ॥५८॥

अपने सुकृत से सदा, काटो वसुधा-भार।
मन की भूलों से यहाँ, होता पाप-प्रसार ॥५९॥

जीवन में बस कर्म ही, सुन्दर औ' कमनीय।
अलस भाव की चेतना, नहीं कभी ग्रहणीय ॥६०॥

जीवन को ऊँचा बना, करो अन्य-उपकार।
तुममें संसृति बोलती, गुँजा हृदय के तार ॥६१॥

शोषण का परित्याग कर, करो श्रमिक-कल्याण।
उनकी मुख मुस्कान से, पाओगे नव प्राण ॥६२॥

काम-भाव की प्रगति में, पाया जो उल्लास।
उसमें मधुमय विष निहित, करता मन का ह्रास ॥६३॥

सहज शील की प्रिय विभा, अपने में है पूर्ण।
श्रद्धा की मृदु मान्यता, किये दम्भ को चूर्ण ॥६४॥

विषय-भोग में लिप्त हो, करो न मन को हीन।
इससे मणियाँ भाग्य की, होंगी तेरह तीन ॥६५॥

लुब्ध व्यक्ति की भावना, रहती केवल खिन्न।
दो क्षण के आनन्द में, सत्य सदा अवछिन्न ॥६६॥

चन्द्र-वदन को भूलकर, चलो सत्य की ओर।
जग के बन्धन में लिपट, रहती माया घोर ॥६७॥

इन अलकों के पाश में, बँधें न मन के छोर।
इनका पहला स्पर्श ही, लिये पीर की पोर ॥६८॥

दो क्षण का यह रूप है, युग का है व्यामोह।
स्वर्ण-किरण के बाद ही, घिर-घिर आता लोह ॥६९॥

स्थूल तत्व को छोड़ कर, लाओ नूतन प्रीति।
निर्धन की सेवा करो, यही कर्म की रीति ॥७०॥

जग को अपना मान कर, छोड़ बुद्धि का भेद।
जीवन को सुन्दर बना, लाओ श्रम का वेद ॥७१॥

जग की छवि को देख कर, चुनो मृदुलतम भाव।
मधुमय सेवा से सदा, भरो जीव के घाव ॥७२॥

माया का पर्दा सदा, करता जन का नाश।
अरे, हृदय में ही सतत, होता सत्य विकास ॥७३॥

पापी मन में नित्य ही, होता तमस-प्रसार।
जीव-मात्र से स्नेह कर, करो पुण्य दो-चार ॥७४॥

सत्संगति से जीव का, होता चिर कल्याण।
पारस से निर्मल हुए, लोहे के भी प्राण ॥७५॥

नीति-लोक के छन्द में, छिपे समुज्ज्वल भाव।
संयम की मृदु रीति के, इसमें अनगिन दाव ॥७६॥

मित्र नहीं कोई यहाँ, सबको अपनी चाह।
मन की तृष्णा से विलग, नहीं किसी की राह ॥७७॥

कौरव-पाण्डव की कथा, लिये द्रोह का बीज।
काटे सुमनों का हृदय, पल-पल करते छीज ॥७८॥

धृति से मन को माप कर, चलो गुणों की ओर।
त्वरित भाव से टूटती, मधुर प्रीति की डोर ॥७९॥

सहज मार्ग के ज्ञान से, प्राप्त हुआ सब सार।
कृत्रिमता के गलल का, विलग रहा सब भार ॥८०॥

धन के पीछे जो रहा, वह माया का दास।
बुद्धि का प्रिय पात्र नहीं, रही अविद्या पास ॥८१॥

नीर-क्षीर की भाँति अब, बनी एक में एक।
जन-चेतन की ही सदा, अविचल रहती टेक ॥८२॥

मन में चिर सन्तोष ले, शमन करो निज दोष।
इच्छा का परिहार कर, पाओ नव परितोष ॥८३॥

स्वावलम्ब का पाठ पढ़, लेकर नव संकल्प।
सतत परिश्रम से करो, मन का कायाकल्प ॥८४॥

अंकुर से बिरखे फले, उद्यम से जन-प्राण।
मनमें नव आशा लिए, पाना दुख से त्राण ॥८५॥

आशा का उल्लास ले, करो सत्य-सन्धान।
जड़ित व्यक्ति से दूर है, उसके कुल की आन ॥८६॥

सत्संगति की प्रेरणा, करती नव संस्कार।
वह शोभन को ढूँढकर, नित्य खोजती सार ॥८७॥

दनुजों में सज्जन सदा, करते आत्म-प्रसार।
रजनी गन्धा का सुमन, देता सौरभ-धार ॥८८॥

उत्तम है अमृत वचन, कटुक सदा ही तीर।
वे मन को मधु रीति दें, ये भीषण उर-पीर ॥८९॥

मधु-भाषी परदेश भी, होता अपना देश।
स्नेह-वचन में सत्य ही, रहा न दुख का लेश ॥९०॥

मानव का मानव-द्वेष, कितना दुर्दमनीय।
लोहा लोहा काटकर, लगता कब कमनीय? ॥९१॥

हिंसा की प्रचलित प्रथा, लिये अहं का वाद।
आत्म-विनाशक स्वयं है, व्यर्थ घहरता नाद ॥९२॥

नभ में पक्षी उड़ रहे, परछाईं है संग।
यों ही लोक-सुकृत भी, अमर स्वर्ग के अंग ॥९३॥

मानव का अज्ञान ही, उसके दुख का मूल।
इसके कारण चित्त में, चुभते तीखे शूल ॥९४॥

स्वप्नों की मादक निशा, ढलती है हर प्रात।
कब तक जीवित रह सका, तुहिन कणों का गात ॥९५॥

भावुक के मन में सदा, अमित प्रेम का रूप।
सत्व भाव के सामने, मिटा तमस का कूप ॥९६॥

विद्या का संचय सदा, करता जग के पार।
मन के कोमल भाव का, होता नित्य निखार ॥९७॥

देश-भक्ति की भावना, प्रियतर और पवित्र।
इससे मन के मूल में, उठता उच्च चरित्र ॥९८॥

मिट्टी ही बस सत्य है, और तत्व सब झूठ।
मिट्टी का आदर करो, कहीं न जाए रूठ ॥९९॥

मेरे मन में लीन है, संसृति का विश्वास।
उसके अणु परमाणु में, मेरे ही निश्वास ॥१००॥

चंद्र वेध्यकादि ४ श्रुत अनुपलब्ध नहीं है

—श्री अगरचंद नाहटा

मुनि श्री हस्तीमल जी महाराज कृत अनुवाद सहित नंदीसूत्र, राव बहादुर मोतीलाल जी मुथा, सतारा से प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ का सम्पादन आधुनिक पद्धति से सुन्दर हुआ है। इस संस्करण के प्रथम परिशिष्ट में पारमार्थिक और विशिष्ट शब्दों पर टिप्पण भी लिखे गए हैं जिनमें कालिक एवं उत्कालिक ग्रन्थों का परिचय देते हुए निम्नोक्त ग्रन्थों को अनुपलब्ध बतलाया है जब कि उनमें से कइयों की प्रतियाँ जैन भंडारों में प्राप्त हैं। कई तो प्रकाशित भी हो चुके हैं। विद्वानों की जानकारी के लिए प्राप्त व प्रकाशित ग्रन्थों का परिचय दे रहा हूँ।

अनुपलब्ध बतलाये गए ग्रन्थ—

उत्कालिक

२. कल्पिका कल्पिक
३. चुल्ल (क्षुल्ल) कल्प
४. महाकल्प
९. महा प्रज्ञापना
१०. प्रमादाप्रमाद
१५. चंद्रक वेध्य
१७. पौरुषी मण्डल
१८. मण्डल प्रवेश
१९. विद्याचारण विनिश्चय
२१. ध्यान विभक्ति
२३. आत्म विशोधि
२४. वीतराग श्रुत
२६. विहार कल्प
२७. चरण विधि

कालिक श्रुत

९. द्वीप सागर प्रज्ञप्ति
१०. क्षुद्रिका विमान प्रविभक्ति
१२. महती विमान प्रविभक्ति
१३. अङ्ग चूलिका
१४. वर्ग चूलिका
१५. विवाह चूलिका
१६. अरुणोपपात
१७. वरुणोपपात
१८. गरुडोपपात
१९. धरणोपपात
२०. वैश्रमणोपपात
२१. वेलंधरोपपात
२२. देवेन्द्रोपपात
२३. उत्थान श्रुत
२४. समुत्थान श्रुत
२५. नाग परिज्ञा

इन्हें प्रायः अनुपलब्ध बतलाया गया है। यद्यपि उन्होंने १० प्रकीर्णक, महानिशीथ व ऋषिभाषित, इनको भी मूलरूप से अनुपलब्ध माना है वह तो खैर अपना अपना मत है। पर उपर्युक्त सूची में से १ चंद्रवेध्यक २ महापच्चक्खाण अंगचूलिका और ४ द्वीपसागर प्रज्ञप्ति को अनुपलब्ध मानना उचित नहीं प्रतीत होता। इनमें अंगचूलिका को छोड़ तीन तो प्रकाशित भी हो चुके हैं। पता नहीं मुनि श्री हस्तिमल जी ने उनको अनुपलब्ध कैसे बतला दिया? यदि इनको मूलरूप में उपलब्ध नहीं मानते तो अन्य ग्रन्थों के लिए जैसा लिखा है वैसे ही इनके लिए भी लिखना चाहिए था कि इन नामों वाले ग्रन्थ उपलब्ध हैं पर वे मूलरूप में नहीं हैं।

प्रकाशित ग्रन्थ-त्रय

१. चन्दा विज्जय (चन्दग विज्झय) पइण्णयं' गाथा १७५--

यह ग्रन्थ चतुर्विजय जी की छाया सहित विजय क्षमाभद्र सूरि से सम्पादित होकर सं० १९९७ में संघवी नगीनदास कर्मचन्द, व्यवस्थापक श्री केसर बाई ज्ञान मन्दिर, पाटण से प्रकाशित हो चुका है। पत्राकार पत्र १४; मूल्य-३ आना।

२. द्वीप सागर प्रज्ञप्ति संग्रहणी, गाथा २२३--

यह ग्रन्थ चन्दन विजय संशोधित व चन्दन सागर ज्ञान मन्दिर, बीजलपुर से वीर सं० २४७२ में प्रकाशित हो चुका है। पाटण भाण्डार सूची के पृष्ठ १२२ के अनुसार इसका परिमाण २८० श्लोकों का है।

३. महापच्चक्खाण पइण्णयं, गाथा १४२--

यह तो आगमोदय समिति, सूरत से "प्रकीर्णक-दशकम्" ग्रन्थ में ही छाया सहित प्रकाशित हो चुका है।

इन तीनों प्रकीर्णकों की ताड़पत्रीय प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त होने से ये ग्रन्थ अवश्य ही प्राचीन होने चाहिए।

४. अंग चूलिका, यह ८०० श्लोक परिमाण का गद्य ग्रन्थ है। संवत् १६०० की लिखी हुई प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टीटयूट पूना में है और भी अनेक प्रतियाँ आगरा, लींबड़ी आदि कई भाण्डारों में प्राप्त हैं ही।

५. प्रद्युम्न सूरि के विचार-सार प्रकरण में ४५ आगमों में 'ज्ञाण-विभत्ति' का उल्लेख है, अतः वह ग्रन्थ भी १४ वीं० शती तक प्राप्त होना संभव है।

"मनुष्य की प्रगति के प्रति भयंकर विद्रोह....."

—मुनि श्री आईदान जी महाराज

दुनिया का इतिहास स्पष्ट बता रहा है कि परिस्थितियों के अनुसार मानव-जीवन बदलता रहा है। उसका रहन-सहन, उसके रीति-रिवाज समय और युग के साथ बदलते रहे हैं। आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ है कि एक ही युग के बने हुए रीति-रिवाज दूसरे युगों में उसी तरह उपयोगी सिद्ध हुए हों या एक ही संस्कृति निरन्तर काम करती रही हो।

आज तक कोई ऐसा महापुरुष नहीं हुआ है, जिसने सारे युगों के लिए एक ही संस्कृति या एक ही तरह के रीति-रिवाजों का निर्माण किया हो परन्तु आगम के पन्नों को खोलकर पढ़ने पर यह तो ज्ञात होता है कि समय-समय पर उन्होंने बाह्य-नियमोपनियमों को अथवा रीति-रिवाजों को युग के अनुकूल परिवर्तन किया है। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर और २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के जीवन काल का अवलोकन करें, तो स्पष्ट हो जायगा कि समय परख कर महावीर ने रीति-रिवाजों में कितना परिवर्तन किया था और ऐसा करके ही वे सामाजिक जीवन को प्रगतिशील बना सके थे, यदि पुराने नियमों को घसीटते रहते—जो उस युग के लिए फिट नहीं बैठते थे—तो जैन-समाज का कभी भी विकास न हो सकता। इसलिए मानव-जीवन के पारखी—भगवान् महावीर ने युग के अनुकूल रीति-रिवाजों या नियमों का सर्जन करके हमारे सामने यह सिद्धान्त रख दिया कि समय के अनुसार जीवन को बदलते रहना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक युग परिवर्तनशील है और मनुष्य समय, युग तथा परिस्थितियों का गुलाम ठहरा, इसलिए वह उनके प्रभाव से बच नहीं सकता। युग के अनुसार अपने जीवन को बनाकर ही वह प्रगति कर सकता है।

हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि बच्चे के विकास के साथ-साथ उसकी पोशाक बदलती रहती है अथवा ज्यों ज्यों बच्चा बड़ा होता है त्यों त्यों पोशाक भी बड़ी होती जाती है। यदि कोई व्यक्ति बच्चे को जन्म के समय की पोशाक पहनाये रखे, उसमें जरा भी परिवर्तन करना न चाहे, तो कहना होगा कि यह व्यक्ति बच्चे के प्रति घोर अन्याय कर रहा है, उसके विकास को रोक

रहा है। उस समय उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह समय-समय पर बच्चे की पोशाक को बदल दे, यदि वह ऐसा नहीं करता है तो यह लाजिमी होगा कि उस पोशाक को फाड़कर बच्चे का विकास किया जाय। पोशाक का व्यामोह रखकर बच्चे का विकास रोका नहीं जा सकता यदि उसे विकास के उपयुक्त पोशाक नहीं दी गई तो वह उस पोशाक को फाड़कर अपना विकास करेगा ही और इसे ही आज के युग की भाषा में क्रान्ति कहते हैं।

इसलिए हमें अपने दिमाग से यह भ्रम निकाल देना चाहिए कि महापुरुष कहे जाने वाले पुरुषों के आदर्श वचन हर समय और हर युग के लिए शत-प्रतिशत अनुकरणीय हैं। यह हो सकता है कि अपने युग की तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से उनका जीवन या उनका उपदेश बहुत कुछ प्रगतिशील रहा हो और इसी कारण वे उस युग-विशेष के निर्माता या महापुरुष कहलाये हों, पर आज के युग में अनुभव और वे रीति-रिवाज किसी भी तरह फिट नहीं बैठ सकते।

हमारा अनुभव स्पष्ट बता रहा है कि ५० वर्षों के रहन-सहन और आज के रहन-सहन में कितना अन्तर पड़ चुका है। उस समय के नियमों का अब कोई महत्व नहीं रहा है, आज समय बहुत आगे बढ़ चुका है अतः उसे किसी भी तरह पीछे नहीं ढकेला जा सकता। इसी तरह हिमालय की ठंडी और काश्मीर की सरस आबहवा में पलने वाले मनुष्यों और रेगिस्तान के गरम और शुष्क जलवायु में रहने वाले मनुष्यों का आचार-विचार, रहन-सहन और रीति-रिवाज एक हो नहीं सकते। हर प्रदेश में समय और परिस्थितियों के अनुसार बाह्य नियम बनते और बिगड़ते रहते हैं।

इसलिए उन महापुरुषों के—उस युग के लिए बनाये गए—नियमों की दुहाई देना और उनके आचार-विचार और अनुकरण पर समाज का विधि-विधान बनाना आजके मानव-समाज की प्रगति के प्रति बड़ा भारी विद्रोह करना है। आज समाज का ढाँचा कैसा होना चाहिए, मनुष्य का रहन-सहन किस प्रकार का हो—इसका निश्चय शताब्दियों तथा सहस्राब्दियों पहले बने हुए ढाँचे और आचार-विचार के अनुसार नहीं किया जा सकता, पर वर्तमान युग की आवश्यकताओं और आज के युग के जीवन को परख कर ही करना होगा और ऐसा करने पर ही हम समाज के प्रति वफादार रह सकेंगे और हमारा सामाजिक जीवन भी सफल एवं प्रगतिशील बन सकेगा।

संसार के धर्मों का उदय

डा० इन्द्र

धर्म की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने अपनी अपनी मान्यतानुसार इसकी विविध परिभाषाएँ दी हैं। जिस विचारधारा ने जीवन के जिस तत्त्व को प्रधानता दी उसी को धर्म मान लिया। कर्म को प्रधानता देने वाले जैमिनि ने कहा—कर्तव्याकर्तव्य के विषय में वेद की जो आज्ञाएँ हैं, वे ही धर्म हैं। आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार के उत्कर्ष को प्रधानता देने वाले प्रशस्तपाद ने कहा—जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों की सिद्धि हो उसे धर्म कहा जाता है। व्यक्ति और समाज के सम्मिलित उत्कर्ष को प्रधानता देने वाले मनु ने बताया—श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा आत्म सुख इन चारों बातों से धर्म का निर्णय होता है। जैन परम्परा ने अहिंसा, संयम और तप आदि व्यक्तिप्रधान आचार को धर्म बताया। बौद्धों ने दान, शील आदि सामाजिक सदाचार को प्रधानता दी। आध्यात्मिक दृष्टिकोण वाले कुछ दार्शनिकों ने जीव की ईश्वर के प्रति अथवा व्यक्ति की समाज के प्रति भावनाओं को धर्म कहा। विश्व के आधारभूत सिद्धान्त को भी धर्म कहा गया है। इनके अतिरिक्त वर्णधर्म, आश्रम धर्म, समाज धर्म आदि अनेक सापेक्ष धर्म हैं। किन्तु यहाँ उन सब की चर्चा नहीं की जाएगी। यहाँ धर्म को एक स्थूल एवं सीमित अर्थ में लेकर उसी का तुलनात्मक परिचय दिया जाएगा। धर्म का स्थूल अर्थ है—आधिदैविक एवं अतीन्द्रिय शक्तियों के स्वरूप, प्राणियों के सुख दुःख पर उनके नियन्त्रण तथा उनकी पूजा पद्धति से सम्बन्ध रखने वाली मान्यताएँ।

प्राचीन समय में आचार को भी धर्म का ही अंग माना जाता था। समाज का व्यक्ति के प्रति, व्यक्ति का समाज के प्रति तथा व्यक्तियों में परस्पर कैसा व्यवहार होना चाहिए, इसका निर्धारण भी धर्म ने किया है। इसी प्रकार सामाजिक तथा वैयक्तिक मर्यादाओं को भंग करने वाले के लिए ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार की दण्ड व्यवस्था धर्म का विषय रहा है। वर्तमान युग में संस्कृति के नाम से जितने विषय लिए जाते हैं, प्राचीन समय में प्रायः वे सभी धर्म में आ जाते थे। किन्तु अब आचार शास्त्र और धर्म शास्त्र भिन्न भिन्न माने जाते हैं। मानवों के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा आचार शास्त्र (Moral Science) करता है और दैवी शक्तियों के साथ मनुष्य के सम्बन्ध की चर्चा धर्म शास्त्र करता है।

प्राचीन धर्मों में आचार का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। व्यक्ति में ही उसका पर्यवसान हो जाता था। मनुष्य अपने शरीर और परिवार से आगे की बात नहीं सोचता था। धीरे धीरे उसने विकास किया और कुल, कबीला, जाति, या राष्ट्र तक को सम्मिलित कर लिया। समान जाति, समान भाषा, समान धर्म तथा समान रीति रिवाज आदि तत्त्वों को भी महत्व देना प्रारम्भ किया। इस क्रमिक विकास ने उसे वैयक्तिक स्वार्थ के स्थान पर न्याय की ओर आकृष्ट किया। अपने सुख के साथ साथ दूसरों की सुखसुविधा का भी ध्यान रखा जाने लगा। किन्तु यह विकास प्रायः राष्ट्र की सीमा तक पहुँच कर अटक गया। अधिकतर प्राचीन धर्मों में विदेशी या विजातियों को स्वाभाविक शत्रु माना जाता था। उनके लिए राष्ट्रीय सदाचार का पालन नहीं किया जाता था।

यहूदी अपने क्षेत्र से बाहर सभी को जेण्टाइल मानते थे और उन्हें अपना शत्रु समझते थे। इसी प्रकार हेलेन मतावलम्बियों के लिए बारबार भारतीय आर्यों के लिए दास तथा म्लेच्छ चीनियों के लिए विदेशी शैतान और मुसल्मानों के लिए काफिर थे। विदेशियों के प्रति इस प्रकार की मनोवृत्ति कहीं कहीं अब भी विद्यमान है। दूसरे स्थानों में भी विदेशियों को पराया माना जाता है और उनके लिए अधिकार तथा न्याय का वह स्तर नहीं है जो अपने देशवालों के लिए है। उदाहरण के रूप में वस्तुओं के मूल्य को लिया जाय। स्विटजरलेण्ड में तीन प्रकार के मूल्य हैं। सबसे कम स्विसों के लिए, उससे अधिक जर्मनों के लिए और सबसे अधिक अंग्रेज तथा अमेरिकनों के लिए। लोकाचार अभी इतना विकसित नहीं हुआ कि विभिन्न राष्ट्र भी परस्पर उसी प्रकार का व्यवहार करें जैसा एक राष्ट्र के के निवासी परस्पर करते हैं। यह ठीक है धीरे धीरे एक अन्तर्राष्ट्रीय विधान बन चुका है जो कि राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों को न्याय तथा समानता के आधार पर निपटाने का प्रयत्न करता है किन्तु उसमें भी एक ओर स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है तो दूसरी ओर उसे न मानने की धमकी दी जाती है। राष्ट्र उसकी परवाह तभी तक करते हैं जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है। अपने स्वार्थ पर आघात होते ही वे उसे त्यागने का बहाना ढूंढने लगते हैं। फिर भी संसार के बड़े बड़े राजनीतिज्ञ शान्ति चाहते हैं और इसके लिए प्रयत्न शील हैं।

संसार के सभी प्रधान धर्मों का उदय पूर्व में हुआ है। इसीलिए रायल एशियाटिक सोसायटी ने पूर्व से प्रकाश के आगमन को अपना प्रतीक बनाया

है। उन धर्मों में से मिश्रधर्म तथा असुर धर्म प्राचीन समय में ही लुप्त हो चुके। किन्तु उन के विषय में ऐसी सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है जिस से उनका रूप समझा जा सकें। आठ धर्म जो अभी जीवित हैं, उन में से कुछ राष्ट्र तक सीमित हैं और कुछ विश्वव्यापी हो गए। उन के धर्मग्रन्थ भी या तो स्थापना के समय बने या कुछ समय बाद। इन दस महान् धर्मों को उत्पन्न करने का श्रेय तीन महान् जातियों को है। चीनियों ने कन्फ्यूशस-धर्म को जन्म दिया। यह अढ़ाई हजार वर्ष तक उन लोगों का प्रमुख धर्म रहा है तथा इस के मानने वालों की संख्या तीस करोड़ है। आर्यों ने चार धर्मों को जन्म दिया। जरथुस्त्र का धर्म फारस में पैदा हुआ किन्तु एक हजार वर्ष से भी अधिक समय हो गया जब कि इस्लाम ने उसे अपनी जन्मभूमि से निकाल दिया। यह वैदिक आर्यों के धर्म से मिलता जुलता है और उस समय की अवस्था को प्रकट करता है जब आर्य लोग भारत में आने से पहले ईरान में बसे थे। फारस में अब इस धर्म को मानने वालों की संख्या दस हजार से अधिक नहीं है। वे लोग फारस से भागकर भारत में बस गए। यहाँ इनकी संख्या एक लाख से ज्यादा है। अपने प्राचीन देश की धर्म तथा विद्या को अब भी इन लोगों ने सुरक्षित रखा है। मुसल्मानों के आक्रमणों से इस धर्म को बहुत आघात लगा और इसके अनुययी थोड़े से रह गए। किसी समय यह फारस के विशाल साम्राज्य का धर्म था। इसी ने सूर्य-पूजा का प्रचार किया। वैदिक मित्र (सूर्य) ही फारसियों के मिथ्र हैं। ई० पू० पहली सदी में यह पूजा रोम में दूर दूर तक फैल गई। सैनिक गुलाम तथा व्यापारियों ने इसे अजय्य मित्र के रूप में पूजना प्रारम्भ किया। तीसरी शताब्दी के अन्त तक यह करीब करीब विश्वधर्म बन गया। चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ तक रोम के सम्राट् भी मिथ्र के पुजारी थे। किन्तु कुस्तुन्तुनिया ने, जिसका राज्यारोहण ई० ३२६ में हुआ था, ईसाई धर्म को राज्यधर्म बना दिया। परिणाम स्वरूप मिथ्रधर्म का प्रभाव कम होने लगा और चौथी सदी के अन्त तक यह रोम से लुप्त हो गया।

इसके अतिरिक्त अन्य तीन आर्य धर्मों का उदय भारत में हुआ। उनमें प्राचीनतम हिन्दू धर्म हैं। इसके प्राक्तन रूप को लिया जाय तो यह अपनी जन्म भूमि में तीन हजार वर्षों से चला आ रहा है। इस समय इसके चौबीस करोड़ अनयायी हैं। जैन धर्म भी अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर को लिया जाय तो अढ़ाई हजार वर्ष से चला आ रहा है। किन्तु नई खोज के आधार पर यह सम्भावना की जाती है कि यह अत्यन्त प्राचीन धर्म है। इस समय इसके

अनुयायी चौबीस लाख के लगभग हैं। बौद्ध धर्म का उदय भी उसी समय हुआ किन्तु कई सदियों पहले इसका अपनी जन्म भूमि से लोप हो गया। यह भारत के उत्तर दक्षिण तथा पूर्व में तिब्बत, मंगोलिया, चीन, कोरिया, जापान, बर्मा, स्याम, इंडोचीन तथा लंका में फैल गया। पूर्वी एशिया में जाकर यह विश्व धर्म बन गया। इसके अनुयायी लगभग बारह करोड़ हैं।

प्राचीन समय में आर्य धर्म के कई दूसरे रूप भी विद्यमान थे, जैसे ग्रीक, रोमन, सेल्टिक, टच्यूटानिक, स्लावोनिक आदि, किन्तु वे लुप्त हो गए। ईस्वी प्रारम्भ में ही ईसाई धर्म ने उन्हें निकाल बाहर किया। इनमें से ग्रीक और रोम के विषय में हमें उनके अपने साहित्य से जानकारी मिलती है। तीन का वर्णन रोमन तथा ईसाईयों ने किया है। यह वर्णन एकाङ्गी और अभिनिवेश पूर्ण है। इस लिए उनके विषय में हमारे उपयोग की विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध नहीं है। ग्रीक धर्म ने पाश्चात्य सभ्यता को बहुत अधिक प्रभावित किया है।

सेमिटिक परम्परा में पाँच धर्मों का आविर्भाव हुआ। उनमें से मिश्र और असीरिया के धर्म लुप्त हो चुके हैं। शेष तीन यहूदी, ईसाईमत और इस्लाम अभी तक जीवित हैं। यदि हिन्दू धर्म के प्राचीन वैदिक रूप को छोड़ दिया जाय और एकरूपता की दृष्टि से देखा जाय तो यहूदी जीवित धर्मों में प्राचीनतम है। उनका धर्म ग्रन्थ है ओल्ड टेस्टामेन्ट, जो हिब्रू भाषा में लिखा गया है। अनुयायियों की संख्या थोड़ी होने के कारण यह १८५२ वर्ष पहले अपनी जन्म भूमि फिलस्तीन से निकाल दिया गया। ७० ई० में जेरूसलम पर टीटस का अधिपत्य हो गया और रोमनों ने यहूदियों को निकाल बाहर किया। तब से यहूदी जाति निर्वासित के समान रह रही है और बहुत से देशों में बिखरी हुई है। इसके डेढ़ करोड़ अनुयायी सभी जगह परदेशी हैं और शासकों की इच्छानुसार जब चाहें नागरिकता के अधिकार से वञ्चित कर दिए जाते हैं। इन लोगों के सामने अब यह दुर्लभ अवसर आया है कि विशाल संख्या में फिलस्तीन जाकर बस सकें और अपने प्राचीन धर्म को उसकी जन्म भूमि म ले जा सकें।

यहूदी धर्म एक राष्ट्रधर्म ही बना रहा। उसके अनुयायिओं की संख्या भी अल्प ही रही। किन्तु इसकी शाखाएँ इस्लाम और ईसाई मत विश्वधर्म बन चुके हैं। इस्लाम पश्चिम तथा मध्य एशिया के अधिक भाग में तथा उत्तरी अफ्रीका में मोरक्को तक फैला हुआ है। ईसाईधर्म यूरोप, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के महाद्वीपों को घेरे हुए है। इस्लाम, जो कि विश्वधर्मों में

नूतनतम है, की स्थापना अरब में हुई। मुहम्मद ने सातवीं सदी में इसे जन्म दिया। इसका धर्मग्रन्थ कुरान है और अरबी भाषा में लिखा हुआ है। इस को मानने वाले इस समय साढ़े सत्रह करोड़ हैं।

ईसाईधर्म की स्थापना फिलस्तीन में हुई। ईस्वी के प्रारम्भ में यीशु क्राइस्ट ने इसे जन्म दिया। इसका धर्मग्रन्थ न्यू टेस्टामेंट है जो कि ग्रीक भाषा में लिखा गया है। इसके अनुयायी साढ़े त्रेपन करोड़ हैं। ये पाँच धर्म अपने जन्मस्थान में उत्पन्न होकर किस प्रकार फैले और विश्वधर्म बन गए, यह बात संक्षेप में नीचे लिखे अनुसार है :—

१—ईसाई धर्म का उदय एशिया में हुआ किन्तु उसकी परम्परा वहाँ से लुप्त हो गई। क्रमशः फैलते हुए वह तीन महाद्वीपों का धर्म बन गया। इसके साथ साथ वह आर्यों की पश्चिमी शाखा का भी धर्म है जो सभ्यता की दृष्टि से अत्यन्त विकसित है। इस प्रकार जो धर्म एक सेमेटिक विश्वास के रूप में उत्पन्न हुआ, कालान्तर में आर्यों की पश्चिमी शाखा का धर्म बन गया। समस्त गोरी प्रजा इसी धर्म को मानती है।

२—बौद्धधर्म का उदय भारत में हुआ। एक हजार वर्ष के उत्कर्ष के बाद उसका अपकर्ष होने लगा और क्रमशः वह अपनी मातृभूमि से सर्वथा लुप्त हो गया। वह पूर्व की ओर बढ़ा और उसने वहाँ के मूल धर्मों को समाप्त करके उनका स्थान ले लिया। धीरे धीरे यह आर्येतर जातियों का पीतवर्ण मानव कुल का मुख्य धर्म बन गया।

३—तीसरा धर्म अरब की सेमेटिक जाति में उत्पन्न हुआ और वहाँ अब तक बना हुआ है। साथ ही उसने प्राचीन शमन धर्म को हटाकर उसका स्थान ले लिया। अधिकतर तूरानी इसी धर्म को मानते थे। इस पिछड़ी जाति का मूल निवास मध्य एशिया में अलताई की पर्वत माला था। क्रमशः वे एशिया की मध्य रेखा में फैल गए। यह रेखा चीन से लेकर पूर्वी भूमध्य सागर तक तथा एशिया के उत्तर से लेकर यूरोप की उत्तरी सीमा तक चली गई है। इस जाति की पाँच शाखाएँ हैं। उनमें से मंगोल और तुर्क अधिक महत्वपूर्ण हैं। तुर्क इस्लाम के कट्टर अनुयायी बने और साथ ही मुख्य प्रचारक भी। उन्हें 'इस्लाम की तलवार' कहा जाता है। इस प्रकार यह धर्म प्रकट रूप में तुर्की जनता तथा तुर्की साम्राज्य का धर्म माना जाने लगा। इस्लाम ने आर्य शाखा के विकसित पारसी धर्म को भी निर्वासित कर दिया और भारत में हिन्दु धर्म का पाँचवाँ भाग रोक लिया।

४-५ शेष दो धर्म अत्यन्त प्रभावशाली होने पर भी प्रधानतया अपने देश तक सीमित रहे। कन्फ्यूशस धर्म चीन में उत्पन्न हुआ और अब तक अपने अपरिवर्तित रूप में विद्यमान है। हिन्दुधर्म का आविर्भाव भारत में हुआ किन्तु उसमें समय समय पर परिवर्तन होते रहे।

जावा, सुमात्रा, बालि आदि एशियाई द्वीपों में इसका प्रचार हुआ किन्तु वहाँ इस्लाम या बौद्ध धर्म द्वारा दबा दिया गया।

उपरोक्त दो धर्म अपनी भौगोलिक सीमाओं को क्यों नहीं पार कर सके, यह जानना कठिन नहीं है। कन्फ्यूशस धर्म का मूल मुख्यतया चीन के रीति रिवाज ही हैं। वे इस धर्म के आविर्भाव से पहले ही अपनी जड़ जमा चुके थे। उनमें विदेशों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने का बहुत ध्यान रखा जाता था। चीन की दीवार जो कि ई० पू० दूसरी सदी में बनी है, इसका स्पष्ट उदाहरण है। चीनी यात्री हुएनसांग की एक जीवन घटना भी इसी बात को पुष्ट करती है जो कि कन्फ्यूशस की मृत्यु के एक हजार वर्ष बाद घटी थी। जब सातवीं सदी के प्रारम्भ में उसने मध्य एशिया के रास्ते भारत के लिए प्रस्थान किया, चीनी सीमारक्षकों से बचकर निकलने में उसे भयंकर कठिनाई का सामना करना पड़ा। उसे किस प्रकार छल कपट का आश्रय लेना पड़ा, यह उसने अपने संस्मरणों में स्वयं लिखा है।

वैदिक तथा यहूदी धर्म वर्तमान जीवित धर्मों में प्राचीनतम हैं। उनके संस्थापकों का भी पता नहीं है। अत्यन्त प्राचीन धर्मों की, जिनका प्रारम्भिक रूप प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्ध रखता है, यह विशेषता है। उनमें धर्म एक समूह या वर्ग की मनोवृत्ति का परिणाम है। उत्तर काल में जब व्यक्ति समाज की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हो गया तभी वह धर्म संस्थापक के रूप में सामने आया। न्यूनाधिक रूप में उसने एक सुधारक के रूप में कार्य किया। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक परिस्थितियों ने उसे प्रेरित किया। नए धर्म का स्वरूप उन्हीं परिस्थितियों द्वारा निर्मित हुआ। जरथुस्त्र, बुद्ध, कन्फ्यूशस, मुहम्मद और क्राइस्ट इसी प्रकार के धर्मसंस्थापक थे। प्रथम चार का संबन्ध ऐसी सभ्यता से था जो एक प्रकार से स्थिर कही जा सकती है। क्राइस्ट का सम्बन्ध एक प्रगतिशील सभ्यता के साथ हुआ। इसीलिए उसने मानवता के विकास के लिए जो शिलान्यास किया वह दूसरे धर्म नहीं कर सके।

(मेकडानल द्वारा दिए गए व्याख्यानों के आधार पर)

अविद-पद-शतार्थी

(सत्रहवीं शताब्दी की एक अप्रकाशित कृति का परिचय)

—उपाध्याय विनयसागर, साहित्याचार्य

इस अनेकार्थी अविद पदार्थमाला के प्रणेता हैं खरतरगच्छीय आद्यपक्षी शाखा के प्रौढ विद्वान् उपाध्याय विनयसागर। इसमें मङ्गलाचरण और उपसंहार सहित ३६ पद हैं। इसके ऊपर विनयसागर की स्वोपज्ञ टीका है। लेखक ने इसका रचना-समय इसमें नहीं लिखा है परन्तु टीका की प्रशस्ति में प्रश्न-प्रबोध का उल्लेख किया है जिसकी १६६७ में लेखक द्वारा स्वयं लिखित प्रति प्राप्त है। अतः अनुमान है कि इसकी रचना भी सं० १६६७के पश्चात् हुई होगी। इसका आद्यन्त इस प्रकार है:—

मूल आ.—श्रीमत्पार्श्वजिनेश्वरचरणाम्भोजं नमाम्यहं भक्त्या।
लब्ध्वा प्रसादमालां, श्रीमज्जिनकुशलसूरीणाम् ॥ १ ॥
श्रीमत्श्रीखरतरगण-युगवर श्रीजिनहर्षसूरयोऽभूवन्।
श्रीमान्हेमनिधानः, पूज्यस्तत्पट्टकमलमार्त्तण्डः ॥ २ ॥
श्रीमन्मेदऋषीन्द्रास्तच्छिष्याः सर्वसाधुगणमुख्याः।
तत्पट्टाम्बरदिनकरतुल्याः श्री-मानकीर्त्तयो गुरवः ॥ ३ ॥
तत्सिंहासनपूर्वाद्रिध्वान्तारिश्च सुमतिकलशोऽस्ति।
स्पष्टानविदपदार्थांस्तत्सूनुर्विनयसागरो लिखति ॥ ४ ॥

× × ×

मू. अं.—आनन्दाय स्वमित्राणां, विषादाय च विद्विषाम्।
लिलेखार्थान् शतार्थोऽमून्, विद्वान् विनयसागरः ॥ ३६ ॥

× × ×

टीकाकार—मङ्गलाचरण—

नमामि श्रीमहावीरं, गौतमस्वामिनं तथा।
श्रीसद्गुरुपदाम्भोजं, देवीं चैव सरस्वतीम् ॥ १ ॥
रत्नाकर इवाख्यातः श्रीमत्खरतरो गणः।
तत्रासीद् विश्रुतो जैन-कुशलः सूरिराट् गुरुः ॥ २ ॥
तत्प्रसादं समासाद्य मुनिर्विनयसागरः।
सर्वेषामेव प्रश्नानां, उत्तरं दातुमर्हति ॥ ३ ॥

१९५४]

अस्ति दिल्ली महाराजधानी नगरमुत्तमम् ।
तत्राऽहं बहुधा पृष्टः, केनचित्प्रतिवादिना ॥ ४ ॥
यदि किञ्चित् तव ज्ञानमस्ति शब्दानुशासने ।
तदाविदपदार्थांस्तान् व्याकुरु प्रथमं भवान् ॥ ५ ॥
तेनाहूत इति प्रायो द्विपेनेव प्रतिद्विपः ।
मल्लेनेव महामल्लः, करीन्द्रेणैव केशरी ॥ ६ ॥
चाणूरेणेव गोविन्दः, कर्णेनेव धनञ्जयः ।
लक्ष्मणो रावणेनेव वादीव प्रतिवादिना ॥ ७ ॥
महायोधा महेनेव, मनसा हर्षितोऽभवम् ।
अमूनर्थांस्ततोऽभ्युच्चैः, सज्जनाः शृणुताऽधुना ॥ ८ ॥

× × ×

टीकाकार प्रशस्ति :—

प्रश्नप्रबोधामलंकृति षष्टीकां तथा राघवपाण्डवीयाम् ।
काव्यं नवीनं नलवर्णनं चादित्यावतारस्तवनं वितेने ॥१॥
श्रीपार्श्वनाथस्तवनस्य टीकां, व्याख्यां विदग्धस्य च राक्षसस्य ।
तस्योत्तमां श्रीविनयाम्बुराशेरिमां कृतिं पश्यतु सज्जनोऽपि ॥२॥

इति श्री अविदपदस्याष्टादशाधिकशतप्रश्नस्य टीका अविदार्थमालाभिधा विनयसागरमुनिना विरचिता समाप्तिमगमत् ।

× × ×

आद्यन्त अवलोकन से आपकी गुरुपरम्परा का वंशवृक्ष इस प्रकार बनता है ।

जिनहर्षसूरि[1]
|
हेमनिधान (डूडर्षि)[2]
|
मेद ऋषि
|
मानकीर्त्ति
|
देवकलश[3] — सुमतिकलश
सुमतिकलश
|
विनयसागर
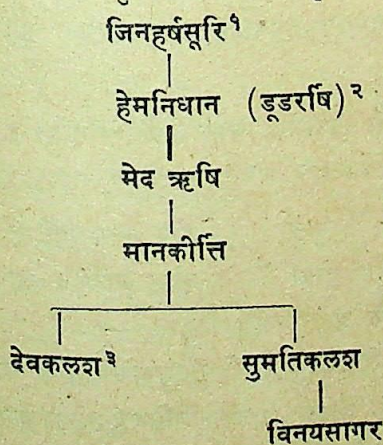
[1] जिनगुणप्रभसूरि के पट्टधर, जिनहर्षसूरि थे। आपके माता-पिता

लेखक पुस्तिका की रचना का उद्देश कहता है कि 'दिल्ली नाम की राजधानी में किसी प्रतिवादी ने कहा कि "यदि आपका शब्दानुशासन (व्याकरण शास्त्र) में कुछ भी ज्ञान है तो अविद शब्द की व्याख्या करो" उसकी यह चुनौती स्वीकार करके प्रतिवादी का गर्वमथन करने के लिए, मल्लके सम्मुख महामल्ल, गज के सम्मुख केसरी, चाणूर के सम्मुख गोविन्द, कर्ण के सम्मुख धनञ्जय, रावण के सम्मुख लक्ष्मण, वादी के सम्मुख प्रतिवादी और समराङ्गण के सम्मुख महारथी मैं हर्षित होकर इस अविद शब्द के १०८ अर्थ (शतार्थी की रचना) करता हूँ।' (टी. मं. पद्य ४-८,)

इसकी रचना तो दिल्ली में हुई है प॰ मंगलाचरण की टीका करते हुए लेखक "प्रथमं श्रीमद्रावणपार्श्वनाथचरणारविन्दं प्रणम्य" कहकर एक ऐतिहासिक घटना की ओर ध्यान खेंच रहा है। इस लेखक ने ही नहीं, किन्तु पूर्ववर्ती कई लेखकों ने रावण पार्श्वनाथ का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है, परन्तु वह रावण पार्श्वनाथ कहाँ था ? कुछ कहा नहीं जा सकता था। कुछ वर्ष पूर्व ही अलवर में खण्डहर के रूप में इसके अवशेष और शिलालेखादि प्राप्त हो गए, उससे स्पष्ट है कि लेखक इस प्रदेश में ही विशेष भ्रमण करता था।

का नाम भगतादे और भादोसा था। भण्डारी नारायण सा ने आपका पट्टाभिषेक महोत्सव किया था। सं० १७२५ चै० वा० ९ को आपका स्वर्गवास हो गया था।

[२] वैराग्यसौभाग्यसुधानिपोऽभूच्छ्रीडूडरर्षिः सुगुरुर्गरीयान्। (विदग्ध मुखमंडन टीका)

[३] उभौ शिष्यौ विराजेते, तस्य क्षितिपवन्दितौ।
श्रीमान् देवकलशश्च, सुमतेः कलशोऽपरः ॥४॥ (विदग्ध मुखमण्डन टीका.)

[४] सुमतिकलश के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं है परन्तु विदग्ध मुख मंडन की टीका से मालूम होता है कि नरेश रामदेव आपके भक्त थे, और आप उसकी राजसभा के अलंकारभूत विद्वान् :—

यं स श्रीरामदेवः क्षितिपतितरुणिर्मार्गधिः स्तौति सम्यक्,
यस्याङ्गं वीक्ष्य लज्जाकुलनिजहृदयोऽनङ्गतामाप कामः।
सङ्घस्याग्रे सुधीभिः द्विजजिनमुनिभिः सङ्कुलायां सभायां,
पृथ्वीमेतां मुनीन्द्रः स सुमतिकलशः कीर्त्तिशुभ्रीकरोति ॥

शतार्थी की रचना प्रौढ एवं परिमार्जित हुई है, इस लघुकायिक ३६ पद्यों में ११८ अर्थ करना, लेखक की प्रतिभा और उक्ति लाघवता को प्रकट करता है। यहाँ पर एक दो उदाहरण देना अनुचित न होगा--

के विज्ञाः के सतां निन्द्याः काहूतिर्विदुषां मता ।
नौमि कान् कांश्च तत्याज, किं शठामन्त्रणं स्मृतम् ।।९।।

व्याख्या--हे अ ! विदो-विष्णुज्ञाः सम्बोधनान्तं बहुत्वं, ।१३। अविदः-विष्णुज्ञान्, ।१४। अविदो मूर्खान् , ।१५। शठानां—मूर्खाणां आमन्त्रणं सम्बोधनं किम् ? तत्रोत्तरम् हे अविदः-हे शठाः ! इति सम्बोधनबहुत्वम् ।१६।।८।।

× × ×

भ्वादिषु प्रत्ययः कः स्यात्, कीदृशः कामिनीगणः ।
को धातुपालने लक्ष्म्यामन्त्रणं किं बुधैः स्मृतम् ।।१०।।

व्या०—अप् प्रत्ययः। अप् कर्तरि धातोरप् प्रत्ययो भवति इति श्रीमत् परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभूतिस्वरूपाचार्य विरचित सारस्वतमतम् ।२१। इः—कामस्तं ददातीति इदः—कामप्रदः। यत् सुरूपां प्रमदामवलोक्य सर्वोऽपि जनः सकामो भवतीति नयः। यदुक्तम्—

हरिरपि राधावशगो जातो रुद्रोऽपि पार्वतीवशगः।
का वार्तेतरपुंसां स्त्रीवशगो भवति सर्वसंसारः ।।

'अकारो वासुदेवः स्यात् इकारः काम उच्यते।' इत्येकाक्षर कोषः ।२२। अवरक्षणे ।२३। बुधैः-पण्डितैः लक्ष्म्याः आमन्त्रणं-सम्बोधनं किं स्मृतं कथितम् ? उत्तरम्-हे ई ! लक्ष्मि इति सम्बोधनं भवेत् ।२४।।१०।।

इस विवेचन से भली भांति प्रकट हो जाता है कि आप व्याकरण शास्त्र के प्रौढ विद्वान थे अन्यथा अविद जैसे अप्रसिद्ध शब्द पर शतार्थी की रचना नहीं हो सकती थी। केवल आपकी यही कृति हो, ऐसी बात नहीं, अभी तक आपकी निम्नलिखित कृतियाँ प्राप्त हो चुकी हैंः—

१. सोमचन्द्र राजा चौपाई (सं १६१७ श्रा० सु० १५ जौनपुर।)
२. चित्रसेन पद्मावती रास
३. भक्तामर वृत्ति
४. कल्याण मन्दिर वृत्ति

५. विदग्ध मुखमण्डन टीका[५] (१६६९ मि० सु० ३ रविवार सेजपुर)
६. प्रश्नप्रबोध[६]

किन्तु इस कृति की प्रशस्ति से और भी कई नूतन ग्रन्थों का पता लगता है:-

१. प्रश्नप्रबोधटीका[७]
२. राघवपाण्डवीय टीका
३. राक्षस काव्य टीका
४. पार्श्वस्तव टीका
५. नलवर्णन महाकाव्य
६. आदित्यावतार स्तवन

पर दुर्भाग्य है कि इसमें से एक भी कृति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। ३५० वर्ष के अल्पकाल में ही आपकी संपूर्ण कृतियों का नाश हो जाना आश्चर्य प्रकट करता है। अथवा पाली का श्रीपूज्य जी का संग्रह आद्यपक्षीय शाखा का प्रमुख भंडार है। उस भंडार में कुछ कृतियाँ हों तो कह नहीं सकते। पर उस भंडार का आज तक किसी भी विद्वान् ने अवलोकन नहीं किया।

यह प्रति यहाँ (कोटा) के सरस्वती भण्डार (गढ) में सुरक्षित है। इसके ७ पत्र हैं और इसका लेखन संवत् १८२३ द्वि० चै० कृ० १५ बुधवार है।

---

[५] प्रेस कॉपी मेरे संग्रह में है।

[६] इसकी स्वयं लिखित एकमात्र प्रति मुनिराज श्री पुण्यविजय जी म० के संग्रह में हैं।

[७] इसका उल्लेख विदग्धमुखमण्डन की टीका, चतुर्थ परिच्छेद के १३ वें श्लोक की टीका में भी है:—

"यद्वयमपि प्रश्नप्रबोधालङ्कारे ब्रूमः—

कञ्चिद्युवानमुत्प्रेक्ष्य काचित् कन्दर्पविह्वला।
चकार कज्जलं लात्वा शृङ्गारं नेत्रयोर्वर॥

अस्यार्थश्चैव टीकायां स्वोपज्ञाभिधानायां द्रष्टव्यः।

जीवन-रहस्य

—श्री भगवान् लाल मांकड़

एक बार रास्ते चलते हुए मैंने एक वृक्ष से लिपटी हुई बेल देखी। मैंने उससे पूछा—क्या तुमने अपने सुगन्धित तथा सुन्दर फूल किसी अरसिक को भेंट किए हैं? यदि किए हैं तो उसके लिए तुम्हारे मन में खेद हुआ है?

लता ने कोई उत्तर न दिया। मैं आगे बढ़ा।

कुछ दूर चलने पर मैंने आम की डाल पर बैठ मतवाली होकर गाती हुई एक कोयल को देखा। मैंने उससे पूछा—क्या कभी तूने अपनी सुरीली तान किसी बहरे को सुनाई है? अगर सुनाई है तो उसके लिए तुझे मन ही मन दुखी होना पड़ा है?

वह अपने स्वर में मस्त होकर गाती रही। उत्तर न पाकर मैं आगे बढ़ा।

आगे जाकर एक सुन्दरी को देखा। अपने मादक सौन्दर्य तथा मधुर पदसञ्चार से वह सारे वातावरण को मादक बना रही थी। मैंने उससे पूछा—अपने रूप का यह उभार क्या तूने किसी नीरस हृदयहीन को अर्पित किया है? यदि हां, तो उसके लिए तुझे मन में असह्य वेदना उठानी पड़ी है।

वह अपनी राह चलती गई। मेरी ओर देखा भी नहीं।

खिन्न होता हुआ मैं घर पहुँचा। मन उदास था। थकावट के कारण नींद आ गई। उसी समय मैंने स्वप्न देखा—

स्वप्न में सबसे पहले वृक्ष को लिपटी हुई वह लता दिखाई दी। फिर मतवाली कोयल और फिर वह मादक सुन्दरी।

मैं तीनों को देखता रहा। तीनों ने कुछ मचलते हुए, कुछ उपहास में और कुछ रोष में कहा—"क्या हम तुम्हारे सरीखे पागल हैं, मूर्ख हैं? हमारे पास तुम्हारी तरह प्रश्नोत्तर करने के लिए समय नहीं है।"

सूर्य प्रातः काल पूर्व में उगता है, दोपहर को ऊँचे आकाश में प्रखर किरणों से चमकता है और शाम को पश्चिम में जाकर छिप जाता है। उसे किसी से बात करने या रुकने की फुर्सत नहीं है।

हमें भी जीवन के पथ पर आगे बढ़ते जाना है। यह सोचने की फुर्सत नहीं है कि हमें कौन देखता है, कौन सुनता है या कौन उपभोग करता है।

बादल बरसता है। वह यह नहीं सोचता उसका पानी कहाँ गिरता है, उसे कौन पीता है। उसका काम बरसना है।

जीवन जीने के लिए है, यह सोचने के लिए नहीं है कि वह किस के लिए है।"

यह कहकर वे लुप्त हो गईं।

त्रिविध शक्ति

किसी दोष से छुटकारा पाने के लिए तीन तरह की शक्तियां आवश्यक हैं—दोष को जानना, उसे दूर करने के लिए सच्चा उपाय ढूँढ़ना तथा उस उपाय को जीवन में उतारना। इन तीनों के होने पर ही दोष से मुक्ति मिलती है। बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि दोष को दोष के रूप में समझना कठिन नहीं है। यह ठीक नहीं है। हमारे में रहे हुए बहुत से दोषों को हम दोष के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु वह स्वीकार अधिकतर दिखावा या उपरि मन का होता है। यदि दोष के लिए दुःख न होता हो, उसके होने पर मन खेद से न भर जाता हो, उस दोष में स्वाद लेने की आदत कम न होती हो, तो यह नहीं कहा जा सकता कि हम दोष को जानते हैं। यह बात केवल निजी दोषों के लिए नहीं है। लोग मानते हैं कि हम दूसरे के दोषों को आसानी से जान सकते हैं। किन्तु यह भी पूरी तरह सच नहीं है। दूसरे के दोषों के सम्बन्ध में भी गहराई से विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि बाह्यरूप से जिसे हम दोष समझ रहे हैं उसे अन्तरात्मा में दोष नहीं मानते। किसी में बुराई देख कर क्या हम को दुःख होता है ? मन में यह वृत्ति जागृत होती है कि वह उस बुराई से कैसे छूटे ? दोषी के प्रति करुणा प्रकट होती है ? किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और है। दूसरे में दोष हो या न हो। हमारे में तो उस बुराई में स्वाद लेने और आगे बढ़े तो उसकी निन्दा करने का दोष घुस जाता है।

जान लेने मात्र से दोष दूर नहीं होता। दोष एक प्रकार का रोग है। पहले रोग का निदान होता है और फिर इलाज। दोष को जानने का अर्थ है उसके मूल कारण को भी जान लेना। उसके बाद उसे दूर करने का उपाय ढूँढना चाहिए। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के शरीर की प्रकृति भिन्न भिन्न होती है किन्तु कुछ समानता भी रहती है, वही बात मन के लिए है। अमुक मर्यादा तक प्रत्येक व्यक्ति पर एक ही उपचार चल सकता है किन्तु जहाँ व्यक्ति में विशिष्टता है वहाँ उपचार में भी फरक करना आवश्यक है। हमारे में क्रोध के वशीभूत होने का दोष हो, या सांसारिक लाभ देख कर लोभ में फँस जाने का दोष हो तो हमें अपने स्वभाव, परिस्थितियाँ, रुचि, अरुचि आदि को ध्यान में रखकर उपचार ढूँढना चाहिए। अपने किसी स्वजन या बालक में यह दोष हो तो उसकी प्रवृत्तियों पर ध्यान देना चाहिए। प्रभावशाली उपचार के लिए ऐसा करना जरूरी है। कुछ व्यक्ति पुराने से पुराने व्यसन को भी एक ही निश्चय के द्वारा छोड़ देते हैं और उनमें से कुछ उसी सरलता के साथ दुबारा फँस जाते हैं। जब कि कुछ व्यसन स्वीकार करने तथा छोड़ने में धीमें होते हैं। हमारी प्रकृति कैसी है, यह विचार करना चाहिए।

तीसरी बात है उस उपचार को व्यवहार में लाने की। हमारे जीवन में ऐसी बातें तो बहुत अधिक रहती हैं जिन्हें हम जानते हैं किन्तु करते नहीं। इस दृष्टि से तीसरी बात का बहुत अधिक महत्व है। फिर भी यह समझ लेना चाहिए कि ऊपर लिखे अनुसार यदि दोष को ठीक ठीक समझ लिया जाय और उसका उपचार ढूंढ लिया जाय तो व्यवहार की क्रिया अपेक्षाकृत सरल हो जाती है। किसी बात को प्रयोग में लाने के लिए दृढ़ मनोबल की आवश्यकता है। किसी बात को जानने तथा उसका अनुशीलन करने से मनोबल को सहायता मिलती है। वास्तव में देखा जाय तो मनोबल का मूल सम्यग्ज्ञान है। हम लोग स्वजन के लिए जितना त्याग करने के लिए तैयार रहते हैं उतना उसके लिए नहीं करते जिसे पराया मानते हैं। इसका मूल कारण ममता का बल है। उस ममता का कारण स्वजन और परजन का ज्ञान है। सामान्य व्यवहार में जब कोई अपरिचित व्यक्ति पूर्वपरिचित या सम्बन्धी निकल आता है तो कितना फरक पड़ जाता है। ज्ञान बल को प्रकट करता है। परन्तु यह ज्ञान आन्तरिक अर्थात् अपनी आत्मा से ही प्रकट होना चाहिए। परम्परागत मान्यताएँ, समाज की मर्यादाएँ या मन की क्षणिक तरंगें ज्ञान नहीं कही जा सकतीं।

दोष है या नहीं इस बात को जानने का सबसे अच्छा तरीका आत्मनिरीक्षण है। इसमें दूसरे का अवलोकन भी आ जाता है। दूसरा हमें दोषी समझता हो तो उसे ज्यों का त्यों मान लेने की आवश्यकता नहीं है। फिर उसके अन्तर में गहरे उतर कर छानबीन तो करनी ही चाहिए। हमें स्वयं जीवन में शान्ति तथा सफलता न मिलती हो तो समझना चाहिए कहीं न कहीं दोष है और उसकी खोज करनी चाहिए। भाग्य के भरोसे बैठे रहने से तो भाग्य भी निष्फल हो जाता है। भाग्य भी तो पूर्वकर्म अर्थात् भूतकाल के पुरुषार्थ का संचय है। इसलिए यदि वही कारण है तो उसे निवारण करने के उपाय भी ढूंढे जा सकते हैं। एक बार दोष को पहचान लिया, उसे स्पष्ट रूप में समझ लिया तो उससे मुक्त होने का उपाय भी सरलता से खोजा जा सकता है। और यदि उपाय का ठीक पता लग गया है तो उसे अमल में लाना भी अपने आप सरल हो जाएगा। किसी भी प्रकार के अपने अथवा पराए दोष को दूर करने के लिए जिस त्रिविध शक्ति की आवश्यकता है उसका व्रत समझकर तदनुसार मन की शक्तियों को घुमाया जाएगा तो जीवन के प्रवाह पर अपनी आन्तर शक्तियों का नियन्त्रण हो जाएगा इससे दोष मुक्ति की कठिन क्रिया भी रसमय बन जाएगी।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ऊपर लिखी त्रिविध शक्ति में सबसे कठिन और अत्यावश्यक दोष पहचानने की क्रिया है। दोष जानने का अर्थ है केवल बुद्धि से समझना नहीं बल्कि उसे अन्तस्थल से स्वीकार करना। जो व्यक्ति दोष को इस प्रकार स्वीकार कर लेगा वह उसे दूर करने का उपाय खोजे बिना चैन न लेगा। जिसमें दोष से मुक्त होने की यह बेचैनी आ जाएगी तो वह उस उपाय को अमल में लाए बिना नहीं रह सकता। साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है कि जानना आसान है और आचरण करना कठिन है किन्तु सचमुच में देखा जाय मन, बुद्धि तथा हृदय इन तीनों शक्तियों द्वारा जानना सबसे कठिन है। जिसको ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है उसके लिए क्रिया सरल बन जाती है।

—अनु० इन्द्र (अखण्डानन्द से)

नारी का स्थान घर है या बाहर ?

—श्री सत्यवती जैन

भारतीय इतिहास में समय-समय पर बड़े बड़े परिवर्तन हुए हैं। स्वतंत्रता मिलने के पश्चात भारत में प्रत्येक पदार्थ के रूप एवं मूल्य में बड़ा भारी परिवर्तन आ चुका है। शताब्दियों से शोषित नर-कंकालों को पुनः प्रगतिशील बनाने के लिए नाना प्रकार की योजनाएँ बनाई जा रही हैं, परन्तु नारी का जीवन अभी तक प्रगति-मार्ग से बहुत दूर है। उसके पुनरुत्थान के लिए समाज ने कोई रचनात्मक कार्य किया हो, अथवा नारी का अपना अस्तित्व चमका हो ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। इसी कारण पुरुषों द्वारा पददलित आज की नारी, यह सोचने के लिए विवश है कि उसका स्थान घर है या बाहर ? यह है एक प्रश्न ! जो आज की धर्म तथा कर्तव्य से पराङमुख नारी के हृदय को दहला रहा है।

नारी का स्थान घर है या बाहर ? देखने में यह प्रश्न कोई महत्त्वशाली प्रश्न नहीं है। अञ्जना, चन्दना, धारनी, सुभद्रा, पद्मनी आदि अतीत की वीरांगनाओं ने ऐसे-ऐसे तुच्छ प्रश्नों का समाधान, अपने बलिदान द्वारा नारी जाति का मस्तिष्क ऊँचा कर दिया, परन्तु आज की नारी ! त्याग और संयम की महान शक्ति को भूलकर अपना निजी स्थान, निर्धारित करने के लिए व्याकुल हो रही है, यही उसके पतन का मूल कारण है।

नारी का वास्तविक स्थान, घर है। वह गृह लक्ष्मी है। सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा, यह उसकी अतिशय हैं अर्थात् जब उसकी सुकोमल उंगलियां वीणा के तारों पर नाचने लगती हैं तो वह साक्षात सरस्वती का रूप होती है, जब वह पुरुष का पल्ला पकड़ लेती है तो लक्ष्मी, और जब तलवार हाथ में लेकर राक्षसों का विध्वंस करने अर्थात् अपने अधिकारों की रक्षा के लिए रण-क्षेत्र में उतर आती है तो वह दुर्गा का रूप होती है।

रण-क्षेत्र में उतरने से उसका वास्तविक स्थान, बदल नहीं जाता। उसका प्रत्येक कार्य स्वगृह को मंगल-मय बनाने के लिए ही होता है। उसी के लिए वह ग्राम, नगर तथा राष्ट्र धर्म का प्रतिपालन करती हुई गृहलक्ष्मी कहलाती है, नारी का वास्तविक स्थान ! घर है बाहर नहीं।
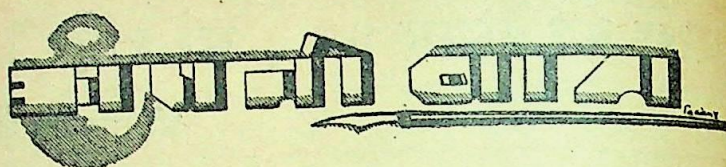
महावीर जयन्ती

आगामी चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, ता० १५ एप्रिल को भगवान् महावीर की २५५२ वीं जन्मतिथि आ रही है। जिस महापुरुष ने संसार को विश्वबन्धुत्व, निर्भयता तथा अहिंसा का उपदेश दिया, अपने जीवन द्वारा उसका आदर्श उपस्थित किया, उसके जन्मदिन पर हर्ष प्रकट करना प्रत्येक विश्व-हित-चिन्तक के लिए स्वाभाविक है। आज के दिन सारे भारत में जैन समाज द्वारा जयन्ती समारोह मनाया जाएगा और भगवान् महावीर के गुण गाए जाएँगे।

किन्तु इतने मात्र से महावीर के प्रति हमारा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता। महापुरुषों का व्यक्तित्व हाड़ मांस के बने शरीर में नहीं होता। उनका व्यक्तित्व उनके सन्देश में होता है। इस रूप में देखा जाय तो महावीर का अर्थ त्रिशलानन्दन नहीं है। महावीर का अर्थ है विश्वबन्धुत्व, अहिंसा, संयम और तप। महावीर जयन्ती का अर्थ है विश्वबन्धुत्व, अहिंसा, संयम और तप की जयन्ती। प्रत्येक महावीर जयन्ती पर हमें यह देखना चाहिए कि विश्वबन्धुत्व के क्षेत्र में हम कितने आगे बढ़े हैं। इसके साथ यह जानना भी आवश्यक है कि विश्वबन्धुत्व का पाठ पड़ोसी के साथ प्रेम से आरम्भ होता है। जो व्यक्ति अपने पड़ोसी के साथ प्रेम नहीं कर सकता, उसके सुख दुख में हिस्सा नहीं बँटा सकता उसके लिए 'मित्ती मे सव्वभएसु' का पाठ बेकार है। जो बहिन अपने घर की तथा पड़ोस की दूसरी बहिनों से प्रेम करना नहीं जानती, जो बहू अपनी सास तथा जो सास अपनी बहू से मधुर सम्बन्ध नहीं रख सकती उसके लिए चौरासी लाख जीवयोनि से मित्रता की बात व्यर्थ है। जो साधु दूसरी सम्प्रदाय के साधुओं के साथ सद्भावना नहीं रख सकता, जिसमें अहंकार और दम्भ बोल रहे हैं, वह महावीर का आराधक नहीं हो सकता। महावीर जयन्ती का अर्थ है हम सरल हृदय से अपने पड़ोसी को, अपने साथी को, अपने साधर्मी को, अपने आश्रित को गले लगाना सीखें।

महावीर की जयन्ती का दूसरा अर्थ है निर्भयता की जयन्ती। सम्प्रदाय या व्यक्ति की मिथ्या प्रतिष्ठा के लिए हमें इतना भय लगा रहता है कि पद

पद पर दम्भ को अपनाना पड़ता है। जिस प्रतिष्ठा के लिए दम्भ का आश्रय लेना पड़े, वास्तव में देखा जाय तो वह प्रतिष्ठा नहीं है। साधु की सब से बड़ी प्रतिष्ठा सरलता है, निरभिमानता है, निरहंकार है। महावीर जयन्ती पर हमें आत्मनिरीक्षण करके सोचना है कि निर्भयता के पथ पर हम कितने बढ़े हैं। जब तक दम्भवृत्ति रहेगी निर्भयता नहीं आ सकती। इसके लिए सरलता को जीवन में उतारना अत्यन्त आवश्यक है।

हम चाहते हैं, महावीर का सन्देश देश तथा विदेश में फैले। युद्ध की विभीषिका से सन्तप्त मानवता उनके पथ पर चल कर सुखी बने। किन्तु दूसरों को उस पथ पर चलाने के लिए पहले स्वयं उस पथ पर चल कर दिखाना होगा। सिद्धातों को व्यवहार में उतार कर दिखाए बिना उनका कोई मूल्य नहीं होता।

अहिंसा का मूल्य तभी बढ़ा जब महात्मा गांधी ने उसे जीवन में उतार कर दिखाया।

महावीर के सिद्धान्तों का महत्व तभी प्रकट होगा जब महावीर के अनुयायी उन्हें जीवन में उतार कर दिखाएंगे। जब संसार को यह पता लगेगा कि महावीर को मानने वाले दूसरों की अपेक्षा चरित्र में ऊँचे हैं, उनमें मानवता का परिमाण कुछ अधिक है तो वह अपने आप इस ओर झुकेगा।

श्रमण संघ और सौराष्ट्र के मुनिराज

स्थानकवासी समाज में श्रमण संघ बने लगभग दो वर्ष होने आए हैं। किन्तु यह लिखते हुए खेद होता है कि कुछ साधु अब भी उसमें सम्मिलित होते हिचकिचा रहे हैं। साधु समाज की ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र सम्बन्धी उन्नति के लिए एक श्रमणसंघ कितना उपयोगी है यह बताने की आवश्यकता नहीं है। उसकी उपयोगिता के विषय में किसी भी समझदार का मतभेद नहीं हो सकता। फिर भी उसमें सम्मिलित न होना और समाज संगठन में रोड़े अटकाना उचित नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न सौराष्ट्र की लीम्बडी सम्प्रदाय का है। यह सम्प्रदाय सौराष्ट्र में काफी प्रभाव रखता है। इसके अनुयायिओं की संख्या भी पर्याप्त है। नानचन्द्र जी महाराज सरीखे विद्वान् इसके अग्रणी हैं।

सुना जाता है, नानचन्द्र जी महाराज वृद्धावस्था के कारण पालकी, बिजली तथा कुछ ऐसी सुविधाओं को काम में लाते हैं जो स्थानकवासी साधु की मर्यादा मे नहीं हैं। सम्भव है उनके सम्मिलित न होने का मुख्य कारण यही हो। यदि यही बात है तो उसके लिए नानचन्द जी महाराज को स्पष्ट रूप से सामने आ जाना चाहिए। उन्हें कह देना चाहिए कि मैं सम्मिलित होने के लिए तैयार हूँ किन्तु उपरोक्त सुविधाओं को छोड़ना मेरी शक्ति के बाहर है। यदि श्रमण संघ उन सुविधाओं को स्वीकार नहीं करता तो वे अपने किसी शिष्य पर सम्प्रदाय का भार देकर स्वयं अलग हो जायँ। कम से कम अपने शिष्यों तथा अनुयायिओं से प्रेरणा करें कि वे श्रमण संघ के अनुशासन में सम्मिलित हो जायँ।

जहाँ तक नानचन्द जी महाराज का प्रश्न है उन्हें श्रमण संघ के साथ सैद्धान्तिक कोई विरोध नहीं है। वे स्थानकवासी समाज के हित चिन्तक हैं, यह सभी मानते हैं। जब उनकी भावना ठीक है तो कोई न कोई रास्ता निकलना ही चाहिए।

उनके अलग रहने से बहुत से ऐसे साधुओं को अलग रहने और अपने शैथिल्य को ढकने का बहाना मिल जाता है।

आशा है नानचन्द जी महाराज तथा उनके अनुयायी समाज-संगठन को दृढ़ करने के लिए योग्य रास्ता निकालेंगे। भगवान् महावीर के अनुयायिओं के लिए यह एक चुनौती है। अगर हम अपने मामूली मतभेदों को भी नहीं मिटा सकते तो अहिंसा, स्याद्वाद तथा विश्व शान्ति की बातें व्यर्थ हैं।

ललितपुर दिगम्बर जैन समाज का शुभनिश्चय

जैन-समाज में शिक्षा, साहित्य निर्माण या ऐसे ही किसी अन्य उपयोगी कार्य का प्रश्न आता है तो रुपए का अभाव आगे आ खड़ा होता है। हमारी संस्थाएं, वे साहित्य-संस्थाएं हों या शिक्षण संस्थाएं, अत्यन्त दरिद्र अवस्था में चल रही है। दूसरी ओर मन्दिरों में लाखों करोड़ों रुपए जमा हैं। यह सम्पत्ति प्रतिवर्ष बढ़ती ही जाती है। मन्दिरों के लिए ऊँचे ऊँचे भवन हैं, सोने तथा चाँदी के छत्र हैं, रत्न जटित सिंहासन हैं, हीरे तथा पन्नों के हार एवं मुकुट हैं। जहाँ रुपए की आवश्यकता है वहाँ अभाव है। जहाँ आवश्यकता नहीं है वहाँ अपार संचय हो रहा है। इस प्रकार सम्पन्न समाज भी उपयोगिता की दृष्टि से दरिद्र बना हुआ है।

समझदार वर्ग इस बात का चिरकाल से अनुभव कर रहा है कि मन्दिरों में संचित धन को शिक्षा एवं समाज हित के कार्यों में लगा देना चाहिए। किन्तु दूसरी ओर ऐसा वर्ग भी है जो उस धन को देवद्रव्य कहता है और चाहता है कि वह और किसी कार्य में न लगे।

ललितपुर के दिगम्बर समाज ने यह निर्णय किया है कि मन्दिर की सम्पत्ति का साठ प्रतिशत शिक्षा एवं साहित्य-निर्माण में लगा दिया जाय। प्रत्येक विद्वान् एवं समाज का सच्चा हितैषी इस निर्णय का स्वागत करेगा। हम आशा करते हैं, आनन्द जी कल्याण जी सरीखी मोटी पीढ़ियाँ तथा मन्दिरों के अन्य ट्रस्ट भी इस आदर्श पर ध्यान देंगे।

राजकीय गतिविधि से यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि अब धन को कहीं संचित नहीं रहने दिया जायगा। मन्दिरों की सम्पत्ति सरकार की दृष्टि से नहीं बच सकती। यह कठोर सत्य है। ऐसी दशा में समझदारी यही है कि उसे समय रहते समाज हित के कार्यों में लगा दिया जाय।

आस्तिक या नास्तिक

एक बार गांधी जी ने कहा—जवाहरलाल नेहरू आस्तिक है। दादा धर्माधिकारी ने पूछा—"आप उन्हें आस्तिक किस आधार पर कहते हैं?" गांधी जी ने कहा—"इसके लिए विनोबा से पूछना।"

दादा साहेब ने विनोबा जी से पूछा। विनोबा जी ने उत्तर दिया—तुम नहीं समझते हो। इसमें सीता-कौशल्या न्याय लागू होता है।

कौशल्या रोज राम राम रटा करती थीं। मेरा बेटा, मेरा प्यारा, मेरा दुलारा आदि कह कह कर पुकारा करती थी। किन्तु सीता ने कभी राम का नाम नहीं लिया। एक बार वनवास के समय भीलनियों ने सीता से पूछा—"वे श्याम शरीर वाले सुन्दर युवक तुम्हारे कौन हैं?"

सीता कुछ न बोली। सिर नीचा किए देखती रही। भीलनियाँ समझ गईं कि वे सीता के पति हैं। उसके सर्वस्व हैं। जीवन में, मानवता में श्रद्धा का नाम ही आस्तिकता है। उसे बोलना जरूरी नहीं है।

भगवान महावीर

परिचय

उत्तर बिहार में मुजफ्फरपुर जिले की हाजीपुर तहसील में आज कल जहाँपर 'बसाढ़' नामका छोटा सा गाँव है; वहाँ पर आज से २५०० वर्ष पहले विदेह देश की 'वैशाली' नाम की विशाल नगरी थी। महाराज चेटक वैशाली की गणराज व्यवस्था के अधिपति थे। वैशाली के पश्चिम में बहने वाली गण्डक नदी के पश्चिमी किनारे पर क्षत्रियकुण्ड वैशाली का ही एक सुन्दर उपनगर या शाखापुर था। जिसमें ज्ञातृक्षत्रियों—जो आजकल जथरिया कहलाते हैं—के ५०० घर थे। उत्तराध्ययन के छठे अध्ययन में भगवान महावीर को "नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए" अर्थात् ज्ञातृपुत्र भगवान् वैशाली के रहने वाले थे—ऐसा कहा है। भगवान के पिता सिद्धार्थ महाराज क्षत्रियकुण्ड की गणराज व्यवस्था के प्रधान शासक थे, उनकी माता रानी त्रिशला वैशाली के अधिपति महाराज चेटक की बहन थीं। ये दोनों माता पिता श्री पार्श्वनाथ की श्रमण परंपरा के श्रावक थे। इसीलिए ज्ञातृ-क्षत्रिय भी कहलाते थे।

भगवान का जन्म का नाम वर्धमान था। कष्टों व कठिनाइयों से बिल्कुल नहीं घबड़ाते थे और थे भी बड़े निर्भीक। इसीलिए बाद में महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए। आप ज्ञातृपुत्र भी कहलाते थे। आपके बड़े भाई का नाम नन्दिवर्धन था, और बहन का नाम था सुदर्शना।

श्रमण-जीवन

तीस साल की अवस्था में भगवान ने श्रमण दीक्षा ली। लगातार १२ वर्ष तक कठोर तपस्या व साधना करके ४२ वर्ष की अवस्था में चम्पा (भागलपुर) के आस-पास जंभियग्राम के समीप ऋजुवालुका नदी के उत्तर तट पर स्थित सालवृक्ष के नीचे वैशाख-शुक्ला दशमी के दिन भगवान ने केवलज्ञान प्राप्त किया। और कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ के शब्दों में—"महावीर ने भारत वर्ष को ऊँचे स्वर से मोक्ष का संदेश दिया और कहा कि धर्म केवल सामाजिक रूढ़ि नहीं है, बल्कि वास्तविक सत्य है। मोक्ष केवल सांप्रदायिक बाह्य क्रिया-कांड से नहीं मिल सकता, बल्कि सत्य धर्म के स्वरूप का आश्रय लेने से मिलता है। धर्म मनुष्य–मनुष्य के बीच रहने वाले भेदभाव को नहीं मानता।

कहते हुए आश्चर्य होता है कि महावीर की इस शिक्षा ने समाज के हृदय में जड़ जमाकर पूर्व संस्कारों से बैठी हुई भावनाओं को बहुत शीघ्र नेस्तनाबूद कर सारे देश को वशीभूत कर लिया। महावीर के पश्चात् बहुत काल तक क्षत्रिय लोगों के उपदेश के प्रभाव से ब्राह्मणों की सत्ता दबी रही।" यह था भगवान महावीर का मानव जाति के लिए संदेश।

महावीर का धर्म—

भगवान महावीर ने अहिंसा, संयम और तप को ही धर्म कहा है। अहिंसा का अर्थ जहां सूक्ष्म-स्थूल सभी प्रकार के जीवों की मन, वचन, और काय से किसी तरह की भी हिंसा न करना, न कराना और न अनुमोदन करना (अच्छा समझना) है, वहाँ इसका अर्थ सर्वोदय भी है। सबका उदय हो, सभी का कल्याण हो—अहिंसा का यह अन्तिम प्रयोजन है। अनेकान्त व स्याद्वाद भी अहिंसामयी समन्वय की भावना के सुन्दर फल हैं। हिंसा में कभी धर्म नहीं हो सकता यह भगवान का सुनिश्चित मत था। जिसमें किसी तरह के अपवाद की गुंजाइश नहीं है। जीवन निर्वाह आदि के लिए भी जो हिंसा होती है, वह अनिवार्य है, विवशता है, कमजोरी है। उसका समर्थन भी नहीं किया जा सकता। धर्म तो अहिंसा ही है। और यही महावीर के धर्म का मूल आधार है, इसमें संदेह नहीं। संयम—अपने आ[illegible] पर नियंत्रण रखने की साधना और तप बड़े से बड़े कष्ट को सहन करने के लिए सर्वदा तैयार रहने को कहते हैं। ये दोनों ही अहिंसा की पालना के लिए आवश्यक अंग समझने चाहिए। या यों कह सकते हैं कि संयम और तप की सधना के बिना अहिंसा का पालन हो नहीं सकता। इसीलिए संयम और तप की यह महत्ता है। महावीर का धर्म यही है कि—

सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न ह[illegible] अज्जावेयव्वा, न परिघेत्तव्वा, न परियावेयव्वा, उद्दवेयव्वा। धम्मे सुद्धे, नितिए, सासए, समेच्च लोगंखेयन्नेहिं पवेइए।

किसी प्राणी, किसी भूत, किसी जीव, किसी सत्त्व को न मारना चाहिए, न सताना चाहिए, न कैद करना चाहिए, न कष्ट पहुँचाना चाहिए, न डराना ही चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है, अनुभवी व्यक्तियों द्वारा संसार का स्वरूप समझ कर बताया गया है।

—कृष्णचद्राचार्य

महावीर-जयन्ती

इसी अप्रैल की १५ ता० को चैत्र शुक्ला १३ पड़ रही है। तदनुसार ३ वैशाख, विक्रम संवत् २०११ गुरुवार को अहिंसा और शान्ति के अवतार भगवान महावीर का जन्म दिवस है। ऐसे अवसर को स्मरण करने व उसे समारोह पूर्वक मनाने का अर्थ है कि हम उस महापुरुष के कल्याण पथ को हितकर समझते हैं और यथाशक्ति उसपर चलने की प्रतिज्ञा करते हैं। समन्तभद्र के शब्दों में—"सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव" सारी आपदाओं का इलाज ही भगवान का सर्वोदय तीर्थ है। जिसमें कि सर्वोदय-सब के उदय-सबकी भलाई का उपदेश दिया गया है। आज विज्ञान की राक्षसी शक्ति के साथ खिलवाड़ करने वाली मानव जाति के बचाव का एकमात्र उपाय भगवान महावीर और महात्मा गांधी का यही अहिंसामय सर्वोदय तीर्थ रह गया है। इसलिए इस अवसर पर सब तक भगवान के संदेश को पहुँचाने की जरूरत है।

पंजाब जैन भ्रातृसभा बम्बई का नया चुनाव

पदाधिकारी

श्री शादीलाल जैन—	सभापति
श्री नवलचन्द अभयचन्द मेहता —	उपसभापति
[illegible]ी अमृतलाल जैन—	संमान्य मंत्री
श्री बंसीलाल जैन—	संयुक्त मंत्री
श्री शादीलाल जैन, बी. ए. एल. एल. बी.	खजांची

प्रबन्ध समिति के सदस्य

श्री मेहर चन्द जैन

[illegible] वन्द जैन

वर्ष त[illegible] राज जैन

पुर) [illegible]हर लाल जैन, बी० कॉम०

स्थि[illegible] डिटर

श्री विजय कुमार जैन, बी० कॉम०

निवेदक—

अमृत लाल जैन,

मंत्री

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस. बनारस—५

श्रमण
सम्पादक
डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम.ए., पी-एच. डी.
अंक
७
पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

इस अंक में—

[illegible]मण' के विषय में—

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाए जाते हैं।
३. श्रमण में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता।
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें।
५. [illegible]व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।
६. वार्षिक मूल्य मनिआर्डर से भेजना ठीक होगा।
७. समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—कृष्णचन्द्राचार्य,

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ५ मई १९५४ अंक ७

हमारा क्रान्ति का वारसा

–पं बेचरदास दोशी

इस बात का सभी अनुभव करते हैं कि मानवी वृत्तियों के प्रवाह अधिकतर अनुस्रोतगामी होते हैं। अर्थात् साधारणतया लोग लकीर पर चलना पसन्द करते हैं। किन्तु कुछ प्रवाह प्रतिस्रोतगामी अर्थात् लकीर छोड़ कर चलने वाले भी होते हैं। ध्यानपूर्वक देखें तो पता चलेगा कि जो प्रवाह आज अनुस्रोतगामी प्रतीत होते हैं वे किसी समय प्रतिस्रोतगामी ही थे। अनुकूलता को ही सुख समझ कर जीवन बिताने वाले मनुष्य का प्रतिस्रोतगामी प्रवाह भी अनुस्रोतगामी बन जाता है। एक साधारण व्यक्ति प्रवाह के विरुद्ध कब तक तैर सकता है ? अभी कल की ही बात है हमारी राष्ट्रीय सभा ने गांधी जी के नेतृत्व में प्रवाह के विरुद्ध तैरने का संघर्ष किया था किन्तु आज वही संस्था अनुस्रोतगामी बन गई है।

मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है, यह ठीक है किन्तु जब वह अपनी सुखाङ्गी अनुकूलता के पीछे पड़ जाता है तो वही इतना निकृष्ट हो जाता है कि उसके समान दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। अपना सारा जीवन क्रान्तिमय है। बालक जब से चलना सीखता है, तभी से क्रान्ति का पथिक बन जाता है। गति कहिए, क्रान्ति कहिए, उत्थान कहिए या प्रतिस्रोतगामी वृत्ति कहिए, सभी का अर्थ एक ही है।

आजकल हमारा अधिक भाग अनुस्रोतगामी बना हुआ है। आदिगुरु तीर्थंकरों ने अपने जीवन द्वारा हमें क्रान्ति का जो वारसा दिया है, उस

वारसे को हम प्रतिदिन सुनते तो हैं किन्तु उसका प्रभाव जीवन पर कुछ नहीं पड़ रहा है। वह हमारे ऊपर तनिक भी असर नहीं कर रहा है। उसका सुनना एक आदत सी बन गई है। वास्तव में देखा जाय तो धर्म की प्रवृत्ति का अर्थ ही क्रान्ति है। धर्म शब्द के दूसरे चाहे जितने अर्थ होते हों किन्तु यहाँ उसका प्रयोग सामाजिक कर्तव्यनिष्ठा के अर्थ में किया गया है।

इतिहास की पहुँच से पहले के महामानव भगवान् ऋषभदेव के समय की लोकस्थिति को देखें तो मालूम पड़ेगा कि उत्कृष्ट त्याग के पुरस्कर्ता उस आदिनाथ की वाणी और प्रवृत्ति में असाधारण क्रान्ति थी।

उस आदिनाथ के दृढ़ अनुयायी कहलाने वाले हमारे वर्तमान समाज में क्या ऐसा एक भी पुरुष है जो यह स्पष्ट कहने की हिम्मत रखता हो कि—खेती करो, रसोई ऐसे बननी चाहिए, कन्दमूल को ऐसे पकाना चाहिए, मिट्टी के बरतनों को ऐसे पकाना चाहिए, इस प्रकार कातना चाहिए और इस प्रकार कपड़ा बुनना चाहिए। उन्होंने इस प्रकार की प्रवृत्तियों का उपदेश दिया, यह एक क्रान्ति थी। गांधी जी जो प्रवृत्ति कर गए, विनोवा जी जिस प्रवृत्ति का बोझ टूटे हुए शरीर से भी उठा रहे हैं यह वही प्रवृत्ति है है जिसे भगवान् ऋषभदेव ने प्रारम्भ किया। देश, काल और परिस्थिति की भिन्नता के कारण उस परिस्थिति में थोड़ी भिन्नता दिखाई देगी किन्तु मूल वस्तु में कोई भेद नहीं है। पर्याय भेद होने पर भी द्रव्य में कोई भेद नहीं है। ऋषभदेव के समय भूमि पर सबका आधिपत्य था किन्तु लोगों को खेती करना, पकाना तथा जीवन की दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति करना न आता था। आज कल लोगों से जमीन छिन गई है और हमारे करोड़ों भाई भूमिहीन बने हुए हैं। उनको थोड़ी थोड़ी जमीन मिल जाय और उसके द्वारा वे अपना निर्वाह करने लायक बन जायँ यही विनोबा जी का लक्ष्य है। वस्तुस्थिति दोनों कालों की समान है। ऋषभदेव को पूजने वाले, उनकी जय के नारे लगाने वाले यह बिल्कुल भूल गए हैं कि उस महामानव ने क्या सन्देश दिया था। वास्तवमें देखा जाय तो विनोबा जी की प्रवृत्ति का भार ऋषभदेव के अनुयायिओं को उठा लेना चाहिए। उनकी माँग पूरी करने के लिए तनतोड़ परिश्रम करके भगवान् ऋषभदेव के प्रति सच्ची भक्ति बतानी चाहिए। जैनधर्म का सच्चा प्रभाव बताने—अहिंसा धर्म का प्रचार करने का यह उत्तम अवसर है। गांधी जी के समय भी हमें ऐसा अवसर मिला था किन्तु जैन समाज ने उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उस समय ऐसा बर्ताव किया

जिससे जैनधर्म की प्रभावना के बदले अवहेलना हो। उस अवहेलना को धो डालने का यह अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है। क्या अब भी हम नहीं जागेंगे ?

यह तो बीच में दूसरी बात हो गई। किन्तु हम इतना तो समझ सकते हैं कि भगवान् ऋषभदेव का लक्ष्य व्यक्तिगत अनुकूलता का होता तो वे अपना जीवन बड़े आराम और सुख से बिता सकते थे। किन्तु उनके हृदय में सक्रिय अहिंसा का प्रवाह तरंगित हो रहा था। उनके रोम रोम में सामाजिक कर्तव्यनिष्ठा भरी हुई थी। उन्होंने देखा कि समाज खेती किए बिना या रसोई बनाए बिना जीवित नहीं रह सकता। 'मित्ती मे सव्व भूएसु' (सब प्राणियों से मेरी मित्रता है) की दृष्टि ने ही उन्हें प्रतिस्रोतगामी बनाया। वे यह बात जानते थे कि मनुष्य जब तक आजीविका के लिए निश्चिन्त नहीं होता उसे धर्म या सदाचार की बातें कहना व्यर्थ है। संयमी जीवन बिताने वालों को भी भोजन, वस्त्र तथा किसी न किसी प्रकार के निवास की आवश्यकता रहती ही है। इसलिए भोजन वस्त्र आदि को प्राप्त करने के लिए वह जो प्रवृत्तियाँ करता है वे भी संयम का ही एक अंग हैं। किन्तु साथ ही साथ उन्होंने जनता का ध्यान इस ओर भी खींचा कि वे प्रवृत्तियाँ निर्वाह मात्र के लिए ही होनी चाहिए। उनमें अतिरेक होते ही दूसरे की आजीविका में बाधा खड़ी हो जाती है। उससे समाज का नाश होता है। भगवान ने साफ साफ कहा है—

> जयं चरे जयं चिट्ठे जयं आसे जयं सए।
> जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई ॥

'संयमपूर्वक चलो, संयमपूर्वक रहो, संयमपूर्वक बैठो, संयमपूर्वक सोओ, संयमपूर्वक खाओ, तथा संयमपूर्वक बोलो, इससे पापकर्म का बन्ध नहीं होता।'

(दशवैकालिक, अध्य० ८)

उपरोक्त बात मानवमात्र पर लागू होती है। मानव जीवन के धारण तथा भरण पोषण के लिए साधन सभी को सुलभ होने चाहिए। इसके बिना समाज जीवन का नाश हो जाता है और समाज जीवन नाश तथा धर्म के आधार का नाश एक ही बात है।

ऊपर कही हुई बात अत्यन्त प्राचीन समय की है। उसके बाद हमारे सामने भगवान् नेमिनाथ उपस्थित होते हैं। वे यादव वंश के राजकुमार थे। उनके समय में क्षत्रिय आदि उत्तम वर्ग के लोग प्राणिवध को वर्जित नहीं मानते थे। विशेष उत्सव या विवाह के समय जानकर प्राणिवध करते थे। शराब

पीते थे तथा दूसरी भी अनेक प्रकार की कुप्रथाओं को मानते थे। भगवान् के मन में यह बात बहुत अखर रही थी। जब स्वयं विवाह के लिए निकले तो मार्ग में अनेक पशु पक्षियों को पिंजरे में बन्द देखा। पूछने पर मालूम पड़ा कि उन्हीं के स्वागत में कतल करने के लिए वे इकट्ठे किए गए थे। हृदय द्रवित हो उठा। विरोध पराकाष्ठा को पहुँच गया। उन्होंने विवाह-समारंभ को ही लात मार दी। वहीं से वापिस हो गए। जिस प्रवृत्ति को कर्मवीर कृष्ण भी नहीं अटका सके उसी को उन्होंने विलासी जीवन का त्याग करके अटका दिया। क्या वह मामूली क्रान्ति है।

अब भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन लें। वे काशीराज अश्वसेन के पुत्र थे। उस समय सारे मगध में तथा बिहार में निर्जीव क्रियाकांड की धूम थी। धर्म के नाम पर हिंसा, असत्य तथा दुराचार फैल रहे थे। धर्म के नाम पर शरीर कष्ट भोगने वाले बहुत आदर पाते थे। भाले के समान लोहे की नुकीली कील पर सो जाना, एक ही पैर से खड़े रहना, हाथों को ऊँचे किए रहना मुँह को लकड़ी की पट्टी से बाँधे रखना, चारों ओर आग सुलगा कर बीच में बैठे रहना, शंख फूँकते रहना, चारों दिशाओं में घूम घूम कर स्नान करते रहना आदि विविध क्रियाकाण्ड धर्म के नाम पर ब्राह्मण तथा क्षत्रियों में फैले हुए थे। साधारण लोग इन काय क्लेशों को देखकर झुक जाते और झुण्ड के झुण्ड उनके अनुयायी बन जाते। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय परिव्राजकों का बड़े बड़े सेठ साहूकार तथा राजा महाराजाओं में विशेष स्थान था। कमठ तापस की कथा इस बात का समर्थन करती हैं। जब पार्श्वनाथ कमठ को थोथे काय क्लेश की निष्फलता समझाते हैं तो वह स्पष्ट उत्तर देता है कि धर्म के क्षेत्र में राजाओं का अधिकार नहीं है। वे तो शिकार खेलना जानते हैं। परम्परा से प्राप्त यह छोटा सा संवाद तापसों की प्रबलता को प्रकट करता है। किसी का साहस नहीं होता था कि तापसों की चर्या के विषय में चर्चा कर सके। उस समय पार्श्वकुमार ने धर्म का सच्चा स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया। स्वयं तपस्या के साथ निर्मल जीवन बिताकर एक आदर्श उपस्थित किया। यह क्रान्ति नहीं तो और क्या है?

इसके बाद हम श्रमण भगवान् महावीर का जीवन देखें। उन्हे वारसे में पार्श्वनाथ की परम्परा प्राप्त हुई थी। पार्श्वनाथ के समय प्रतिस्रोतगामी होने पर भी महावीर के समय वह अनुस्रोतगामी बन गई थी। आगमों में इन दोनों परम्पराओं के विषय में जो बिखरी हुई सामग्री मिलती है, उस आधार पर यह कहा जा सकता है। पार्श्वनाथ की परम्परा के साधकों में काफी शैथिल्य आ

गया था। शरीर को ढकने के लिए जीर्ण शीर्ष या सादे कपड़ों के स्थान पर वे विविध रंगों वाले सुन्दर वस्त्र धारण करने लग गए थे। आहार तथा निवास के लिए भी सदोष निर्दोष का विचार नहीं रह गया था। स्वाद के वश होकर संयम की साधना को दूषित करने लगे थे। साधक को संयम के निभावमात्र के लिए भोजन लेना चाहिए। उसमें भी राजपिंड (राजा के घर का भोजन वस्त्र, पात्र वगैरह) तो सर्वथा वर्जित है। इस परम्परा को तोड़ कर वे राजपिंड भी लेने लगे थे। चौथी बात यह है कि साधकों में अन्तर्निरीक्षण वृत्ति होनी ही चाहिए। इसलिए प्रातः और सायं अपने दोषों का गिरीक्षण करते रहना चाहिए। इस सर्व साधारण परम्परा को भी उन्होंने ढीली कर दिया तथा जब दोष लगे तथा अन्तर्निरीक्षण की बात करने लगे। पांचवी बात—सशक्त साधक को एक ही स्थान पर अधिक से अधिक एक महीना रहना चाहिए। उसे चाहिए कि गाँव गाँव घूमता हुआ अपनी साधना के साथ साथ जनता को भी धर्म का मार्ग बताए। सिर्फ चौमासे के चार महीने एक जगह रहना आवश्यक था। इस नियम को भी उन्होंने ढीला कर दिया। बरसों तक वे एक ही स्थान पर रहने लगे। यह बात निश्चित रूप से संयम मार्ग से च्युत करने वाली सिद्ध हुई। छठी बात—पार्श्वनाथ की परम्परा में अहिंसा, सत्य, अचौर्य तथा बहिर्द्धादान इस प्रकार चार व्रत थे। चौथे व्रत में स्त्री का त्याग भी आ जाता हैं, ऐसा माना जाता था। ब्रह्मचर्य का व्रत अलग रखने की जरूरत नहीं समझी गई। किन्तु कुछ अनुयायियों ने इसका अर्थ उल्टा करना प्रारंभ किया। दुराचार के मार्ग पर चलते हुए भी वे अपने को अपरिग्रही मानने लगे। सूत्रकृतांग, तीसरे अध्ययन के चौथे उद्देश्य में यह बात विशेष रूप से बताई है। उसमें कहा है—स्त्री के अधीन बने हुए अज्ञानी तथा जैन शासन से पराङ्मुख बहुत से अनार्य पासत्थे इस प्रकार कहते हैं कि "जिस प्रकार फोड़े की पीप निकाल देने से पीड़ित को थोड़ा सा सुख मिल जाता है, इसी प्रकार यदि कोई स्त्री भोग के लिए स्वयं प्रार्थना करे तो उसे तृप्त करने में कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार बकरा तालाब के पानी को क्षुब्ध किए बिना धीरे धीरे पानी पी लेता है, अथवा जिस प्रकार पिंग नाम का पक्षी आकाश में उड़ते उड़ते पानी पी लेता है, वह बकरा अथवा पक्षी किसी के लिए लेशमात्र भी असुविधा नहीं उत्पन्न करता, इसी प्रकार प्रार्थना करती हुई स्त्री के साथ सहवास करने में कुछ भी दोष नहीं है।" जिस प्रकार पूतना डाकण बालकों में लुब्ध होती है, इसी प्रकार कामभोगों में लुब्ध कुछ अनार्य पासत्थे ऊपर लिखे अनुसार कहते हैं।"

इन गाथाओं में टीकाकारों ने 'पासत्थाओ' शब्द का रूपान्तर 'पार्श्वस्था' किया है। इसका ऐतिहासिक अर्थ होता है पार्श्वनाथ की परम्परा में रहने वाले। यद्यपि टीकाकार ने यह अर्थ स्पष्ट शब्दों में नहीं दिया किन्तु "पार्श्वे तिष्ठन्ति इति पार्श्वस्थाः स्वयूथ्या वा पार्श्वस्थ अवसन्नकुशीलादयः स्त्रीपरिषत्पराजिताः" दिया है। 'स्वयूथ्याः' का अर्थ है अपनी परम्परा के, अर्थात् पार्श्वनाथ की परम्परा के, ऐसा अर्थ लिया जाय तो कोई विसंवाद नहीं रह जाता। क्योंकि टीकाकार ने 'स्वयूथ्याः' अर्थात् अपनी यूथ के, ऐसा अर्थ दिया ही है। इस प्रकार पासत्थे, अवसन्न, कुशील आदि साधक ऐसा मानने लगे थे कि यदि स्त्री सहवास के लिए प्रार्थना करे, तो उसका सहवास करने में क्या दोष है ? इसमें अपरिग्रह व्रत का भंग नहीं होता। क्योंकि ऐसा करने में कोई परिग्रह नहीं रखना पड़ता। दूसरी भी कोई उपाधि नहीं होती। सामने वाले को सुख मिलता है। अपने को शान्ति मिलती है। इस प्रकार की निर्दोष प्रवृत्ति में दोष कैसे हो सकता है ? इस प्रकार ब्रह्मचर्य सम्बन्धी शिथिलता अधिक भयङ्कर तथा समाज के व्यवस्थित आचार को तोड़ने वाली थी। वैसे तो संसार में अनाचार चलता ही रहता है किन्तु जब किसी प्रतिष्ठित संस्था की ओर से उस अनाचार को निर्दोष घोषित कर दिया जाता है उस समय प्रत्येक सदाचारी विचारक उसका विरोध करने के लिए खड़ा हो जाता है।

भगवान् महावीर के सामने पार्श्वनाथ की परम्परा में घुसी हुई ये सब शिथिलताएं ही एक मात्र समस्या न थी। उनके सामने जड़ क्रियाकाण्ड, गुलामप्रथा, क्षत्रियों की स्वच्छन्दता, ऊँच नीच का भेदभाव आदि मानव समाज से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रश्न थे। इन प्रश्नों के विषय में भी थोड़ा विचार करना चाहिए—

अपने आर्य देश में वेद प्राचीन से प्राचीन पुस्तक है। जैन आगमों में भी अनेक स्थानों पर उसका उल्लेख आता है। वेद का दूसरा अर्थ श्रुति है। जो विद्या परम्परा से चली आ रही हो उसका श्रुति नाम बिल्कुल ठीक बैठता है। हम भी अपने प्राचीन आगमों के लिए श्रुत शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं। वेदों में किसी परोक्ष शक्ति की कल्पना की गई है और उसे प्रसन्न करने के लिए विविध प्रकार के यज्ञों का वर्णन आता है। इन यज्ञों में वेद मन्त्रों के उच्चारण के साथ साथ गाय, घोड़े, पुरुष तथा दूसरी वस्तुओं का यज्ञ की वेदी में होम किया जाता था। इस हिंसा को धर्म तथा कल्याणकर माना जाता था। इस प्रकार की धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा समस्त

मगध, बिहार तथा बंगाल में फैली हुई थी। इस हिंसा का नाम था आलम्भ या आलम्भन। भगवान् महावीर ने हिंसा के लिए 'आरम्भ' शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा लगता है कि वैदिक शब्द 'आलम्भ' और उपरोक्त 'आरम्भ' एक ही वस्तु हैं। भगवान् ने अपने प्रवचन में आरम्भ न करने का बार बार कहा है। आचारांग सूत्र के प्रारम्भ में ही पृथ्वी का आरम्भ, पानी का आरम्भ, अग्नि का आरम्भ तथा दूसरे प्राणियों का आरम्भ न करने का बार बार कहा गया है। भिन्न भिन्न सूत्रों की टीका में टीकाकारों ने पृथ्वी आदि के आलम्भ से सम्बन्ध रखने वाले वेदमन्त्र उद्धृत किए हैं और उनका प्रतिवाद भी किया है। इससे यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि सूत्रों का झुकाव वैदिक आलम्भ की ओर है। सूत्रकृतांग के आठवें वीर्य अध्ययन की चौथी गाथा तो स्पष्ट शब्दों में कहती है—

"कुछ लोग प्राणियों के नाश के लिए शस्त्र विषयक शास्त्र अर्थात् धनुर्वेद का अभ्यास करते हैं और कुछ प्राण एवं भूतों का नाश करने वाले मन्त्रों को पढ़ते हैं। ये मन्त्र वेद की ऋचाओं के अतिरिक्त नहीं हैं। वेदों का गम्भीर अभ्यास करने वाले वर्तमान विद्वान् उस समय प्रचलित धर्म हिंसा को स्पष्ट रूप से स्वीकृत करते है। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में इन मन्त्रों के अर्थ बदलने का प्रयत्न किया है। यही बात वैदिक हिंसा के विधान का समर्थन करती है। गीता, दूसरे अध्ययन के श्लोक ४२ से ४५ में भगवान् कृष्ण ने स्वयं अर्जुन से वेदों की उपेक्षा करने के लिए कहा है। वे कहते हैं—हे अर्जुन! केवल वेदों के वाद में आनन्द लेने वाले, दूसरा कुछ नहीं है, ऐसा कहने वाले, कामना में लीन तथा स्पर्श को ही अन्तिम लक्ष्य मानने वाले मूर्ख लोग, जन्म तथा कर्म के फल को देने वाली अनेक क्रियाओं को मानने वाले, भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति को लक्ष्य करके ऊपर से मीठे लगने वाले अनेक वचन कहते हैं। इन बातों से अभिभूत मन वाले विषयासक्त लोगों को समाधि देने वाली निश्चयात्मक बुद्धि नहीं प्राप्त होती। हे अर्जुन! वेदो में सत्व, रज तथा तम इन तीन गुणों का वर्णन है। तुम इन तीनों गुणों से पर, सुखदुःख के द्वन्द्व से रहित, निरन्तर चित्तशुद्धि से युक्त तथा आत्मनिष्ठ बनो।"

यह बात भी वेदों में विहित हिंसाप्रधान काम्यप्रवृत्तियों को स्पष्ट बताती है। भगवान् महावीर ने धर्म मानी जाने वाली इस हिंसा—आलम्भ का प्रबल विरोध किया था।

(क्रमशः)

अनु०—इन्द्र

वीर ध्वनि

अतुल जीवन है महिमावान,
अतुल जीवन सुषमा की खान,
उठो उठो तुम वीर बनो,
जीवन के सन्ताप हरो।

पापों का तुम भार हरो सब,
शापों का तुम भार हरो,
अभय अभय का देकर दान,
कलह क्लेशों का त्रास हरो।

दुःख मेटो तुम दया दिखाकर
विष हरो तुम अमृत देकर
शोक घटाओ मोद बढ़ाओ
बुद्धि देकर, आशिस देकर

विनय सेवा से हृदय जीतो,
मैत्री का संचार करो,
भरो सभ्यता सब के उर में,
जीवन का कल्याण करो।

—जयभगवान जैन,
(एडवोकेट पानीपत)

सत्रहवीं सदी के एक कवि की नजर में-

जिन-धर्म का तमाशा

सं० श्री अगर चंद नाहटा

भगवान् महावीर की दीर्घ-दर्शिता के कारण ही जैन-शासन के साधुओं का आचार-विचार विश्व के समस्त साधु-समाज से उच्च एवं आदर्श रह सका है। समय-समय पर उसमें आचार सम्बन्धी कठोरता, शिथिलता एवं विकृतियाँ आना मानव के लिए सहज-गम्य हैं। जैन-संघ ने भी परिस्थितियों के अनेक उतार-चढ़ाव समय-समय पर देखे हैं, पर उसके सुधारकों ने विकृतियों को सुधारने का भी निरन्तर प्रयत्न चालू रखा। फलतः आज भी बहुत कुछ अंशों में वह अपने आदर्शों के समीप रह सका है।

आचार के साथ साथ विचारों में भी उतार-चढ़ाव आए, अनेकान्त जैसी विशाल एवं उदार दृष्टि जैन-धर्म के मूल में होने पर भी साम्प्रदायिकता और संकुचितता ने अपना पग पसारा किया, इससे दूसरे सम्प्रदायों व धर्मों से तो टक्कर चलती ही रही, पर अपने ही उपसम्प्रदायों में कम खण्डन मण्डन नहीं हुआ। छोटी छोटी बातों को लेकर एक दूसरे को हल्का दिखाने का प्रयत्न भी चालू हुआ। इसी आपसी वैर-विरोध और घर की फूट ने जैन-धर्म को कमजोर बना दिया। सम्राट चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्नों के अनुसार जैन-धर्म चालणीप्राय जर्जरित हो गया।

इसी अवस्था को १७ वीं शती के कवि ने मर्माहत होकर एक 'हमचडी' के छोटे गीत में चित्रित किया है।

इस गीत का रचयिता अन्तिम पंक्ति के अनुसार नाढा नामक कोई श्रावक है। हमारे संग्रह में सं० १६६९ में धर्मघोष गच्छ के वाणारस श्री वीरचंद शिष्य रामां के लिखित एक बृहत् संग्रह गुटके में यह रचना प्राप्त हुई है, जिसकी प्रतिलिपि आगे दी जा रही है। कविवर समयसुंदर के विचार फिर कभी कभी प्रकाशित किये जायँगे।

करीब २५ वर्ष पूर्व हमारी कोटड़ी में खरतर गच्छ के आचार्य जिन कृपाचन्द्र सूरि जी का चातुर्मास हुआ था, उनके प्रशिष्य बालमुनि मंगल विजय जी से हमने इस गीत की कुछ पंक्तियाँ सुनी, स्मरण है। २५ वर्ष बाद हमारे ही गुटके से उसे प्रकाशित किया जा रहा है, यह संयोग की ही बात समझिये। जब सुनी थी तब यह कल्पना नहीं थी कि यह हमचडी इतनी प्राचीन होगी। पर, अब जब १६६९ में लिखित इसकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई है, तो रचना सं० १६०० के आस पास की होनी संभव ज्ञात होती है।

आज के विचारकों के सामने जो समस्याएँ उपस्थित हैं, चार सौ वर्ष पहले के एक विचारक को उन समस्याओं ने वाणी प्रदान कर इस रचना के निर्माण की प्रेरणा दी है। कवि ने विनोदी भाषा का प्रयोग किया है, इसीसे जैनशासन की तत्कालीन विचारणीय स्थिति को उसने "जिन धर्म का तमाशा" बतलाते हुए सब का ध्यान उस ओर 'जोवो' शब्द द्वारा आकर्षित किया है।

आज भी जैन-संघ की लगभग वही हालत है। कवि ने कहा है कि एक ही घर में तीन तीन मते हैं, यह बड़ी "अचूंकी" बात है; बाप तपा है, बेटा खरतर और स्त्री लूंका गच्छ की अनुयायी (लूंकी) है। इसी तरह एक ही लूंका गच्छ में घर का एक व्यक्ति व्यक्ति गुजराती लूंका गच्छ को मानने वाला है तो दूसरा नागौरी गच्छ और तीसरा उतराधी पंथ। एक काजामती हैं, दूसरा बीजामती तो अन्य आंचलिया तो कोई पासचंदिया तो कोई कड़वामती। सभी अपनी अपनी खींचतान कर रहे हैं। किसकी वन्दना की जाय और किसकी निन्दा। जैनधर्म तो एक ही है, पर इस संकुचित खींचा-तानी ने उसे "तमाशा" बना दिया है। पहले के मुनि वनों में रहते और नीरस आहार लेते, पर आज चौहरे में वे चंचल नाटकिये की तरह घूमते हैं। कोई गर्म जल पीता है तो कोई (धोवण) छान कर ही प्रासुक मान लेता है और तीसरे कुलगुरु तो ठण्डा पानी ही पी लेते हैं। तीर्थंकरों का वचन गौण हो गया है, सभी को अपने मत-समर्थन की पड़ी है। अब तो इस परिस्थिति का सुधार होना ही चाहिए। रचना इस प्रकार है—

जोवो जिण धर्म तणउं तमासौ

हम चइयां हासो रे, जोओ जिण धर्म तणउं तमासौ ॥ टेक ॥

धो सौ सासण नितु समरीजई, सो मति निर्मल दीजै ।
चोथै काल साह जिणि पंथ चाले, गुण तिणरा गावीजै ॥ १ ॥

एक घरमंइ मति त्रिण मानीजई, ऐनी बात अचूंकी ।
बाप तपौ नई बेटो खरतर, बाहर घरमंइ लूंकी ॥ २ ॥

इक गुजराती इक नागौरी, उतराधी पंथ आधो ।
पास कुंवर री प्रतिमा पंकी, लौंके यो मति लाधो ॥ ३ ॥

काजा बीजा नहीं आंचलिया, पासचंदिया पासी ।
कडवा साकर मीठा बोला, एहि बैण अभ्यासी ॥ ४ ॥

कुण नइं बांदू कुण नइ मंधु, इसी कह्यो मइं जाणी ।
जिणधर्म तो एको कहिजइ, खांचो तांण मंडाणी ॥ ५ ॥

पहिला मुनिवर इसड़ा होता, बन खण्ड वास बसंता ।
गोचर कालैं बैहरण वेलां, सरस आहार लेंता ॥ ६ ॥

चौहरां मांही चंचल चालइ, जिम नाटकिया जोड़ा ।
एवई मुनिवर इसड़ा बहुला, चारतीया माहंइ थोड़ा ॥ ७ ॥

एको लियइ जल ऊन्हां बिहरइ, एक लियर जल बां (छां)णी ।
एक घरइं घर सोधहिं ऊन्हा, कुलगुरु पीवइ टाढा पांणी ॥ ८ ॥

तीर्थंकर का लिखिया तिजिया, बले जीव सूं विचारे ।
आंपण पै दोपावे आधो, अर्थ सूत्र नहिं जाणंइ ॥ ९ ॥

सुमति सिखर थी हमची आवी, सीधी साध के पठाइ ।
पहली तो मुरधर में प्रकटी, गुणियण नाढइ गाइ ॥१०॥

॥ इति हमचड़ी संपूर्णम् ॥

गुरु नानक

–डा० इन्द्र

सिख धर्म के संस्थापक गुरु नानक का जन्म लाहौर से दस मील दूर काणाकूचा नाम के गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम था कालूवेदी और मां का तृप्ता जी। वे खत्री जाति के थे।

नानक के माता पिता गुणी तथा सदाचारी थे। उनका जीवन बड़ा पवित्र था। जब नानक का जन्म हुआ तो उसके पिता ने पण्डित हरदयाल शर्मा को बुलाकर उसके ग्रह दिखाए। ज्योतिषी ने उनके नक्षत्र तथा हाथ की रेखाएँ देखकर कहा—कालूवेदी ! इस बच्चे के नक्षत्र इतने अच्छे हैं कि बड़ा होकर यह महापुरुष बनेगा। लाखों आदमी इसके चरणों में सिर नमाएंगे। हिन्दू तथा मुसलमान सभी इसकी भक्ति करेंगे।

ज्योतिषी की भविष्य-वाणी सुनकर कालूवेदी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसका हृदय आनन्द से गद्‌गद हो उठा।

नानक में बचपन से महापुरुष के लक्षण दिखाई दे रहे थे। उनका मन साधारण खेलों में नहीं लगता था। वे अपनी उमर के बालकों को इकट्ठा करके उनके सामने परमात्मा के गुणों का वर्णन करते और उन्हें सदाचार की बातें सुनाते। वे बड़े उदार थे। घर में जब कुछ खाने के लिए मिलता तो लेकर बाहर दौड़ आते और सब साथियों के साथ मिलकर खाते। अपने खिलौने दूसरों को खेलने के लिए देकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती। भगवान का नाम उनके मुंह में सदा बना रहता था।

नानक ने ऊँची पढ़ाई नहीं की थी। फिर भी उस समय जैसा ज्ञान आवश्यक समझा जाता था, उतना तो प्राप्त कर ही लिया था। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी और उस समय की राजभाषा फारसी का अच्छा अभ्यास किया था। थोड़ा सा गणित भी सीखा था। वेद वेदान्त तथा पुराण पढ़ने का उन्हें शौक था।

प्रारम्भ से ही वे स्वतन्त्र स्वभाव के तथा सत्यप्रिय थे। अध्यापकों को उनकी सत्यनिष्ठा तथा बुद्धिबल के सामने कई बार लज्जित होना पड़ा था।

जब नानक पण्डित ब्रजनाथ के पास संस्कृत का अध्ययन शुरू करने गए तो एक विचित्र घटना हुई। पण्डित जी ने नानक की पट्टी पर 'ॐ नमः सिद्धम्' का मन्त्र लिख दिया और उसे कण्ठस्थ करने के लिए कहा।

नानक ने पट्टी अपने हाथ में ले ली और कहा—"पण्डित जी ! इस मन्त्र का मतलब क्या है ?"

पण्डित जी ने कहा—"अभी तुम्हें इसका मतलब समझने की जरूरत नहीं है। अभी तो इसको रट लो।"

नानक बोले—"अर्थ बिना समझे केवल रट लेने से क्या लाभ ?"

'अभी तो याद कर लो। इसी तरह थोड़ा थोड़ा याद करते जाओगे तो समय बीतने पर बड़े बड़े ग्रन्थ भी याद हो जाएंगे।' पण्डित जी ने फिर वही बात कही।

"किन्तु अर्थ समझे विना सब व्यर्थ है। मैं अर्थ विना जाने नहीं रहूँगा।" नानक भी अपनी बात पर दृढ़ रहें।

अन्त में हार मान कर पण्डित जी को अर्थ बताना पड़ा और तभी नानक ने उस मन्त्र को कण्ठस्थ किया।

नानक का मन पढ़ाई में नहीं लगता था। उन्होंने विद्याभ्यास छोड़ दिया। सारा समय प्रभुभजन तथा पास पड़ोस के लड़कों को उपदेश देने में बीतने लगा। आजीविका के लिए कोई उद्योग धंधा भी हाथ में नहीं लिया। दूसरे भी बहुत से बालक पढ़ना लिखना छोड़ कर उन्हीं के साथ घूमने लगे। उनके माता पिता ने नानक के पिता के पास शिकायत की—"आपका बेटा नानक स्वयं तो आवारा घूमता ही रहता है गाँव के दूसरे लड़कों को भी आवारा बना रहा है। उसे ठीक रास्ते पर लाना चाहिए।"

नानक के पिता को बात लग गई। उन्होंने एक दिन नानक को एकान्त में बुलाया और कहा—बेटा ! लोग कहते हैं, तुम आवारा घूमते रहते हो साथ ही गाँव के लड़कों को भी बिगाड़ते हो। तुम्हारा यह बर्ताव मुझसे नहीं सहा जाता। अब तुम कोई काम धंधा करो। अगर तुम अपने खेत की रखवाली करो तो कैसा रहेगा ?

"पिता जी ! मैं कल से खेत में जाया करूंगा।" नानक ने स्वीकार कर लिया।

पिता को इस आशा से सन्तोष हुआ कि बेटा अब ठीक रास्ते पर आ जाएगा और काम धंधे में लग जाएगा।

दूसरे दिन से नानक खेत की रखवाली करने लगा। वहाँ भी उपदेश सुनने वाले मिल गए। नानक और ग्वालों की पट्टी बैठ गई। वह पहले से भी अधिक निश्चिन्त होकर परमात्मा का भजन करने लगे।

एक बार कुछ ग्वाले नानक का उपदेश सुनने बैठ गए। उनकी गौएं पास के खेत में पकी फसल खाने लगीं। इतने में खेत का मालिक वहां पहुँच गया और गौओं तथा ग्वालों के साथ नानक को भी गांव के थानेदार के पास ले गया।

मालिक ने थानेदार के सामने फर्याद की—"इन ग्वालों ने मेरा खेत बर्बाद कर दिया है। इससे मेरा बहुत नुक्सान हुआ है। ये सब इकट्ठे होकर बातें करने लगे, गौएं खुली छूट गईं और खेत में घुस गईं। नानक और इन ग्वालों को दण्ड मिलना चाहिए।"

ग्वालों ने कहा—"बात बिल्कुल ठीक है। नानक हमें उपदेश दे रहे थे। हमारा ध्यान उपदेश में लगा हुआ था, इसलिए गौओं पर नजर नहीं रही। गौएं खेत में घुस गईं और फसल का नुक्सान हो गया।"

थानेदार ने नानक की तरफ देखा। नानक ने शान्ति के साथ उसकी ओर देख कर कहा—"आप एक बार खेत में जाकर देखें कि फसल को नुक्सान हुआ है या नहीं। यदि नुक्सान हुआ होगा तो आप जो कहेंगे वही दण्ड भुगतने के लिए मैं तैयार हूँ।"

थानेदार को नानक की बात जँच गई। सभी खेत में पहुँचे। फसल को कोई नुक्सान नहीं हुआ था। उसे देख कर सभी लज्जित हो गए और नानक को चमत्कारी समझते हुए घर चले गए।

नानक के खेत में फसल तो अच्छी हुई थी किन्तु आसपास के सभी पक्षी उसीमें जमा होने लगे। दूसरे खेतों में उन्हें गोफण का डर था और नानक के खेत में मारने वाला कोई न था। वे अपना हाथ ऊँचा करके गाते थे—

"राम जी की चिड़ियाँ, राम जी का खेत।
खा लो चिड़ियो भर भर पेट॥"

धीरे धीरे खेत में एक भी दाना नहीं रहा। नानक के पिता को बड़ा दुःख हुआ।

कालूवेदी ने नानक को किसी दूसरे काम में लगाने का निश्चय किया। उनके सामने कई धंधो की बात चलाई गई किन्तु नानक को कोई पसन्द नहीं आया। अन्त में अपने पिता को दुखी होते देखकर नानक ने कहा—मैं आप की आज्ञा मानने को तैयार हूँ। आप जो धंधा बताएंगे, करूंगा। आप दुखी मत होइए।

नानक के पिता ने उन्हें बीस रुपए दिए और दूसरे गाँव से माल लाने के लिए कहा। इस बात की खास हिदायत दी कि माल खरा होना चाहिए। और कीमत भी ज्यादा न लगे।

दूसरे दिन सुबह नानक और उनका मित्र बाला माल खरीदने निकले।

बारह तेरह मील चलने के बाद वे एक छोटे से गाँव के समीप पहुँचे। वहाँ एक वृक्ष की छाया में कबीरपंथी साधुओं का टोला उतरा हुआ था। दोनों उसे देखने लगे। कुछ साधु ध्यान में लीन थे, कुछ कीर्तन कर रहे थे, दूसरे और और बातों में लगे हुए थे। एक महन्त मृगचर्म पर आसन जमाए शान्ति से बैठा था।

नानक तथा बाला ने महन्त के दर्शन किए और उनके समीप जाकर बैठ गए। थोड़ी देर में कोई बोला—यह मण्डली तीन दिन से बिना अन्न के यहाँ पड़ी है। गाँव के लोगों में भक्तिभाव नहीं है। इसलिए कोई भिक्षा के लिए भी नहीं जाता।

नानक भगवान के भक्त थे। मण्डली की यह दशा देखकर उसके मन पर चोट लगी।

एकान्त में जाकर उन्होंने बाला से कहा—"बाला, वे बीस रुपए मुझे दे दो। मैं इन साधुओं को भोजन कराना चाहता हूँ।"

बाला ने कहा—"इससे पिता जी नाराज होंगे। उन्होंने हमें खरा माल खरीदने के लिए रुपए दिए हैं, साधुओं को भोजन कराने के लिए नहीं।"

नानक ने कहा—बाला, भूखों को भोजन कराने के बाद उनकी आत्मा जो आशीर्वाद देती है, क्या वह खरा माल नहीं है। मैं समझता हूँ बीस रुपए में हमें बहुत कीमती माल मिल रहा है।

बाला कुछ भी न बोल सका। नानक ने उन बीस रुपयों का सदुपयोग कर दिया। भूखे साधु उसे आशीर्वाद देते हुए चले गए।

नानक को धंधे में लगाने के लिए कालूवेदी की दूसरी कोशिश भी बेकार गई। उसने सोचा—"इसे परदेश भेज देना चाहिए। सम्भव है, वहाँ किसी के दबाव में रहकर यह रास्ते पर आ जाय।"

नानक को उसके बहनोई सेठ जयराम के पास भेज दिया गया। जयराम सेठ कपूरथाल राज्य में सुलतानपुर नवाब के दीवान थे। नवाब के पास उनकी अच्छी चलती थी।

जयराम सेठ ने नानक को भण्डारी की नौकरी दिला दी। राज्य का सारा भण्डार उसके हाथ में रहने लगा।

नानक ने जिस प्रकार अपना खेत चिड़ियों के लिए खुला छोड़ दिया था उसी तरह नवाब का भण्डार भी गरीबों के लिए खुला छोड़ दिया। एक सदाबरत लग गया। गरीब गुरबों की टोलियां नानक के भण्डार पर जमा रहने लगीं। चारों ओर उसकी जय बोली जाने लगी।

नानक राज्य के छोटा से नौकर थे। उनकी कीर्ति इस प्रकार फैलती देखकर बड़े बड़े अधिकारी ईर्ष्या से जलने लगे।

उन्होंने दीवान तथा नवाब के सामने शिकायत की कि नानक सारा भण्डार खाली किए जा रहा है। नवाब ने सारे बहीखाते तथा भण्डार की जाँच करने का हुक्म दिया। हिसाब देखा गया। कोठार की चीजों का मिलान किया गया किन्तु सब पूरी की पूरी उतरी। नवाब को अपना कोई नुक्सान नहीं दिखाई दिया। उल्टे नानक के ही कुछ रुपए उसके नाम निकले।

उस दिन के बाद नवाब नानक को बहुत मानने लगे। शत्रुओं का हौसला ठण्डा हो गया।

नानक की प्रभुभक्ति उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। उनके पिता को डर लगा कि वह संसार का त्याग करके कहीं साधु न बन जाय। कालूवेदी तथा

जयराम सेठ ने नानक की शादी करने का विचार किया। उनका खयाल था कि स्त्री का स्नेह नानक को बाँधे रखेगा। विवाह हो गया। दो पुत्र उत्पन्न हुए। किन्तु नानक की भक्ति में कोई कमी न आई। बाहर से दुनियादारी की सारी बातें करते थे किन्तु अन्तर परमात्मा के रंग में रंगा हुआ था।

एक दिन वे नदी के किनारे स्नान करने गए। वहां अकस्मात् एक साधु महात्मा के दर्शन हुए। वे बड़े प्रतापी मालूम पड़ते थे। उन्होंने नानक से कहा—नानक! तू संसार रूपी जंगल में भूल पड़ा है। यहाँ जिस काम के लिए आया था, उसे भूल गया है। नानक! चलो छोड़ो इस प्रपंच को। इस अंधेरे से निकलो। मैं तुम्हें प्रकाश में ले जाने आया हूँ।"

नानक और वह महात्मा किसी एकान्त स्थान में जाकर तीन दिन तथा तीन रात एकाग्रचित्त से बैठे रहे। उसी दिन से नानक संसार छोड़ कर साधु हो गए। धर्मोपदेश अपने जीवन का संकल्प बना लिया।

नानक तीन दिन तक दिखाई नहीं दिए थे, इसलिए लोगों ने समझा वे नदी में डूब कर मर गए हैं।

चौथे दिन नानक ने गाँव से बाहर एक आम के बाग में आसन लगाया। भगवाँ वेश तथा आत्म तेज उनके शरीर को सुशोभित कर रहे थे और उसके द्वारा सारा बाग प्रकाशित हो रहा था।

नानक ने अपना उपदेश प्रारम्भ किया—

"हिन्दू और मुसलमान एक सरीखे हैं। दोनों एक पिता के पुत्र हैं। दोनों भाई भाई हैं। खुदा, प्रभु या ईश्वर में कोई भेद नहीं है। सभी एक ही हैं केवल नाम का भेद है।"

हिन्दू तथा मुसलमान दोनों नानक के उपदेश को सुनने लगे।

काजी तथा धर्मान्ध मुसलमानों ने नवाब के कान भरने शुरू किए। उन्होंने कहा—हुजूर! नानक कहता है कि हिन्दू और मुसलमान एक सरीखे हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। हिन्दू काफिर हैं। मुसलमान खुदा के बन्दे हैं। वह कहता है, दोनों एक बाप के बेटे हैं। मुसलमानों का खुदा और हिन्दुओं का परमात्मा एक ही हस्ती के दो नाम है। भला यह कैसे हो सकता है।

हिन्दू बुतपरस्त हैं। पत्थर को पूजते हैं। मुसलमान सीधे खुदा की नमाज़ करते हैं। वह मुसलमानों को नीचे गिरा रहा है। उसको सज़ा मिलनी चाहिए।"

नवाब ने नानक को बुलाया। पहले तो नानक ने इन्कार कर दिया किन्तु दुबारा बुलाने पर वे चले गए।

नानक नवाब की कचहरी में पहुँचे और दुआ सलाम किए बिना ही सीधे खड़े हो गए। नवाब ने क्रोध से भरकर कहा—नानक! मेरे पहले बुलावे पर तुम क्यों नहीं आए।

नानक ने कहा—"नवाब साहेब! अब मैं आप का नौकर नहीं रहा। अब मैं खुदा का नौकर हो गया हूँ। अब मैं सिर्फ खुदा की ही बन्दगी करूंगा, उसी की हाजरी भरूंगा।"

"तुम एक ही ईश्वर को मानते हो या हिन्दुओं की तरह अनेक देवताओं को?"

"मैं एक ही ईश्वर की पूजा करता हूँ, जो सर्वव्यापी है, सर्वशक्तिमान् है और जो स्वयम्भू है, अर्थात् अपने आप उत्पन्न हुआ है।"

"तो तुम्हारा और हमारा ईश्वर एक ही है। अगर तुम उसी को मानते हो तो मस्जिद में चलो और मेरे साथ नमाज पढ़ो!"

नानक और नवाब मस्जिद में नमाज पढ़ने गए। हिन्दुओं ने सोचा नानक मुसलमान हो जाएंगे। मुसलमानों ने सोचा नानक काफिर से मिटकर पाक हो जाएंगे।

नमाज पढ़ने का समय आया। काज़ी मोटी आवाज़ से बन्दगी करने लगा। सब के सब सिर झुकाकर नमाज पढ़ने लगे। किन्तु नानक का सिर न झुका। वे सीधे के सीधे खड़े रहे।

बन्दगी पूरी हो गई। नानक को नमाज न पढ़ता देख कर नवाब का पारा चढ़ गया: लाल लाल आँखों से उस की ओर देखते हुए बोले—नानक! तू पक्का ढोंगी है। झूठा और पाखण्डी है। हम सब ने सिर झुकाकर खुदा की बन्दगी की किन्तु तू ठूँठ की तरह सीधा खड़ा रहा!

हिन्दू और मुसलमान सभी को उल्टे रास्ते ले जा रहा है। तुझे सजा मिलनी चाहिए।

पास ही काजी खड़े थे। वे भी भभक पड़े—नानक ! तुम कहते तो हो कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का मालिक एक है, लेकिन उसे दिल से मानते नहीं। अगर मानते होते तो हमारे साथ तुम भी सिर झुकाते।

नानक ने नवाब तथा काजी की बातें शांति के साथ सुनी। अन्त में वे गम्भीरतापूर्वक बोले—"नवाब साहेब ! मैं उसी के साथ बन्दगी करता हूं जो पूरे मनसे खुदा की बन्दगी करता है। जिस आदमी का मन इधर उधर भटकता रहता है और उपर से जो बन्दगी करने का दिखावा करता है, मैं उसके साथ बन्दगी नहीं करता। आपका सिर जमीन को छू रहा था किन्तु मन कन्धार में घोड़े खरीदने गया था। काजी साहेब सिर्फ नमाज की रस्म पूरी कर रहे थे। इनका मन भी कहीं और गया हुआ था। वे सोच रहे थे—"आज जो घोड़ी ब्याई है उसकी हालत कैसी होगी ? कहीं बछेरा कूदकर पास वाले कूए में न जा गिरे।" इसी कारण मैंने आप लोगों के साथ नमाज नहीं पढ़ी।

नानक ने नवाब तथा काजी के विषय में जो कहा था, दोनों बातें ठीक थीं। वे आश्चर्य में पड़ गए। उन्होंनें नानक के आगे सिर झुका दिया और उन्हें गुरु मान लिया। दोनों नम्र हो कर गुरुमन्त्र की प्रतीक्षा करने लगे। नानक ने गम्भीर स्वर में उपदेश दिया :—

"पंजा नमाज वक्त पंजा पंजे नाउ,
पहला सत्य, हलाल दुई, तीजी खैर खुदा;
चौथी नीयत रासमन, पंजवी सिफ़्त शना;
करनी कलमा आख के तां मुसलमान सदा,
नानक तेजी कूडीवाह कूडी कुडेया"

"पहला सच बोलना, दूसरा ईमानदारी की कमाई, तीसरा खुदा के लिए गरीबों की सहायता करना, चौथा नीयत साफ रखनी और पाँचवां प्रभु के गुणों का कीर्तन करना, ये पाँच काम पाँच नमाजों के बराबर हैं। सदाचार रखना ही कलमा है। जो इस प्रकार रहता है वही मुसलमान कहा जा सकता है। बाकी तो सारे ढोंगी हैं।"

गुरु नानक का उपदेश सुनकर नवाब उनका अनुयायी बन गया। गुरु नानक की यह पहली विजय थी।

गुरु नानक ने अपना स्थान छोड़कर अब प्रवास में जाने का निश्चय किया। उन्होंने अपने एक मुसलमान भक्त मर्दाना के साथ हरद्वार की तरफ प्रयास किया। हरद्वार की यात्रा करके वे दिल्ली पहुँचे। उन दिनों सिकन्दर लोदी दिल्ली के सिंहासन पर था। उसने यह आज्ञा निकाल रखी थी कि शहर में कोई साधु, संन्यासी या फकीर दिखाई दे तो उसे पकड़ कर कैद में डाल दो। इसमें उसकी मंशा यही थी कि ढोंगी तथा झूठे साधु यहां न आवें और सच्चे साधु की पहचान की जा सके।

गुरु नानक और मर्दाना दोनों को कैद में डाल दिया गया। दोनों को एक एक मन अनाज और चक्की पीसने के लिए दे दी गई। मर्दाना घबरा गया। नानक के पास जाकर बोला—गुरुदेव! यह तो बड़ी मुसीबत आ पड़ी। एक मन अनाज कैसे पीसा जाएगा। यहाँ से कैसे छुटकारा होगा?"

नानक बोले—"भाई! तुझे अभी परमात्मा की शक्ति का पता नहीं लगा है। प्रभु अपने भक्तों पर दुःख नहीं आने देता। तुम जाओ! निश्चिन्त रहो! जेल के सारे कैदियों को कह दो कोई चक्की न चलाए। सब के सब बेफिक्र होकर आराम करें।"

मर्दाना सोचते सोचते बाहर निकला और सभी कैदियों को गुरु का सन्देश सुना आया।

सब लोग शान्ति से सो गए। थोड़ी देर में सब की सब चक्कियाँ फिरने लगीं। अपने आप उनमें गला पड़ने लगा और आटा पिसने लगा। परमात्मा की कृपा से असम्भव भी सम्भव हो जाता है।

जेलर को जब इस अद्भुत घटना का पता चला तो वह दौड़ा दौड़ा बादशाह के पास पहुँचा और सारी घटना सुनाई।

सिकन्दर लोदी ने स्वयं जेल में आकर सारा दृश्य देखा।

बादशाह ने नानक से क्षमा मांगी और उपदेश के लिए प्रार्थना करने लगा। गुरु नानक के उपदेश से बादशाह की आँखें खुल गईं। उन

आदेशानुसार सारे कैदियों को छोड़ दिया गया। साथ ही उसने प्रतिज्ञा की कि भविष्य में किसी साधु को कष्ट न दूँगा।

बादशाह ने नानक को बहुत सी बहुमूल्य भेटें उपहार कीं किन्तु उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। उसी समय वे वहाँ से रवाना हो गए।

दिल्ली से रवाना होकर गुरु नानक ढाका पहुँचे। उन दिनों ढाका प्रान्त जादू एवं मन्त्र तन्त्र में बहुत प्रसिद्ध था। वहाँ के बहुत से जादूगर अपनी विद्या आजमाने के लिए नानक के पास पहुँचे, किन्तु नानक के सामने उनकी कुछ नहीं चली। सब का अभिमान चूर हो गया। उन्होंने गुरु नानक से पूछा—"आपके पास ऐसी कौन सी विद्या है जिसके आगे हमारे मन्त्र, तन्त्र, जादू, टोने कुछ नहीं चलते ? हमें भी वह मन्त्र सिखा दीजिए।"

गुरु नानक ने उत्तर दिया—'मेरे पास एक ऐसा महामन्त्र है जिसके सामने तमाम मन्त्र, तन्त्र तथा यन्त्र निर्बल हो जाते हैं। वह मन्त्र है—'ॐ सत्त नाम' का। इस मन्त्र से परम प्रभु परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है। मन्त्र, यन्त्र तथा तन्त्रों से दुनियावी तथा सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। किन्तु इस मन्त्र से तो भगवान् स्वयं, जो सब सुख तथा समृद्धियों को देने वाले हैं, प्राप्त होते हैं।"

जादूगर जादूओं को छोड़कर 'सत्त नाम' का जाप करने लगे, उन्होंने गुरु नानक की जय बोलकर उन्हें अपना गुरु मान लिया।

गुरु नानक ने भारत की यात्रा अनेक बार की थी। यात्रा में वे हजारों मनुष्यों को उपदेश देते थे और अनेक व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाते थे। वे भारत के सभी तीर्थों में घूमे थे। वे गिरनार पहाड़ पर भी गए थे। उस समय जूनागढ़का नवाब फैज बक्स था। वह बड़ा श्रद्धालु था। वह गुरु नानक के दर्शन करने आया और उनसे उनकी खड़ाऊँ मांगी। जूनागढ़ के किले के पासवाली धर्मशाला में खड़ाऊँ अब भी रखी हुई हैं। वेरावल, प्रभास पाटण, सोमनाथ पाटण, पोरबन्दर और द्वारका की भूमि भी गुरु नानक ने अपने चरणों से पवित्र की थी। कच्छ में भी घूमे थे।

गुरु नानक तथा उनके शिष्य मर्दाना ने एक बार मक्का जाकर हज करने का निश्चय किया। नानक के मन में काशी विश्वनाथ और मक्का की हज

दोनों बराबर थे। लम्बी यात्रा के बाद गुरु और शिष्य दोनों मक्का पहुँच गए।

रात पढ़ने पर वे मस्जिद के चौक में सो गए। नींद में गुरु नानक के पैर काबा की तरफ हो गए।

सुबह झाड़ निकालने वाला आया। गुरु नानक को काबा की तरफ पैर कर के सोते देख कर उसे गुस्सा चढ़ आया। जोर से चिल्ला कर बोला—अरे मुसाफिर ! तुम कौन हो ? तुमने खुदा के घर काबा की तरफ पैर कर रखे हैं।

नानक ने शान्ति तथा मिठास के साथ जवाब दिया "भाई ! हम तो अनजाने मुसाफिर हैं। इसी लिए यहाँ सो गए। रात को नींद में मेरे पैर काबा की तरफ हो गए। जिधर काबा न हो, तुम मेरे पैर उस तरफ घुमा दो।"

बहुत से धर्मान्ध मुसलमान वहाँ इकट्ठे हो गए। एक को गुस्सा आया और नानक के पैरों को घुमा कर दूसरी तरफ कर दिया। किन्तु जिधर नानक के पैर घूमे काबे का पत्थर भी उधर ही घूम गया। लोग यह देख कर आश्चर्य में पड़ गए।

यह बात हवा की तरह सारे मक्के में फैल गई। काजी रुकनूदीन तथा मौलवी अब्दुल रहमान भी पहुँच गए। उन्होंने गुरु से पूछा—"साँई ! तुम कौन हो !"

नानक ने जवाब दिया—"मैं इन्सान हूँ।"

"आप इंसान हैं, यह तो हम देख रहे हैं। हम जानना चाहते हैं कि आप हिन्दू हैं या मुसल्मान !"

"मैं हिन्दू भी नहीं हूँ और मुसल्मान भी नहीं हूँ।" पाँच तत्त्वों के इस पुतले में हिन्दू और मुसल्मान का अभिमान करना भूल है: कुछ लोग जनेऊ और चोटी रख कर अपने को हिन्दू मानते हैं और कुछ सुन्नत और दाढ़ी के द्वारा अपने को मुसल्मान मानते हैं। किन्तु परमात्मा ने ऐसा भेद कभी नहीं किया। यह भेद मनुष्यों ने किया है और इसलिए झूठा है।

"इन सब बातों को छोड़िए और यह बताइए आप की जाति क्या है ?"

"मैं तो ईश्वर का बन्दा हूँ। मैं उस मालिक से प्रार्थना करता हूँ कि हिन्दू ढोंग से बचें और मुसल्मान धर्मान्धता से। हिन्दू बाहर से नहा धोकर पूजा करने बैठते हैं किन्तु उनके मन में काम क्रोध, लोभ वगैरह, वासनाओं का मैल जमा रहता है। वास्तव में अन्तर का मैल धोने की जरूरत है। मुसलमान बांग लगाकर कहते हैं कि हम ही खरे आस्तिक हैं। इसलिए मैं हिन्दू भी नहीं हूँ. मुसलमान भी नहीं हूँ। मैं तो इंसान हूँ।

काजी और मौलवी निरुत्तर होकर अपने रास्ते चले गए।

मक्का शरीफ में कुछ दिन रहने के बाद गुरु नानक और मर्दाना मदीना होते हुए बगदाद पहुँचे। उन दिनों बगदाद खलीफा की राजधानी था। उस समय का खलीफा बड़ा अत्याचारी और क्रूर था। प्रजा पर जुल्म करके उसने बहुत पैसा इकट्ठा किया था।

गुरु नानक को इस बात की खबर पड़ी। उन्होंने खलीफा को ठीक राह पर लाने का निश्चय किया।

काबे की घटना से गुरु नानक की प्रतिष्ठा दूर दूर तक फैल गई थी। उनके आगमन का समाचार सुनकर खलीफा भी उनसे मिलने गया। नमन करने के बाद उसने कंकरों के एक ढेर की तरफ इशारा करते हुए पूछा—हजरत! ये कंकर क्यों इकट्ठे कर रखे हैं?

गुरु नानक ने कहा—"मुझे ये सब आपके पास अमानत रखने हैं।"

खलीफा ने हँसते हँसते पूछा—"यह अमानत आप वापिस कब लेंगे?"

"बहुत जल्दी वापिस लेने की इच्छा तो नहीं है।"

"फिर भी?"

"जब कयामत का दिन आएगा और खुदा इंसाफ करेगा, उस वक्त मैं भी वहीं रहूँगा। आप इस अमानत को वहाँ साथ लेते आइएगा।"

बाबा। यह कैसे हो सकता है? मैं इसको साथ कैसे ला सकूंगा? यह तो यहीं पड़ी रहेगी।

गुरु नानक बोले—"नहीं खलीफा। आप ने प्रजा को सताकर जो इतना

धन इकट्ठा किया है, उसे वहाँ लाएंगे ही। उसके साथ मेरी अमानत भी लेते आइएगा।"

गुरु नानक के मार्मिक वचनों से खलीफा की आँखें खुल गईं। उसने देखा कि मेरा धन इकट्ठा करना बेकार है। इसमें से एक पाई भी साथ नहीं जाएगी। बगदाद के दरवाजे बाहर गरीबों को इकट्ठा करके उसने अपना सारा धन बांट दिया। खलीफा गुरु नानक का शिष्य हो गया।

गुरु नानक यात्रा से वापिस लौटे तो पंजाब के कर्तारपुर नामक गाँव में रहने लगे। वहीं वे अपना बुढ़ापा बिताने लगे। अपने अन्तिम दिन समीप आए जानकर उन्होंने अपनी गद्दी पर बैठाने के लिए किसी योग्य व्यक्ति को ढूंढना शुरू किया। उनका यह दृढ़ निश्चय था कि अपने पुत्र को गद्दी नहीं दूंगा। शिष्यों में से किसी का चुनाव करने के लिए उन्होंने उनकी परीक्षा लेनी शुरू की।

उस परीक्षा में उनका प्रिय शिष्य लहना ही पास हुआ।

गुरु अपने शिष्य की कठोर परीक्षा लिया करता है। वह परीक्षा पुस्तकों की नहीं किन्तु चरित्र तथा गुरुभक्ति की परीक्षा थी। गुरु नानक ने लहना की परीक्षा अलग अलग तीन अवसरों पर ली।

एक बार गुरु नानक के बिस्तर पर मरा हुआ चूहा दिखाई दिया। उन्होंने अपने पुत्रों को उसे उठाने की आज्ञा दी। पुत्रों ने नौकरों को पुकारना शुरू किया। उन्हें बुलाने के लिए इधर उधर भागदौड़ शुरू की। लहना उस समय वहीं था। गुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा किए बिना ही उसने चूहा उठा बाहर फेंक दिया।

किसी दूसरे दिन गुरु नानक का प्याला एक कीचड़ वाले गढ़े में गिर पड़ा। सब के सब एक दूसरे की ओर ताकने लगे। दुख चिन्ता प्रकट करने लगे। कुछ नौकरों को बुलाने दौड़े। कुछ इधर उधर यों ही दौड़ भाग करने लगे। गढ़े में कूद कर प्याला निकालने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। लहना ने थोड़ी देर तो देखा, फिर कपड़े बिना उतारे ही एक दम गढ़े में कूद पड़ा। कीचड़ में फँसा हुआ प्याला निकाल कर उसने गुरु के चरणों में लाकर रख दिया।

एक बार गुरु ने इन दोनों प्रसंगों की अपेक्षा भी लहना की अधिक कठोर

परीक्षा ली। वे शिष्यों के साथ एक बार नदी की ओर घूमने निकले। रास्ते में एक मरा हुआ जानवर पड़ा था। गुरु ने पूछा—"तुम्हारे में से कोई इसे खा सकता है ?'

इस प्रश्न से सबके सब स्तब्ध रह गए। कुछ तो अन्दर ही अन्दर बड़बड़ाने लगे—"गुरु जी बूढ़े हो गए हैं। उनकी बुद्धि सठिया गई है।"

गुरु की इच्छा पूरी करने के लिए कोई शिष्य आगे नहीं बड़ा। गुरु ने दुबारा यही प्रश्न किया। किन्तु किसी ने उत्तर नहीं दिया।

लहना का हृदय पहले से ही गुरु की आज्ञा पालन करने के लिए तैयार था। इतने में गुरु ने लहना पर दृष्टि डाली। उसने तुरन्त मृत शरीर को उठा लिया। जैसे ही मांस को मुँह में रखने लगा, उसके स्थान पर सुन्दर व स्वादिष्ट मिठाई दिखाई दी। लहना तथा सभी शिष्यों ने मिलकर मिठाई खाई। सबके सामने गुरु भक्ति का आदर्श उपस्थित हो गया और गुरु ने लहना को ही गद्दी पर बैठाने का निश्चय कर लिया।

संवत् १५९४ (ई० १५३८) के आश्विन में गुरु नानक ने इस शरीर को छोड़ दिया।

गुरु नानक की शिष्य मण्डली में हिन्दू तथा मुसल्मान दोनों थे उनकी अन्तिम क्रिया के सम्बन्ध में दोनों झगड़न लगे। हिन्दुओं का आग्रह था कि शव को जलाना चाहिए। मुसल्मान उसे दफनाना चाहते थे। बात बढ़ गई और दोनों ओर से तल्वारें निकल आईं।

इतने में एक सयाने बूढ़े ने कहा—"जरा कफन उठाकर गुरु के दर्शन तो कर लो। इससे हमें सद्बुद्धि मिलेगी।"

कफ़न उठाकर देखा तो मत देह के स्थान पर गुलाब के सुन्दर खिले हुए फूल दिखाई दिए। सबको अपनी भूल मालूम पड़ी। सबने उन फूलों का वन्दन किया। उन्हें सिर पर चढ़ाया।

आधे फूल हिन्दुओं ने ले लिए और अग्नि संस्कार कर दिया। आधे मुसल्मानों ने ले लिए और दफना दिए।

सम्यग् ज्ञान की महिमा

(१)

भ्रान्त पथिक के हे पथनेता, हे गुण गरिमा के आधार।
तेरे ही लावण्य पुण्य से उद्भासित है यह संसार॥
आत्मक्षेत्र के कृषक व्रती तुम हो ऊसर की हरियाली।
काले घन में विद्युत सम तुम तिमिर लोक की दीवाली॥

(२)

मानवता पशुता के भेदक, भेदमयी संसृति की जान।
तूने नर को अमर बनाया देकर दिव्य सभ्यता दान॥
वाणी, कला, चेतना के बस तुम ही हो जगमें प्रतिरूप।
बिना तुम्हारे जीवन क्या है, केवल एक अँधेरा कूप॥

(३)

तेरे बिना व्यर्थ हो जाता महायोगियों का तप ध्यान।
तेरे बिना न पा सकता नर अहो! मनुजता का सोपान॥
स्वयं अलख हो किन्तु तुम्हीं से पाता जग, जग का आभास।
कविगण जान सकेंगे इसमें कितना श्रेष्ठ विरोधाभास॥

(४)

किन्तु शान्ति के शुभ साधन को हमने दुखप्रद कर डाला।
अमृत ढुलका कर प्याले का, हाय! हलाहल भर डाला॥
इसी ज्ञान से नर संहारक गैस, बम्ब करके तैयार।
बना रहे हैं नर दीवाने मिश्री को साँभर का खार॥

(५)

कभी नहीं जगमें देखी थी, ऐसी प्रबल रक्त की प्यास।
सभी लाश होंगे, न बचेगा कोई लिखने को इतिहास॥
ज्ञानदेव! आओ, सिखलाओ, इन क्रूरों को समता प्यार।
तुम अनादि के देव हमारे, करदो जग का फिर उद्धार॥

रामकुमार जैन 'स्नातक'

आस्तिक और नास्तिक

—डॉ० इन्द्र

साहित्यशास्त्र में तीन प्रकार का शब्द बताया गया है—प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित और कान्तासम्मित। सम्मित का अर्थ है तुल्य। कुछ शब्द प्रभु की आज्ञा के समान होते हैं। मालिक की आज्ञा सुनने के बाद भृत्य को यह सोचने का अधिकार नहीं होता कि तदनुसार कार्य क्यों किया जाय। उससे कुछ लाभ है या नहीं। उसका एक ही कर्तव्य है कि सुनते ही तदनुसार चल पड़े। धार्मिक ग्रन्थों के विधान इसी प्रकार के शब्द माने जाते हैं। उनमें जिस कार्य को करने के लिए कहा गया है, उसे करना ही चाहिए और जिस बात का निषेध है उसे कभी नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को यह सोचने का अधिकार नहीं है कि इसको करने या न करने के पीछे समाज या व्यक्ति का कौनसा हित छिपा हुआ है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होता है कि विधि अथवा निषेध की किसी भी आज्ञा को उल्लंघन करने में पाप है। सुहृत्सम्मित शब्द मित्र के समान होता हैं। वहाँ यह बताया जाता है कि अमुक कार्य करने से लाभ है और अमुक कार्य करने से हानि। इसके बाद व्यक्ति को स्वतन्त्रता रहती है कि वह चाहे जिस मार्ग पर चले। यहाँ चलने या न चलने मात्र से पाप पुण्य नहीं होता, किन्तु सामाजिक या वैयक्तिक लाभालाभ की ओर व्यक्ति का ध्यान खींचा जाता है। उसे यह भी पूर्ण अधिकार है कि वह इस निर्णय को अमान्य कर दे और अपना मन्तव्य सर्वथा भिन्न रूप से प्रकट करे। तर्क या प्रत्यक्ष अन्वेषण पर आश्रित दर्शन, विज्ञान, राजनीति, अर्थआस्त्र, गणित आदि विद्याएँ इसी कोटि में आती हैं। कान्तासम्मित शब्द शिक्षाप्रद होने के साथ साथ आकर्षक भी होता है। वह भावनाओं को उभार कर अपना प्रभाव हृदय पर करता है। काव्य, संगीत, चित्र आदि ललित कलाओं को इसी कोटि में रखा जाता है। वहाँ व्यक्ति किसी अदृश्य शक्ति का गुलाम बन कर कुछ करने के लिए बाध्य नहीं है, न वह अपनी बुद्धि से हिताहित का विवेक करता है किन्तु भावों के आवेग से खिंचा चला जाता है। कई बार बुद्धि विद्रोह करती है तो भी वह उस मार्ग

को छोड़ने में असमर्थ हो जाता है। वर्तमान प्रचारकला को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। पहले प्रकार का शब्द यह अपेक्षा रखता है कि मनुष्य किसी अदृश्य शक्ति के हाथ में केवल कठपुतली है। उसे न बुद्धि प्रयोग की स्वतन्त्रता है और न अपनी इच्छापूर्ति करने अथवा हृदय के स्पन्दन पर ध्यान देने की। दूसरा शब्द बुद्धि को प्रधानता देता है और तीसरा हृदय को। पहले का आधार श्रद्धा है, दूसरे का सत्य और तीसरे का प्रिय।

नास्तिक और आस्तिक की चर्चा का अर्थ है प्रथम और तृतीय प्रकार के शब्दों की उपयोगिता के विषय में सोचना। क्या व्यक्ति या समाज के उत्थान के लिए ऐसे विधान उपयोगी हैं जो मानव बुद्धि से अतीत समझ कर ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए जायँ? क्या यह उचित है कि भावनाओं के उद्रेक द्वारा ऐसा वातावरण बना दिया जाय जिससे विवेक बुद्धि कुण्ठित हो जाय और मानव अपने आप किसी निर्णय की ओर खिंचा चला जाय। साथ ही हमें यह भी सोचना है कि मनुष्य को अपनी बुद्धि के प्रयोग का अधिकार कहाँ तक है। उस पर नियन्त्रण होना चाहिए या नहीं। नास्तिक और आस्तिक की चर्चा का मूल इन्हीं प्रश्नों में सन्निहित है।

शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो नास्तिक शब्द का अर्थ है 'नहीं है' ऐसी मान्यता वाला और आस्तिक का अर्थ है 'है' ऐसी मान्यता वाला। जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या है और क्या नहीं है तो उसके साथ परलोक जोड़ दिया गया। अर्थात् 'परलोक है' ऐसा मानने वाला आस्तिक है। कठोपनिषद् में नचिकेता यमराज से पूछता है—"कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य मरने के बाद रहता है और कुछ कहते हैं नहीं रहता। इसी बात को मैं आप से जानना चाहता हूँ।" यमराज सब कुछ समझाने के बाद उत्तर देते हैं—"यही लोक है, परलोक नहीं है, ऐसा मानने वाला बार बार मेरे वश में आता है।" ऐसा कह कर परलोक न मानने वालों की निन्दा की है। सम्भवतया इसी आधार पर व्याकरण में 'अस्ति' और 'नास्ति' के साथ परलोक जोड़ दिया गया। पाणिनि के सूत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि भाग्यवादी तथा परलोकवादियों के समान परलोक न मानने वालों का भी एक सम्प्रदाय था और वही नास्तिक कहा जाता था। किन्तु कालान्तर में जाकर नास्तिक का अर्थ कर दिया गया परम्परा में श्रद्धा न रखने वाला। मनुस्मृति में वेद की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहा है। भारतीय दर्शनों का आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन के रूप में विभाजन भी इसी आधार पर किया जाता है। वेद

को प्रमाण मान कर चलने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं और उसे प्रमाण न मानने वाले नास्तिक दर्शन। इस प्रकार इन व्याख्याओं का पर्यवसान शब्द प्रामाण्य और अप्रामाण्य में हो गया। जैन दर्शन भी शब्द-प्रमाणवादी माना जाता है किन्तु वैदिक शब्दप्रमाण और जैन शब्दप्रमाण में बहुत अन्तर है। जैन किसी शब्द को अपने आप में प्रमाण नहीं मानता। वह इसके लिए दो शर्तें रखता है। पहली शर्त है कि शब्द जिस विषय से सम्बन्ध रखता है, वक्ता उसका पूर्ण ज्ञाता हो। दूसरी यह है कि वह राग द्वेष आदि किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर न कह रहा हो। आधुनिक शब्दों में कहा जाय तो उसी शब्द को प्रमाण माना जायगा जो किसी विशेषज्ञ द्वारा पक्षपात रहित होकर कहा गया है। इसका अर्थ है जैनदर्शन न तो शब्द को महत्व देता है और न व्यक्ति विशेष को। किन्तु साथ ही साथ यह भी कहता है कि विशेषज्ञ की राय अविशेषज्ञ के लिए मान्य होनी चाहिए। किन्तु मीमांसक कहता है—वेद इसलिए प्रमाण नहीं हैं कि वे किसी विशेषज्ञ की राय हैं। वे अपने आप में प्रमाण हैं। एक जैन से पूछा जाय—हम जैन आगमों को क्यों मानें? तो, वह उत्तर देगा—क्योंकि वे सर्वज्ञ तथा वीतराग के बनाए हुए हैं। वाणी में अप्रामाण्य दो कारणों से आता है—उसका वक्ता अल्पज्ञ हो तो वह अज्ञानवश ग़लत बात कह सकता है; इसी प्रकार उसका वक्ता रागद्वेष से अभिभूत हो तो वह स्वार्थवश मिथ्या बात कह सकता है। किन्तु यदि वक्ता अल्पज्ञता और रागद्वेष के दोषों से रहित हो तो उसकी वाणी ग़लत नहीं हो सकती। किन्तु यदि एक वैदिक से पूछा जाय—वेद क्यों प्रमाण हैं? तो वह उत्तर देगा—"वेद इसलिए प्रमाण हैं क्योंकि वे वेद हैं।" वह उन्हें शाश्वत सत्य मान कर चलता है। इसके विपरीत बौद्ध किसी भी शब्द को प्रमाण नहीं मानता और अपने आप परीक्षा करके निर्णय पर पहुँचने की सलाह देता है। बुद्ध कहते हैं—"हे भिक्षुओं ? मेरे वचन को भी परीक्षा के बाद ग्रहण करना। केवल मेरे प्रति आदरबुद्धि होने के कारण स्वीकार मत करना।"

इस प्रकार हमारे सामने तीन बातें आती हैं:—

(१) शब्द को अपने आप में प्रमाण मानना और उसमें प्रतिपादित विधि निषेध को मानव बुद्धि से परे समझना।

(२) उसे पक्षपात रहित किसी विशेषज्ञ की राय के रूप में स्वीकार करना।

(३) प्रत्येक बात के लिए स्वयं परीक्षा करना।

धर्म के क्षेत्रमें आस्तिकता शब्द से प्रायः पहली मान्यता को लिया जाता है। वहाँ शास्त्राज्ञा के प्रत्येक अंश में कोई रहस्य मान कर उसका अक्षरशः पालन ही धर्म समझा जाता है। उदाहरण के रूपमें वैदिक क्रियाकाण्ड को उपस्थित किया जा सकता है। यज्ञमें चावल की आवश्यकता है। उसके लिए धान से तुषको अलग करने की जरूरत है। उसे कूट कर अलग किया जा सकता है और नाखून से छिलकर भी। किन्तु इस प्रश्न को व्यक्ति की सुविधा असुविधा या स्वतन्त्र बुद्धि पर नहीं छोड़ा गया। नियम बनाया गया कि कूटकर ही तुषको अलग करना चाहिए। यज्ञ की वेदी कितनी बड़ी हो, उसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई कितनी हो, उसमें लगने वाली ईंटें कितनी बड़ी हों, पुरोडाश पकाने का चरू कितना बड़ा हो और चम्मच कितना बड़ा, उसकी डंडी कितनी हो और आगे का भाग कितना आदि सबका परिमाण निश्चित है। एक इंच भी इधर उधर होने पर यज्ञ का फल नष्ट हो जाएगा। इतना ही नहीं मनुष्य का उठना बैठना, सोना जागना, हजामत बनाना, स्नान करना आदि प्रत्येक क्रिया मन्त्र के साथ होती हैं और एक निश्चित पद्धति से करनी पड़ती है। वहाँ मनुष्य एक मशीन है जिसे शास्त्राज्ञाओं का बटन दबते ही निश्चित रूपमें चलना पड़ता है। उसे 'ननु' 'नच' का कोई अधिकार नहीं है। संसार के प्रायः सभी धर्मों ने किसी न किसी पुस्तक को इस प्रकार का अधिकार दिया और जिसने उस पुस्तक को नहीं माना उसे नास्तिक तथा पापी माना है।

अब हमें यह विचार करना है—व्यक्ति या समाज को इस प्रकार किसी पुस्तक या परम्परा का दास बनाना कहाँ तक उचित है। संसार में जितने महापुरुष हुए हैं, सबके सब पुरानी परम्परा, रूढि अथवा ग्रन्थ के आधिपत्य को तोड़ कर ही हुए हैं। बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद आदि सबने प्राचीन परम्परा के विरुद्ध क्रान्ति की है और उसके लिए भयंकर कष्ट भी उठाए हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, नरसिंह मेहता, मीराबाई आदि पुरातन तथा नवीन युगों के भक्तों ने भी परम्परा को तोड़कर सत्य की उपासना की है। यदि परम्परा का पालन ही आस्तिक शब्द का अर्थ है तो वे सब नास्तिक कहे जाएँगे। वास्तव में देखा जाय तो ऐसे नास्तिकों की जीवनगाथा ही विश्व की प्रगति का इतिहास है। या यों कहना चाहिए कि नास्तिकों की तपस्या ही निष्प्राण होने पर आस्तिकों का अधिष्ठान बन जाती है।
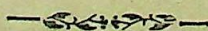
अपने को जानिए

–श्री देवेन्द्र कुमार, एम. ए.

सभी को कभी न कभी यह शिकायत हो ही जाती है कि 'दूसरे आपको नहीं जानते' परन्तु मैं समझता हूं कि दूसरे हमारे बारे में जितना जानते हैं हम उतना भी नहीं जानते; इसीलिए प्राचीन ऋषि-मुनियों ने भी यही शिक्षा दी 'आत्मानं विद्धि'—अपने को जानो।

आप कह सकते हैं कि इसमें शिक्षा की क्या बात, जब से आप हैं तभी से अपने को ही तो जानते आ रहे हैं, और फिर आप से बढ़कर दूसरा कौन आप के बारे में जान सकता है। मैं जानना तो नहीं चाहता कि आप अपने को क्या क्या जानते हैं, क्योंकि इसमें आप के आत्मज्ञान की कलई खुले बिना न रहेगी। पर आत्मज्ञान छिपा रखने की भी वस्तु नहीं। हां तो, आप अपने बारे में क्या जानते हैं। यही न कि आप एक आदमी हैं, आपका एक रूप है, एक नाम है, एक देश है, एक प्रांत हैं, एक गांव है, एक घर है, पर यह तो अपने को जानना नहीं हुआ, यह तो हुलिया नवीसी है। यदि मैं दूसरों से पूछूं तो वे भी इतना आप के विषय में बता देंगे, ये चीजें दूसरों के पास भी हैं, यह आप भी जानते हैं। इसलिए आपको मानना पड़ेगा कि दूसरे के बारे में आप उतना ही जानते हैं जितना अपने बारे में।

यदि आप इससे भी अधिक कुछ जान सकते हैं अपने को, तो यही कि आपकी रुचि क्या है, हाबी (Hoby) क्या है स्थाय क्या है, आपको क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा? कौन आपको ज्यादा पसंद है, और कौन कम। लेकिन यह तो अपनी इच्छा और पसंद को जानना है, अपने को नहीं। यदि अपनी इच्छा को जानना ही अपने आपको जानना हो, तो दूसरे आपको आप से अधिक जानते हैं, आपके घर के लोग आपकी पसंद और स्वभाव को आप से अधिक जानते हैं, दुकानदार जानता है कि आप किस ढंग से किस ढंग की चीज पसंद करते हैं, होटलवाला जानता है कि आपको चाट पसंद है या मिठाई, सब्जीवाला जानता है कि आपको बेंगन पसंद है या मूली, फिर भी आप कहते हैं कि दूसरे आप को नहीं जानते। यदि वे नहीं जानते तो आप भी अपने को कहां जानते हैं।

इच्छा और पसंद की बात छोड़िए, शरीर को ही लीजिए इसके विषय में आप इतना ही जानते हैं कि वह आपका है। पर उसमें वात का प्रकोप है या पित्त का, विटामिन 'बी' की कमी है या 'सी' की। यह, आप से अधिक वैद्य या डाक्टर ही जानते हैं। आप जानते हैं कि आपके भी चेहरा है पर वह कुटिल है कि सरल, यह दूसरे ही जानते हैं, आप नहीं। शायद आप कहें कि हम अपने दिल की बात जानते हैं, ठीक है, फिर भी अपने दिल का ठीक और पूरा हाल, आप नहीं जान सकते? इतना ही नहीं, कभी २ बहुत उल्टा ही आप उसे जान बैठते हैं, उसमें है तो प्रेम, पर आप जानते हैं घृणा, होता है क्रोध, पर समझते हैं 'क्षमा। आप जानते हैं कि आप के ललाट है और उसमें कुछ रेखाएँ हैं, इतना आप दूसरे के बारे में भी जानते ही हैं पर उन रेखाओं का जानना आपका नहीं; ज्योतिषी का काम है, वह भी दूसरों के भाग्य का हाल जान सकता है, अपने भाग्य का नहीं। कहते हैं कि नाई अपने बाल स्वयं नहीं बनाता और डाक्टर अपना इलाज स्वयं नहीं करता। ठीक इसी तरह, आप अपने आप को नहीं जान सकते। और जब अपने शरीर मन बुद्धि के बारे में आप नहीं जान सकते तो दुनिया भर को कैसे जान सकते हैं दुनिया तो बहुत बड़ी है, अपने घर, शहर, प्रांत और देश को भी नहीं जान सकते? जो जानते भी हैं वह आपका अपना नहीं, दूसरों का दिया हुआ ज्ञान है, वह भी इसलिए कि आप अपने आपको जान सकें, आप कहेंगे जब अपने आपको नहीं जान पाते तो दूसरों को जानकर अपने को कैसे जान लेंगे। क्योंकि दिया, जब अपने आपको प्रकाशित करता है तभी दूसरों को प्रकाशित कर पाता है।

ठीक है, पर दिया भी अपने आप नहीं जलता, उसे जलने को दूसरी लौ चाहिए, लेकिन जब जल उठता है तो फिर प्रकाशन ही उसका काम है, इसी तरह आप के बारे में भी आप तभी जान सकते हैं जब दूसरों को भी जानें, दूसरों को जानकर ही आप अपने को जानते हैं, और जानकर इस बात का अंदाज कर पाते हैं कि आप कितना जानते हैं, इस दुनिया की नाम-रूपात्मक वस्तुओं से, एक तो आपका ज्ञान का नाता है, और दूसरा भावना का। आप जिसे कुछ जानते हैं उसके प्रति कोई न कोई भाव भी बनाते ही हैं, यदि आप जानकर ही रह जायँ तो दुनिया का मजा ही किरकिरा हो जाय। फिर तो ठूंठ की तरह जानते ही रहिए। इस जानने से तो न जानना अच्छा। यदि आपने दूसरों से प्रेम नहीं किया, तो आप अपने को भी प्रेम नहीं कर

सकते, कभी किसी से घृणा नहीं की तो आप अपने पर भी घृणा नहीं कर सकते, दूसरों पर करुणा नहीं की, तो आप अपने पर भी द्रवित नहीं हो सकते ? और अपने को जानने के लिए, अपने आप से प्रेम घृणा और करुणा आदि की कितनी आवश्यकता होती है ? यह बताने की बात नहीं।

दुनिया में मनुष्य ने आजतक जो किया है वह अपने को जानने के लिए, उसने स्वर्ग नरक मोक्ष की कल्पना की, भूगोल को जाना और अणु बम की खोज कर डाली, पर अपने आपको नहीं जान सका जिस अपनी भावना का दुनिया में उसने विस्तार किया, उसीसे अपने आपको वंचित रखा, दुनिया भर को जानना बुरा नहीं है पर उसमें अपने को जानते रहना चाहिए, मैं अव्यक्त, सूक्ष्म आत्मा को जानने के लिए नहीं कह रहा हूं वह तो बड़े बड़े तपस्वी लोगों का काम है, पर आप तो दुनिया में हैं, मुक्ति के लिए या ब्रह्म में लीन होने के लिए अपने को जानना कितना उपयोगी है मैं नहीं जानता। जान भी नहीं सकता। फिर भी इतना तो जानता ही हूं कि दुनियादारी में चलने के लिए अपने आपको जानते रहने की निरंतर आवश्यकता है। मान लीजिए आपका किसी महामूर्ख से पाला पड़ जाय तो जान लीजिए कि आप कितने अक्लमन्द हैं, किसी असभ्य से टक्कर हो जाय तो जानते रहिए कि आप सभ्य हैं। कोई लठैत आकर तन जाय तो जान जाइए कि खैर नहीं, यदि उधार लेने वालों का तांता लग जाय तो जान लीजिए कि आपकी हैसियत क्या है ? यदि इच्छाएँ एक के बाद एक बढ़ती जायँ तो जान लीजिए कि आप क्या हैं ? जहां अपनी जानकारी आपने शुरू की, बहुत सी इच्छाएँ भाग खड़ी होंगी। चाहे आप क्रोध में हों या क्षमा में, चाहे घृणा में हों या स्नेह में, चाहे आशा में हो या निराशा में, चाहे पद पर हों या नीचे, चाहे सम्पन्नता में हों या विपन्नता में, जो भी हों, जहां भी हों, जैसे भी हों अपने को जानिए, जानते रहिए, यह जानना ही जीवन का मार्ग सुझाएगा, भटकने से बचाएगा, और हर समस्या को हल करने में सहायता पहुंचाएगा।

सांपू सरोवर

—श्री जयभिक्खु

उसकी आयु लगभग चालीस साल की रही होगी। गुलाब की कली के समान गौरवर्ण एक अंग्रेज युवक मारवाड़ की सूखी भूमि पर यात्रा कर रहा था। उसके कन्धे पर बन्दूक थी और छाती पर दूरबीन लटक रही थी। पीठ पर पानी की बोतल थी।

मारवाड़ की रेतीली भूमि पर भयंकर आँधियाँ उठ रही थीं। क्रूर मनुष्य के हृदय के समान सारा प्रदेश नीरस एवं सूखा था। हवा भी किसी क्रोधी के निःश्वास के समान उत्तप्त थी। गोरा बार बार अपनी बोतल से पानी निकाल कर ओठ गीले कर रहा था। जिस प्रकार कृपण धन खर्चने में कंजूसी करता है वह भी पानी के लिए कंजूस बना हुआ था।

मारवाड़ की राजधानी जोधपुर वहाँ से लगभग बीस कोस होगी। टूटे हुए देवल और रावल तथा आक एवं बबूल के झाड़ यह मानवी श्रद्धा एवं निसर्ग वरदान के समान खड़े थे। घूमते घूमते अब वह बहुत थक गया था। रास्ते की लाल मिट्टी ने उसकी ब्रिजेस को भी लाल बना दिया था। उसने दूरबीन को आँखों पर चढ़ाया और चारों दिशाओं की ओर देखा। उसका ध्यान पश्चिम की ओर विशेष आकृष्ट हुआ। दूरबीन नीची की और पीतल के चमकते हुए बटनों वाले फौजी कोट की जेब से एक नक्शा निकाला।

हाथी छाप के पतले कागज पर पैंसिल की धुंधली रेखाओं से नक्शा बना हुआ था। उसे देखते देखते वह धीरे से अपने आप बोलने लगा—

"यह रहा जोधपुर। यहाँ से ढाई मील नादोल गाँव है। वहाँ शेखावत सरोवर है। यहाँ से बारह मील वीसलपुर! जो भूकम्प के कारण भूमिसात् हो गया है। वीसलपुर से पाँच कोस पाँचकूला है। यहीं पर जूरी नदी है। पाँचकूला से पीपलनगर चार कोस है जो कि शैव तथा जैनों की प्रसिद्ध नगरी है। इस पीपलनगर के पास ही सांपू सरोवर अर्थात् सर्प सरोवर है।

अंग्रेज ने नक्शे में से सिर उठाया तथा आकाश में दूर से आते हुए बतखों के झुंड पर नगर डाली। थोड़ी देर सोचकर बोला—निश्चय से यही सांपू सरोवर है।

उसने फिर एक बार अपनी पानी की बोतल खोली तथा पहले की अपेक्षा

अधिक पानी पीया। फिर कदम उठाए। अंगार बरसने वाली मारवाड़ की दोपहरी बीत चुकी थी किन्तु हवा अभी भी गरम थी। क्षितिज पर संध्या की लालिमा फैलते फैलते अंग्रेज सांपू सरोवर के किनारे पहुँच गया।

सामने एक विशाल सरोवर था। उसके घाट मजबूत पत्थरों के बने हुए थे। किनारे पर नीम के वृक्षों की घनी छाया थी। एक ओर खंडहर की स्थिति में धर्मशाला थी और दूसरी ओर ताज़े जीर्णोद्धार वाला शिवमन्दिर। शिवमन्दिर के पीछे बिल्व के वृक्षों की लाइन थी।

मन्दिर के लिए बनाई गई एक छोटी सी पुष्पवाटिका भी थी।

रेगिस्तान में सिके हुए यात्री के लिए यह दृश्य अत्यन्त उत्साहवर्धक था। उसने पीठ पर लटकती हुई पानी की बोतल फिर हाथ में ली और कोर्क खोल कर सारा पानी पी गया। एक तृप्ति की डकार के साथ वह आगे बढ़ा।

पास ही नीम की छाया में ऊँट तथा बकरियाँ चराने वाला एक चरवाहा बैठा था। अंग्रेज की ओर वह भय और आश्चर्य मिश्रित दृष्टि से देख रहा था। गोरे को पास आते देख कर उसने वृक्ष के पीछे छिपने का प्रयत्न किया किन्तु इतने में ही अंग्रेज ने उसे इशारे से बुलाया। उसकी आँखों में अधिकार का तेज था।

चरवाहा डरा। भागने के लिए चारों ओर देखा। किन्तु बन्दूक के सामने भागना शक्य न समझ कर वह काँपता हुआ अंग्रेज के पास आया। गोरे ने हिन्दुस्तानी में पूछना प्रारम्भ किया—

"इस तालाब का क्या नाम है ?"

"हुजूर, सांपू सरोवर।" चरवाहे ने काँपती आवाज में उत्तर दिया।

"आल राइट, इस गाँव का नाम क्या है ?"

"पीपलिया"

"पीपलिया ?" गोरे ने प्रश्न किया और जेब में से नक्शा निकाल कर देखते हुए बोला—

"अच्छा, पीपलिया—पीपलनगर !"

"हां, साहेब !" चरवाहे को साहेब के सरल स्वभाव से कुछ हिम्मत आ गई।

"और यह मन्दिर ?"

"शिव जी का।"

"यहाँ कोई रहता है।"

"हाँ, ११० साल के योगिराज रहते हैं।"

"एक सौ दस साल ! वन हंड्रेड एण्ड टेन ! हम्बग !" मन ही मन इतना कह कर अंग्रेज ने चरवाहे से कहा—

"हमको योगिराज से मिला दो। हम तुम को बक्शीस देगा।"

बक्शीस और वह भी एक अंग्रेज की। चरवाहे की नजर में वह भोजराजा का वरदान था। चरवाहा आगे हो लिया और थोड़ी देर में दोनों मन्दिर के पीछे योगिराज की गुफा में पहुँच गए।

योगिराज अभी अभी समाधि में से उठे थे। उनकी जटाएँ, विशाल ललाटपट्ट, ब्रह्मचर्य के तेज से चमकता हुआ शरीर किसी सिद्ध योगीन्द्र का परिचय दे रहे थे।

अंग्रेज ने आदर पूर्वक योगिराज को प्रणाम किया और घुटने मोड़ कर सामने बैठ गया। योगिराज की आंखें उस निर्भय अंग्रेज पर जमी हुई थीं। इतने में उसने बोलना शुरू किया।

"आप योगिराज हैं ?"

"हाँ"

"क्या आप की आयु ११० वर्ष की है ?"

"योगी वर्ष की गिनती नहीं करते क्षण की कीमत करते हैं।"

इस आध्यातिम उत्तर को अंग्रेज नहीं समझ सका। वह फिर बोला— "क्या मनुष्य सौ या दो सौ वर्ष जी सकता है ? हम तो इसे अत्युक्ति मानते हैं।"

"जरूर जी सकता है। यह अत्युक्ति नहीं है।" योगिराज ने चांदी के तारों के समान अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा।

"देखो, मैं तुम को एक बात कहता हूँ, तुम्हारे वर्ष में और हमारे वर्ष में फरक है। तुम्हारे वर्ष में पल, विपल, मिनट, घण्टे, पहर तथा दिनों की गिनती है। हमारे वर्ष में सांसों की गिनती है। स्वस्थ मनुष्य एक दिन में साधारणतया जितने सांस लेता है, उतने सांस पूरे होने पर हमारा एक दिन होता है। ऐसे तीन सौ पैंसठ दिनों का एक वर्ष होता है। भारत के

योगी सांस को रोकने की कला जानते हैं। इसी को प्राणायाम या समाधि कहते हैं। इसके द्वारा वे अपनी आयु को लम्बा लेते हैं। वास्तव में देखा जाय तो दीर्घ या अल्प जीवन का आधार श्वासोच्छ्वास हैं। दिन, घड़ी, पल आदि नहीं हैं।"

'गुड'—अंग्रेज बोला। उसे योगी की बात पर विश्वास तो न हुआ किन्तु कुतूहल जरूर हुआ। उसने अपनी डायरी निकाली और योगी की बात को नोट कर लिया।

"महाराज! यह चरवाहा कहता है कि आप इस सरोवर का इतिहास जानते हैं। मैं इतिहास की खोज में निकला हूं। क्या आप कृपा करके इसका इतिहास बताएँगे ?" अंग्रेज ने अपने मतलब की बात की

"इस सरोवर का नाम है सांपू सरोवर अर्थात् सर्पसरोवर। शैव तथा जैनों ने एक साथ मिलकर इसे खुदवाया है।"

"अच्छा! दो अलग अलग धर्मवालों ने मिलकर इसे बनवाया। मैंने सुना है, हिन्दुस्तान में धर्म और जातपाँत के बहुत झगड़े हैं। एक हिन्दुओं में भी हजारों जातियाँ हैं। हर एक का देवता अलग अलग है।"

"ऐसा झगड़ा इस नगर में भी चला था। शैवों ने जैनियों की जड़ खोदनी चाही और जैनियों ने शैवों को नष्ट करने की ठान रखी थी। कई वार हाथापाई तथा लाठियों की नौबत आ गई। किन्तु अन्त में दोनों को समझ आगई। दोनों ने समझा धर्म तो शान्ति तथा समन्वय में हैं। परस्पर प्रेम में हैं। भाईचारे में हैं। दोनों ने परस्पर द्वेष की भयंकर आग इस सरोवर के शीतल जलसे शान्त की। उसी मित्रता की स्मृति में दोनों के सम्मिलित प्रयत्न तथा धन से यह सरोवर बना है।"

"फ़ाइन हिस्टोरिकल फैक्ट! बाबा, यह इतिहास कहीं संगृहीत भी है ? कहीं साल संवत् हैं, या किसी किताब में इसका उल्लेख है ? मैं उस झगड़े का इतिहास जानना चाहता हूँ।" अंग्रेज के मन में ऐतिहासिक तथ्य जानने की उत्कट अभिलाषा थी।

योगीराज एक दम शान्त हो गए। जलप्रवाह के समान गम्भीर निनाद करते हुए उन्होंने कहा—"हमारे यहाँ इतिहास लिखने की प्रथा नहीं है। विशेषतया इस प्रकार झगड़े से भरे हुए इतिहास का हम कभी संग्रह नहीं करते। हम ऐसे इतिहास को भूल जाना चाहते हैं।" योगीराज ने खंखारते

हुए कहा—"तुम्हारा इतिहास द्वेष तथा झगड़ों का अखाड़ा बना हुआ है। पचीसों पीढ़ियाँ बीतने पर भी तुम उस लड़ाई झगड़े को ताजा रखते और आनेवाली पीढ़ी को वैर का वारसा दे जाते हो। जो इतिहास मनुष्य में मान-अपमान तथा द्वेष को भड़काता है, हम उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं।"

"तो क्या इसका कोई इतिहास नहीं मिलेगा?" अंग्रेज ने चर्चा में न पड़ते हुए अपने काम की बात शुरू की।

"मिलेगा। इसके पीछे एक लोक कथा है।"

"मैं उस कथा को सुनना चाहता हूँ। यद्यपि लोक कथाओं को इतिहास नहीं कहा जा सकता।"

हमारे यहाँ इतिहास लोककथाओं में ही सन्निहित है। उनमें लड़ाई झगड़ों को छोड़कर इतिहास का सार ले लिया गया है। सुनो, अब उस कथा को। योगिराज ने बात शुरू की—

"यह पीपलिया गाँव पुराने समय में वैभवशाली नगर था। इसका उस समय का नाम था पीपलनगर। यहीं पर पीपा नाम का ब्राह्मण रहता था। वह गुणवान् तथा तपस्वी था।

"यहाँ एक छोटा सा तालाब था। उसके किनारे एक तक्षक जाति का साँप रहता था। पीपा ब्राह्मण उस साँप को रोज दूध पिलाता था। साँप भी उस पर प्रसन्न होकर बदले में अपनी बांबी में से दो सोने की मोहरें लाता और उसे दे देता। इस प्रकार पीपा और साँप की मित्रता चल रही थी।

एक बार पीपा को किसी दूसरे गाँव जाना पड़ा। उसने साँप को दूध पिलाने का काम अपने पुत्र को सौंप दिया। पुत्र रोज दूध ले जाकर पिलाने लगा। उसे भी साँप दो मुद्राएं देता था।

पीपा निर्लोभी तथा संतोषी था। किन्तु उसके पुत्र के मन में एक दिन बिचार आया—इस साँप के पास बहुत धन है। इसे मार दिया जाय तो सारा धन एक साथ ही मिल जाएगा। रोज का आना छूट जाएगा।

दूसरे दिन वह एक लाठी और दूध एक साथ लेकर वहाँ पहुँचा। बाएं हाथ में दूध का कटोरा ले लिया और दाहिने हाथ में लाठी पकड़ कर उसे पीठ पीछे छिपा लिया। साँप रोज की तरह आया और निश्चिन्त होकर दूध पीने लगा। उसी समय ब्राह्मण के बेटे ने उसके सिर पर लाठी मारी।

लाठी का प्रहार भयङ्कर था, किन्तु साँप मरा नहीं। वह झटपट अपने बिल में घुस गया। ब्राह्मण का पुत्र घर आया। उसने सारी बात अपनी माँ को सुनाई। माता को लगा कि घायल साँप बदला लिए बिना न रहेगा। उसे अपने बेटे के प्राण संकट में दिखाई दिए। उसने उसी समय अपने पुत्र को किसी दूसरे गाँव भेजने की तैयारी शुरू कर दी। बैलगाड़ी और सारा सामान तैयार कर लिया और निश्चय हुआ कि दिन निकलते ही प्रस्थान कर दिया जाय।

माता दिन चढ़ने से पहले ही पुत्र को जगाने गई। किन्तु वहाँ का दृश्य देख कर उसके मुंह से चीख निकल पड़ी। एक काला साँप बिस्तर में फण फैला कर बैठा हुआ था और पुत्र का शरीर जहर के कारण नीला पड़ गया था। माँ सिर पटक रोने लगी, किन्तु अब क्या हो सकता था।

ब्राह्मण अपना काम पूरा करके गाँव से लौटा तो उसको दुःखद समाचार मिले। एक बार उसके मनमें आया कि वैर का बदला लेना चाहिए। किन्तु दूसरे ही क्षण वह गम्भीर विचार में पड़ गया। वह उसी समय दूध का कटोरा लेकर साँप के निवास स्थान पर पहुँचा। दूध का कटोरा नीचे रख कर बोला—

"सर्पराज! दूध पीओ। जो बीत गया उसे भूल जाओ।"

साँप आया। दूध पीआ। खुश होकर उसने अपना सारा खजाना पीपा को सौंप दिया। पीपा ने उस धन से यह नगर बसाया और तालाब खुदवाया।"

इतना कह कर योगिराज ने आसन बदला। अंग्रेज उनके सामने झुक कर बोला—बाबा जी, मेरा नाम कर्नल जेम्स टाड है।

भाई! हमें नाम से क्या लेना है, काम क्या करते हो?

"मैं राजपूताने का पोलिटिकल एजण्ट हूँ।"

"राज्याधिकारी हो! सारी प्रजा को अन्न वस्त्र तथा इज्जत मिले, इस बात का ध्यान रखना तुम्हारा काम है। पृथ्वी पर कोई राव राजा या हाकिम अमर नहीं रहा और रहेगा भी नहीं। सिर्फ काम ही अमर रहेगा।"

इतना कह कर योगिराज समाधि में उतर गए। अंग्रेज सांपू सरोवर के किनारे घूमता हुआ भारतीय योगियों के विषय में सोच रहा था।

सूरज पश्चिम की ओर ढल चुका था। दिन भर बाहर घूमने वाले पक्षी अपने घोंसलों में पहुँच चुके थे।

—अनु० इन्द्र
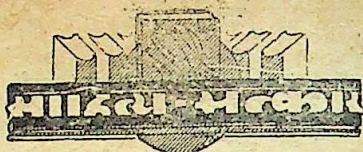
साहित्य संदेश (आधुनिक काव्याङ्क)

प्राप्तिस्थान—साहित्यरत्न भंडार, आगरा; मूल्य १)

सहयोगी 'साहित्य-संदेश' प्रतिवर्ष वर्षारंभ में साहित्य संबंधी विषयों पर एक महत्वपूर्ण विशेषाङ्क निकालता है। इस वर्ष जनवरी-फरवरी का अंक 'आधुनिक काव्यांक' के रूप में और मार्च का अंक इसी के परिशिष्टाङ्क के रूप में निकाला है। प्रस्तुत दोनों अंक हिन्दी तथा अन्यप्रांतीय भाषाओं में अब तक हुए काव्यसाहित्य के विकास एवं परिचय संबंधी विविध अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गए लेखों से अलंकृत महत्वपूर्ण बन गए हैं। लेखों का क्रम कुछ व्यवस्थित नहीं हो पाया है। जान पड़ता है जैसे जैसे लेख आते गए, वैसे ही छपते गए हैं। हिन्दी के प्रमुख काव्य निर्माताओं का उनकी अपनी लेखनी से अपने काव्य का परिचय इस अंक का प्रमुख आकर्षण है। पर इसमें भी लेखकों को क्रम से नहीं रखा गया है।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, श्री शिवदान सिंह चौहान, प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त, डा० हरदेव बाहरी आदि विद्वानों की रचनाओं से इस अंक का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। 'आधुनिक काव्यांक' साहित्य संदेश के विशेषाङ्कों की परम्परा में एक नया पर स्थायी महत्व का गौरवपूर्ण प्रयास है।

—महेन्द्र राजा

गुरुकुल वार्षिक पत्रिका—

प्रस्तुत पत्रिका श्री जैन गुरुकुल विद्यामन्दिर, ब्यावर की वार्षिक पत्रिका है। यह पत्रिका का दूसरा अंक है। प्रारंभ में गुरुकुल विद्यामन्दिर भवन का सुन्दर चित्र है। कविता लेख, कहानी, चुटकला आदि सभी प्रकार की सामग्री से युक्त होने के कारण पत्रिका छोटी आयु एवं प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने वाले बालकों के लिए शिक्षाप्रद एवं रसप्रद है। विषयों के चुनाव में विविधता होते हुए भी सांस्कृतिक एवं तात्त्विक विषयों का अभाव कुछ खटकने वाला है। दो चार गंभीर लेखों को भी स्थान दिया जा सकता तो पत्रिका की प्रतिष्ठामें और वृद्धि होती। अधिकारियों का प्रयत्न सराहनीय है। हम इसके उज्ज्वल भविष्य की आशा रखते हैं।

—मोहनलाल मेहता

जैन कला पर व्याख्यान

ता० १२, १३, और १५ मार्च को श्री जैन संस्कृति संशोधन मंडल की ओर से डॉ० उमाकान्त शाह के जैन कला के विषय में तीन व्याख्यान बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के कॉलेज ऑफ इन्डोलोजी में हुए थे। विषय थे—(१) उत्तर भारत में जैन शिल्प स्थापत्य और चित्रकला का विहंगावलोकन, (२) जैन कला में प्रतीक-पूजा।

व्याख्याताने तीनों दिनों के विषय की विवेचना प्राचीन जैन अवशेषों के चित्रों के साथ की थी।

पहले व्याख्यान में थोड़े ही समय में वक्ता ने उत्तर भारत के प्रत्येक प्रान्त के प्राचीन जैन अवशेषों का विहंगावलोकन किया और बताया कि सबसे प्राचीन जैन अवशेष है—पटना के निकट लोहानिपुर से मिली हुई कायोत्सर्ग स्थित जिन प्रतिमा। यह प्रतिमा यद्यपि खण्डित है किन्तु उस पर मौर्यकालीन चमक (Polish) दिखाई देती है। प्रागैतिहासिक युग के—मोहन्जो-दड़ो या हरप्पा के अवशेषों में मुद्राओं पर दिखाई देती हुई खड़ी आकृतिओं का संबंध जैनधर्म के साथ अभी जोड़ना कठिन है; क्योंकि जहाँ तक मुद्राओं की चित्रलिपि पढ़ी नहीं जाय वहाँ तक उस प्रजा के धर्म के बारे में कुछ निश्चित अनुमान नहीं कर सकते। दूसरा व्याख्यान जो दो हिस्सों में दिया गया उसमें जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों संप्रदाय के साहित्य और कला में चैत्यस्तूप, चैत्यस्तंभ, चैत्यवृक्ष इत्यादि का विकास बताया गया है और साथ में मथुरा के आयागपटों का मर्म और आयागपटों की प्रथा का मूल—जो कि प्राचीन यक्ष-नाग-भक्ति में शिलापट की पूजा के रूप में था बताया गया। बलिपट्ट के नाम से आचार्य हेमचन्द्र ने जिसका उल्लेख किया है ऐसे अष्टमांगलिक चिह्नांकित इन पटों की चित्रकारी का मर्म बताया गया। साथ ही दूसरे प्रतीक जैसे कि नंदीश्वर द्वीपपट, दूसरे तीर्थों के पट, इत्यादि पटपूजा के प्राचीन अवशेषों का सचित्र उदाहरण दिया गया। स्थापनाचार्य, रजोहरण, चतुर्दश या षोडश स्वप्न, अष्ट मंगल, मेरुपूजा इत्यादि अन्य प्रतीकों की चर्चा की गई।

व्याख्याता ने चौसा (बिहार), अकोटा (गुजरात) और वसंतगढ़ (मारवाड़) की प्राचीन जैन धातु प्रतिमाओं के चित्र दिखलाए और साथ में जैन मूर्तिपूजा का विकास, विद्यादेवी, यक्षिणी, लांछन इत्यादि के विकास में बारे के अपने संशोधन का निष्कर्ष बताया।

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम ने करीब छ महीने पहले इसी तरह एक बड़े विद्वान् डॉ० प्रबोध पंडित की सुंदर व्याख्यान माला रखी थी। जिसमें प्राकृत भाषाओं पर तीन व्याख्यान हुए थे। इस तरह दोनों संस्थाएँ मिल करके जैन और भारतीय संस्कृति के अभ्यास में सुंदर सेवा का कार्य कर रही हैं आशा है कि इन दोनों व्याख्याताओं के व्याख्यान जल्द ही इन संस्थाओं की ओर से प्रसिद्ध हो जाएँगे। डॉ० शाह के व्याख्यानों को ठीक सचित्र छपाना चाहिए। और ऐसे जैन कला के अभ्यासपूर्ण ग्रन्थों की छपाई के लिए संस्कृति मंडल को जैनधर्म प्रेमी गृहस्थ आर्थिक सहायता देंगे तो जैनकला विषयक ग्रन्थों की कमी पूरी हो सकेगी और डॉ० शाह के अन्य व्याख्यान वास्तव में शीघ्र ही प्रसिद्ध हो सकेंगे।

तीनों दिन सभापतित्व डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जी ने किया था और अन्तमें इन्डोलाजी कोलेज के प्रिन्सिपल ने व्याख्याता को धन्यवाद दिया था।

—दलसुख मालवणिया
मंत्री

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस—५

श्रमण

सम्पादक
डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम.ए., पी-एच. डी.

अंक ८

इस अंक में—

'श्रमण' के विषय में—

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाए जाते हैं
३. श्रमण में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें
६. वार्षिक मूल्य मनिऑर्डर से भेजना ठीक होगा
७. समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति =)

प्रकाशक—कृष्णचन्द्राचार्य,

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ५ जून १९५४ अंक ८

अमर वाणी

—कवि श्री अमरचन्द जी महाराज—

भगवान् वह, जो अपने विकारों से लड़ सके। केवल लड़ सके ही नहीं, विजय भी प्राप्त कर सके। और वह विजय भी, वह विजय हो, जो फिर कभी पराजय में न बदल सके।

भगवान् वह, जो संसार की अँधेरी गलियों में भटकता हुआ मनुष्य बना हो, मनुष्य बनकर अपनी मनुष्यता का पूर्ण विकास कर पाया हो। मनुष्यता के स्वस्थ विकास की पूर्ण कोटि ही भगवान् का परम पद है।

क्या वह भगवान् है जो दुष्टों की दुष्टता का नहीं, अपितु दुष्टों का ही नाश करने अवतरित हुआ हो। दुष्टता के नाश के लिए पहले दुष्टों का नाश करना, यह तो सभी दुनियादार लोग कर रहे हैं, इस में भला भगवान् की क्या विशेषता ? भगवान् तो वह, जो दुष्टों के नाश के लिए पहले उन की दुष्टता का नाश करे। दुष्टता को सज्जनता में बदलना, विष को अमृत में परिणत करना, यह ही है एक मात्र भगवान् की भगवत्ता !

तलवार के सहारे फैलने वाला धर्म, धर्म नहीं हो सकता। और वह धर्म भी, धर्म नहीं हो सकता, जो सोने-चांदी के चमकते प्रलोभनों की छाया में

पनपने वाला हो ! सच्चा धर्म, वह धर्म है, जो भय और प्रलोभन के अवलम्बन से ऊपर उठ कर तपस्या और त्याग के, मैत्री और प्रेम के सुनिर्मल भावना शिखरों का सर्वाङ्गीण स्पर्श कर सके।

धर्म का लक्ष्य क्या है ? विकारों से मुक्ति, वासनाओं से मुक्ति। और अन्त में परम सत्य की साधना के बल पर सदा काल के लिए जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति।

जैनधर्म के अनुसार आत्मा, शरीर और इन्द्रियों से पृथक है, मन और मस्तिष्क से भी भिन्न है। वह जो कुछ भी है, इस मिट्टी के ढेर से कहीं परे है। वह जन्म लेकर भी अजन्मा है, मर कर भी अमर है।

कुछ लोग आत्मा को परमात्मा या ईश्वर का अंश कहते हैं। परन्तु वह किसी का अंश नहीं है, किसी महात्मा का स्फुलिंग नहीं है। वह स्वयं पूर्ण परमात्मा है, महानता है। आज वह अवश्य बे-बस है, बे-भान है, लाचार है। परन्तु जब वह मोह माया और अज्ञान के परदों को भेद कर, छिन्न-भिन्न कर, उन्हें अलग कर देगा तो अपने पूर्ण परमात्म-स्वरूप में चमक उठेगा, अनन्तानन्त ज्ञानप्रकाश से जगमगा जायगा।

एक कर्तावादी दार्शनिक कहता है—'हम मिश्री चखना चाहते हैं, मिश्री की डली बनना नहीं चाहते।' आप का अभिप्राय यह है कि 'हम परमात्मा के दर्शन का आनन्द लेना चाहते हैं, परमात्मा बनना नहीं चाहते।' परन्तु मैं इस दार्शनिक विचार में कतई विश्वास नहीं रखता। मैं कहूँगा—मैं मिश्री चखना भी चाहता हूँ, और साथ ही मिश्री बनना भी चाहता हूँ। मिश्री अर्थात् अनन्त आत्म-गुणों की अनन्त मधुरिमा ! मैं स्वयं अपने रस का चखने वाला हूँ। दूसरों के रस पर कब तक ललचाई दृष्टि रक्खूँ ? राजा बनने में आनन्द, या राजा के दर्शन करने में !

ईश्वर या परमात्मा अन्दर ही है, अन्दर ही है, बाहर कहीं भी किसी भी स्थान पर नहीं। जब यह बात है तो फिर पूजा किस की करें, ध्यान किस का धरें ? उत्तर आज का नहीं, लाखों वर्षों का है—अपना, अपना और अपना ! यही कारण है कि श्रमण संस्कृति का प्रतिक्रमण ईश्वरीय प्रार्थनाओं की ओर प्रगति नहीं करता, वह प्रगति करता है—आत्मनिरीक्षण एवं आत्म-मनन की ओर !

मनुष्य जितना ही अपने को छोटा समझता है, वह उतना ही बड़ा बनता है, श्रेष्ठ बनता है। मनुष्य की महिमा अहंकार में नहीं, नम्रता में है, अकड़ने में नहीं, झुकने में है! 'नीच होइ सो झुक पिये, ऊँच पियासा जाय।' सरोवर के मधुर जल को पीने के लिए तन कर खड़े न रहो, जरा नीचे झुको!

सच्चा धर्म यह नहीं पूछता कि 'तुम गृहस्थ हो या साधु हो?' वह तो जब भी पूछता है, यही पूछता है कि साधक! तेरा क्रोध, तेरा अहंकार, तेरा दंभ और तेरा लोभ कितना घटा है, कितना मिटा है?

मनुष्य के सामने सबसे बड़ा आदर्श क्या है? मनुष्य के सामने सबसे बड़ा आदर्श अपने आपको परिष्कृत कर—सँवार कर—साफ कर पूर्ण और उत्कृष्ट बनाना है, नर से नारायण बनना है। गरुड की उडान के आदर्श गगनचुम्बी हिमशिखर हैं, और मक्खी मच्छरों के कूड़े के ढेर। मनुष्य जहां बाहर में मक्खी मचछर है, वहाँ अन्दर में गरुड़ है। बाहर की उड़ान त्याग कर अन्दर की उड़ान अपनाने में ही मनुष्य की महत्ता है।

मनुष्य! तू यह न समझ कि तेरी भलाई और बुराई तेरी अपनी व्यक्तिगत है, अतः वह तेरे तक ही सीमित है, महदूद है। हमारे प्रत्येक कार्य का प्रभाव विराट संसार में दूर दूर तक पड़ता है। क्या यह सत्य नहीं है कि एक कोने में कंकड़ी फेंकने से सरोवर की सम्पूर्ण जलराशि तरंगित हो उठती है?

ईश्वर की पूजा न फल फूल चढ़ाने में है और न दीप जलाने में! ईश्वर की सच्ची और श्रेष्ठ पूजा यही है कि मनुष्य, ईश्वरीय आदर्शों को —अच्छे और भले विचारों को अपने आचरण में उतारें, ईश्वर के निर्देशानुसार अपना जीवन व्यतीत करें।

धर्म को न पुराना होने की कसौटी पर चढ़ाओ और न नया होने की कसौटी पर। धर्म का महत्त्व उसकी स्व-पर हितकारिणी पवित्र परंपराओं एवं आचार विचारों में है, नये-पुरानेपन में नहीं।

क्या आपको पुराने का मोह है; यदि आपको पुराने का मोह है तो पुराने कटे-फटे मैले चिथड़े पहनो, पुरानी बासी सड़ी गली रोटियाँ खाओ,

पुराने टूटे फूटे ध्वस्त खंडहरों में रहो। क्या आपको नये का मोह है? यदि आपको नये का मोह है तो आम की नई कच्ची केरियाँ चूसो, नए अंकुरित वृक्ष की शीतल छाया में विश्राम करो, बिल्कुल नए आज के जन्म पाए बच्चे को दूकान और दफ्तर का काम सौंप दो। कोई भी विचारक नए पुराने के मोह में नहीं पड़ता है। वह तो एक ही बात देखता है, वस्तु की द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार उपयोगिता।

पुरानी, किन्तु आज के युग में अनुपयोगी परंपराओं एवं रूढियों से चिपटे रहना धर्म नहीं है। धर्म है, उनको नष्ट कर नई उपयोगी परंपराएँ चालू करना। क्या कभी पुराने से पुराने घरों को जनहित की दृष्टि से गिराना धर्म नहीं है?

जो धर्म एक ओर नरक का डर दिखाता है और दूसरी ओर स्वर्ग का लालच देता है। वह धर्म क्या खाक जनता का कल्याण करेगा? सच्चा धर्म सत्य के अमर स्वर का गायक होता है। डराने और ललचाने वाला नहीं।
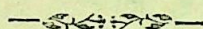
आजादी आत्मा की खास हालत का नाम है, न कि मुल्क में किसी खास हुकूमत का। शेर पिंजड़े में रहकर भी कुछ आजाद है। क्योंकि वह आदमी की गाड़ी नहीं खींचता। बैल और घोड़े खुले रहकर भी गुलाम हैं। क्योंकि वह जुए या साज के नीचे एक टिटकारी पर सिर झुकाकर गर्दन या पीठ लगा देते हैं।

× × ×

—महात्मा भगवानदीन

मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं।

परिस्थितियाँ मनुष्य को कष्ट पहुँचा सकती हैं, धक्का दे सकती हैं, पर रगड़कर नष्ट नहीं कर सकतीं। मनुष्य परिस्थितियों से बड़ा है, बशर्ते वह मनुष्य हो, कामक्रोध का पुतला जड़पिंड नहीं, लोभ-मोह का गुलाम पशु नहीं, किसी प्रकार जीवित रहकर मरने की तैयारी करने वाला भुनगा नहीं— 'मनुष्य'! ऋषि ने ऐसे ही मनुष्य की याद करके कहा था—तुमसे यह गुप्त रहस्य बताए जाता हूँ, मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है—"गुप्त ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्!"

अब उठो चलो

अब उठो चलो, जागो बदलो
अब उठो चलो......
नैराश्य निशा का अन्त हुआ,
ले अरुण ज्योति संदेश चलो।
इस विचलित विश्व उदधि में भी,
हे तरुण तरी ले पार चलो॥
अब उठो चलो......

उन्नत हिमगिरि का उच्च शृङ्ग,
कहता है मेरी ओर चलो।
चिल्लातीं सागर की लहरें,
ठोकर से पर्वत तोड़ चलो॥
अब उठो चलो......

इंगित करते कंकर पत्थर,
बन मीनारें नभ चूम चलो।
पुष्पों की मादक हास सुधा,
मानस पनघट भर झूम चलो॥
अब उठो चलो......

माया मद में खोये साथी।
जर्जर दुखियों से गले मिलो।
वैभव विकास की चकाचौंध,
बन कर कुटियों में दीप जलो॥
अब उठो चलो......
जागो बदलो, अब उठो चलो

—श्री जीवनमल संकलेचा एम० ए०

हमारी क्रान्ति का कारण

—पं० बेचरदास जी दोशी

—गताङ्क से आगे—

यह बात भी वेदों में विहित हिंसा प्रधान काम्य प्रवृत्तियों को स्पष्टरूप से सूचित करती है। भगवान् महावीर ने धर्म के नाम से प्रचलित इस आलम्भ–हिंसा का विरोध प्रारम्भ किया। गणधरवाद नाम के सर्वप्रथम वाद में महावीर ने उस समय के अग्रणी ब्राह्मणों को अपनी रीति से वेद का अर्थ समझाने का प्रयत्न किया था, यह बात प्रसिद्ध है। जिस समय लोग वेद को भगवान् मानते थे, उसी समय वेद के प्रामाण्य को ठुकरा कर उसमें बताए गए हिंसात्मक विधानों का विरोध करना साधारण क्रान्ति नहीं है। उसके अतिरिक्त उन्होंने जड़ क्रियाकांड का भी प्रबल विरोध किया था। भगवान् पार्श्वनाथ के समय में प्रचलित अज्ञान कायकष्ट, पुरोहितों की असाधारण सत्ता, उनपर भोली एवं अज्ञान प्रजा की असीम भक्ति, उनके सभी दुराचारों को सह लेने की अन्धश्रद्धा आदि बातें उस समय अत्यन्त व्यापकरूप से प्रचलित थीं। यज्ञ में विहित हिंसा के विधान तो क्रूरता की पराकाष्ठा थे। इस प्रकार एक ओर हिंसा, मदिरापान एवं असत्य भाषण का धर्म के रूप में खुला प्रचार, दूसरी ओर ब्राह्मणों की उच्चता, पुरोहितों की असाधारण सत्ता, शूद्रों की अस्पृश्यता, गुलाम खरीदने की प्रथा, शास्त्रों में लोकभाषा का निषेध, शास्त्र भाषा को उत्तम तथा लोकभाषा को निकृष्ट मानना; तीसरी ओर 'क्षतात् त्रायते' (आक्रमण से बचाने वाला) का अपना धर्म छोड़कर स्वच्छन्द तथा विलासी बने हुए क्षत्रिय– इस प्रकार सर्वव्यापी पतन के सामने खड़े होकर भगवान् महावीर ने अपनी साधना द्वारा क्रान्ति का प्रारम्भ किया। अपने त्याग, असाधारण संयम तथा कठोर जीवन द्वारा अमर्याद भोग विलास में डूबी हुई जनता के जीवन में पलटा लाने का निश्चय किया और इसी प्रक्रिया द्वारा सच्चा यज्ञ किसे कहते हैं, अपनी धार्मिक परम्परा में भी शुद्धीकरण की प्रवृत्ति प्रारम्भ की। उत्तराध्ययन में भगवान् ने बताया है कि वास्तविक स्नान किसे कहते हैं, खरा ब्राह्मण किसे कहते हैं। इस प्रकार उन्होंने धर्म का अङ्ग मानी जाने वाली बाह्य वस्तुओं की अन्तर्मुखी सर्वसम्मत व्याख्या की और उसका लोगों में प्रचार किया।

प्राचीन समय में जिन चार व्रतों की व्यवस्था थी, उनमें पाँचवें व्रत ब्रह्मचर्य की वृद्धि करके पाँच यम पालन करने की घोषणा की। संयम की साधना के लिए वस्त्र आदि जो उपकरण अत्यावश्यक प्रतीत हों, अल्प मात्रा तथा सादे रूप में रखना चाहिए, ऐसा कहकर महँगे तथा रंग-विरंगे कपड़ों का निषेध किया। साथ में यह भी घोषणा की, कि जो साधु अपनी साधना के लिए किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं समझता, वह बिना वस्त्रों के भी रह सकता है। स्वयं भी उन्होंने किसी उपकरण को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उग्र मनःशुद्धि, तपश्चरण तथा भाषासमिति पर विशेष लक्ष्य देने का निश्चय किया। ऊपर रहने वाला ईश्वर या कोई देव हमें सुखी करने के लिए नहीं आता। हमारे सुखदुःख हमारी अपनी प्रवृत्तियों तथा अपने संस्कारों पर निर्भर हैं। इस सुख या अभ्युदय की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपनी प्रवृत्तियों या संस्कारों का शुद्धीकरण करना चाहिए, इस प्रकार उन्होंने देववाद या ईश्वरवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की स्थापना की। इसी को लक्ष्य में रखकर परम्परा से चले आते हुए कर्मवाद का भी विवेचन किया। उन्होंने कहा—'क्रियते तत् कर्म' (जो किया जाता है) यही कर्म की प्रसिद्ध व्युत्पत्ति है। यदि समाज तथा व्यक्ति की दैनिक प्रवृत्तियों में शुद्धि नहीं आती तो ऐसा कोई अनुष्ठान नहीं है जिससे शान्ति स्थापित हो सके या अभ्युदय प्राप्त हो। इस बात पर उन्होंने बहुत अधिक जोर दिया। अपने जीवन में इसे उतार कर आदर्श के रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने अपने संघ में चाण्डाल, दास आदि नीच माने जाने वाले सभी वर्णों को सम्मिलित किया और साधना के प्रत्येक उम्मेदवार को तप और त्याग का अधिकारी माना। इस प्रकार समाज में जन्मना जाति के आधार पर जो ऊँच नीच की भावना जमी हुई थी उस पर महावीर ने कठोर आघात किया। अहिंसा की साधना का संदेश दिया और यज्ञों में होने वाली घोर हिंसा का विरोध किया। भयङ्कर कष्ट उठाकर इन सिद्धान्तों का मगध, विहार, काशी, कोशल आदि में प्रचार किया। सभी प्राणी सत्व एक सरीखे हैं, सभी को जीने का प्रबल इच्छा है, अपने सुख के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना पाप है, यह उनकी खुली घोषणा थी। अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य, इन सब का आधार आन्तर तथा बाह्य अपरिग्रह वृत्ति पर है, यह उन्होंने प्रकट किया। जो लोग दिशाओं की पूजा करते थे उन्हें उन्होंने बताया कि दिशा कोई देव नहीं है, वह तो केवल आकाश का एक भाग है उसकी पूजा करने से कुछ नहीं प्राप्त होता।

अपनी आत्मा को पहिचानो, अपने दैनिक जीवन में पवित्रता लाओ। इसी में तुम्हारा अभ्युदय है। भगवान् महावीर की दृष्टि में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का मूल्य अधिक था, इसीलिए उन्होंने संघ की व्यवस्था की। वैयक्तिक जीवन की शुद्धि संघ की शुद्धि पर निर्भर है। इसलिए उन्होंने संघ का मूल्य अधिक बताया है। संघ की व्यवस्था के लिए नियम तथा उपनियम घड़े। यदि वे निर्वाण को ही महत्व देते होते तो संघ व्यवस्था के जंजाल में न पड़ते। तत्कालीन समाज जिन दुःख तथा यातनाओं से पीड़ित था, उनसे मुक्ति दिलाने के लिए उन्होंने स्वयं अनक कष्ठ उठाए, यातनाओं को सहा। अपने सामने पोड़ित जनता को देखकर कोई भी क्रान्तिकारी अपने कष्टों पर ध्यान नहीं देता। महावीर हो, गान्धी हो या स्टालिन हो, दुनिया में जिस जिसने क्रान्ति का कँटीला पथ अपनाया है, वे सारी उमर जीवन की सुविधाओं से दूर रहे हैं। यही नहीं, अनेक कठिनाइयाँ उन्होंने स्वयं खड़ी की है और उन्हें धैर्यपूर्वक सहा है, जिससे अपनी जीवन शुद्ध हो और जनता भी कुछ समझ सीख सके। इस प्रकार भगवान् महावीर का सम्पूर्ण जीवन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक क्रान्ति का जीवन था। उनका यह जीवन देखकर बहुत से राजपुत्र, सेठ साहूकार, राज-रानियाँ तथा अन्य विलास प्रधान जीवन बिताने वाले लोग त्यागपरायण तपःपरायण तथा सादे से सादा जीवन बिताने वाले बन गए। क्षत्रिय को संन्यास का अधिकार नहीं है, वह भिक्षुक नहीं बन सकता, इस जड़ मान्यता को ठुकराकर हजारों क्षत्रिय भिक्षुक बने, क्या यह छोटी क्रान्ति थी? तिरस्कार दृष्टि से देखा जाता हुई जल यात्रा को गांधी जी ने प्रतिष्ठित पद देकर असाधारण क्रान्ति की। भगवान् महावीर द्वारा की गई क्रान्ति को गांधी जी की क्रान्ति के साथ तुलना बड़ी रोचक है। भगवान् महावीर द्वारा की गई क्रान्ति का प्रभाव आजतक विद्यमान है। उसी प्रभाव से हमारे देश में महात्मा गांधी, श्री रायचन्द्र भाई तथा स्वामी दयानन्द आदि क्रान्तिकारियों का निर्माण हुआ है।

क्रान्ति का वहन करने वाली प्रजा सजग न हो तो क्रान्ति स्थायी नहीं बनती। क्रान्ति के स्रष्टा महापुरुष का निर्वाण होते ही उसके द्वारा की गई क्रान्ति का वेग मन्द पड़ जाता है और जड़ जमाकर बैठे हुए संचित स्वार्थ अपना सिर उठाकर क्रान्ति के प्रभाव को समाप्त करने की तैयारी कर लेते हैं।

भगवान् महावीर के समय उनके द्वारा स्थापित भिक्षु-संघ में हजारों भिक्षुक थे। पार्श्वनाथ की परम्परा के भी बहुत से भिक्षुक इस संघ में

मिल गए थे। महावीर के श्रमणों में अचेलकत्व का आचार था, जब कि पार्श्वनाथ की परंपरा में अधिकतर सचेल थे। महावीर की परम्परा में न मिलकर पार्श्वनाथ परम्परा के जो भिक्षुक स्वतन्त्र विचरते रहे और अपनी परम्परा को चलाते रहे उनमें तथा महावीर के अनुयायियों में सचेल अचेल विषय को लेकर कभी विवाद खड़ा नहीं हुआ। सम्भवतया महावीर के निर्वाण के बाद इन दोनों में सचेलकत्व तथा अचेलकत्व एवं चार व्रत तथा पाँच व्रतों को लेकर विवाद खड़ा हुआ। इसीलिए भगवान् महावीर के शिष्य गौतम तथा भ० पार्श्वनाथ के शिष्य केशी श्रावस्ती नगरी में एक दूसरे से मिले तथा परस्पर भेद को दूर करने के लिए उन्होंने एक सम्मेलन किया। अपने अपने शिष्यवर्ग के साथ वे तिन्दुक बन में इकट्ठे हुए। केशी मुनि प्राचीन परम्परा के थे इस लिए गौतम उनको बड़ा मानते थे। इसीलिए गौतम केशी के उतारे पर गए। केशी मुनि ने भी अत्यन्त सद्भाव के साथ आसन वगैरह देकर उनका सत्कार किया। इसके पश्चात् दोनों परम्पराओं में जो परस्पर भेद है उसकी चर्चा चली। उस समय इन दोनों परम्पराओं के अतिरिक्त अन्य अनेक साधु तथा गृहस्थ कुतूहलवश वार्तालाप सुनने आये थे। इस सम्मेलन का सारा संवाद उत्तराध्ययन के तेईसवें अध्ययन में दिया गया है। इस अध्ययन का नाम ही केशी-गौतमीय है। श्री केशी मुनि ने पूछा—

"श्री पार्श्वनाथ तथा वर्धमान दोनों तीर्थङ्करों का उद्देश तो एक ही था, फिर एक ने चार याम और सचेलकत्व तथा दूसरे ने पाँच याम और अचेलकत्व का प्रतिपादन क्यों किया? हे गौतम! इस भेद का कारण क्या है?"

गौतम ने सद्भावपूर्वक समाधान करते हुए कहा—

"प्राज्ञ लोग धर्म के प्रधान तत्वों पर ही विचार करते हैं। वे दूसरी छोटी मोटी बाह्य वस्तुओं पर ध्यान नहीं देते। चार व्रतों में पाँच व्रत आ ही जाते हैं। आप लोग चतुर हैं, इस लिए बात को समझ ही जाते हैं। अतएव चार व्रतों के होने पर भी पाँचों का पालन करते हैं। हम लोग आपके समान चतुर नहीं हैं, कुछ जड़ तथा कुटिल हैं। इसलिए स्पष्ट समझाने के लिए भगवान् ने पाँचवाँ व्रत बढ़ाया है और उसके पालन पर अधिक जोर डाला है। दोनों तीर्थङ्करों का प्रधान लक्ष्य आत्मशुद्धि ही था। केवल शिष्यों की समझ-शक्ति को ध्यान में रख कर यह विशेषता की गई है। सचेल और अचेल का भेद भी विशेष महत्व नहीं रखता। संघ की स्थापना

के साथ साथ जो साधु निर्वस्त्र नहीं रह सकते थे उनके लिए अल्प तथा सादे वस्त्रों का विधान किया गया। जैन श्रमणों की परम्परा का परिचायक एवं संयम के लिए उपकारक वेश निर्धारित किया गया। इसके अतिरिक्त वेशभेद का भी कोई कारण नहीं है।"

यह सुन कर केशी मुनि बड़े प्रसन्न हुए। उनको लगा कि बुद्धिभेद करने वाला मतभेद अधिक चलाना ठीक नहीं है। इसलिए केशी मुनि अपने समस्त शिष्य मण्डल के साथ गौतम के सम्प्रदाय में मिल गए और भगवान् महावीर की आज्ञा को शिरोधार्य किया। जो पक्ष एक दूसरे के आमने सामने खड़े थे, एक कहता था यह तो कोई नवीन मत है और दूसरा कहता था, यह प्राचीन परम्परा शिथिलाचार से भरी हुई है, वे दोनों पक्ष यदि दुराग्रह के कारण अलग अलग रह जाते तो संघ में बहुत बड़ी दरार पड़ जाती जिसका परिणाम भयङ्कर होता। किन्तु केशी मुनि ने अपने पुराने संस्कारों को एक ओर रख दिया और संघ शुद्धि के लक्ष्य को प्रधानता देकर अपने को नए संस्कारों में बदल दिया। यह भी कोई छोटी क्रान्ति नहीं थी। किन्तु भविष्य की प्रजा ने इतनी उदार दृष्टि रखना न सीखा। परिणाम स्वरूप कालान्तर में जो घटनाएँ हुईं, जैन समाज में जो दरारें पड़ी वे आज तक ज्यों की त्यों बनी हुई है।

हम लोग स्याद्वाद का नाम लेते हैं किन्तु धर्म को ताक में रख कर साधनों के झगड़ों में धर्म की रक्षा मान रहे हैं। जिनके हाथ में धर्म की बागडोर है, यदि वे स्याद्वाद को बराबर समझते हों तो उनको यह कहने की हिम्मत करनी चाहिए कि दिगम्बर, श्वेताम्बर, या स्थानक वासी परम्परा के बाह्य आचार, उपकरण तथा पोशाक भले ही अलग अलग हों, किन्तु तीनों परम्पराओं में धर्म का मूल स्वरूप तो एक है। जिस प्रकार केशी ने अपना अस्तित्व गौतम की परम्परा में मिला दिया, इसी प्रकार हमें भी अपना पृथक् अस्तित्व एक दूसरे में मिला देना चाहिए। किन्तु जहाँ दम्भ, स्वच्छन्दता, अधिकार लिप्सा तथा अहंकार का बोलबाला हो वहाँ केशी सरीखी सरलता और गौतम सरीखी गम्भीरता कैसे आ सकती हैं!

इसके पश्चात् भी क्रान्ति की तरङ्गें उठती ही रही हैं। जैन संघ की ऐसी स्थिति हो गई थी कि देश और काल कितने ही बदल जायँ, किन्तु आगमों में एक शब्द का भी परिवर्तन नहीं हो सकता था। ऐसी परिस्थिति में

सिद्धसेन दिवाकर का उदय हुआ। उन्होंने देश और काल की हवा को परखा। उन्होंने घोषणा की कि पुराना होने मात्र से सब कुछ अच्छा नहीं होता और नया होने मात्र से सब बुरा नहीं होता। उन्होंनें आगमों की वाणी भी तर्क की कसौटी पर चढ़ाई। केवलज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में तर्कदृष्टि से नया विचार प्रस्तुत किया। महावीर के समय में ब्राह्मणों ने संस्कृत को प्रधान स्थान दिया। और लोकभाषा की अवगणना की। महावीर ने लोकभाषा को प्रमुख स्थान दिया। वही लोकभाषा दिवाकर के समय में लोकभाषा नहीं रही। फिर भी जैनसंघ आगमों की भाषा समझ कर उसी को पकड़े हुए था। संस्कृत का दुबारा प्रचार हो चुका था। राजभाषा के रूप में भी उसका सम्मानित स्थान था। पण्डित समाज में जैन सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए तथा उन्हें राजसभा तक पहुंचाने के लिए समग्र जैन प्रवचनों का संस्कृत में होना आवश्यक था। ऐसा होने पर भी उस समय के रूढ़िचुस्त संघ ने इस बात को स्वीकार नहीं किया और जैन प्रवचन के प्रचार को रोक दिया। दिवाकर जी ने जैन प्रवचन को संस्कृत में करने का निश्चय किया तो संघ ने उन्हें संघ से बाहर निकाल दिया। इस प्रकार कठोर दण्ड देकर उनके सारे प्रयत्न को छिन्न भिन्न कर दिया। परिणाम स्वरूप उस तेजस्वी की प्रतिभा कुछ दब गई। किन्तु प्रवचन को संस्कृत में करने की आवश्यकता तो बनी ही हुई थी। जिस काम को करने के विचार मात्र से सिद्धसेन को कठोर दण्ड मिला उसी कार्य को उनके छोटे भाई शीलाङ्क और अभयदेव ने पूर्ण किया। संघ ने उनकी प्रवृत्तियों का स्वागत किया। यह दुर्भाग्य है कि हम पहले से भविष्य को नहीं सोचते। हम लोग हमेशा पश्चात् बुद्धिवाले रहे हैं। सिद्धसेन की प्रतिभा उनकी कृतियों—सन्मति तर्क तथा बत्तीस द्वात्रिंशिकाएं—में झलक रही है। उस समय ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हुआ जो द्वात्रिंशिकाओं पर टीका लिखे। इस प्रकार क्रान्ति दबती रहने पर भी अटकी नहीं।

भगवान् ऋषभदेव से प्रारम्भ हुई क्रान्ति की धारा बीच बीच में मन्द पड़ने पर भी सिद्धसेन दिवाकर तक अटकी नहीं। सिद्धसेन विक्रम के समकालीन थे, ऐसा कहा जाता है। उनके बाद की आठ शताब्दियों में श्रमण संघ का सारा रूप ही बदल गया। तथाकथित निर्गन्थ चैत्य तथा मठों में रहने लगे, मूर्ति-पूजा आजीविका का साधन बन गई। मन्दिरों में चढ़े हुए धन से मनमानी मौज होने लगीं। ज्योतिष तथा शकुन शास्त्र का जोर बढ़ गया।

भक्तों के सिर पर विभूतियाँ पड़ने लगीं। अच्छा भोजन प्राप्त करने के लिए खुशामदें होने लगीं। तत्व को बताने वाला लगभग कोई न रहा। पैरों में जूते, धातुओं के पात्र तथा वाहनों का उपयोग होने लगा। स्वयं भ्रष्टाचारी होने पर भी दूसरों को प्रायश्चित्त दिलाया जाने लगा। पैसे लेकर श्रावकों के सामने अंगसूत्र बाँचे जाने लगे। धर्म के नाम पर स्त्रियों के साथ मेल-जोल बढ़ने लगा। हीनचरित्र वाले गुरुओं की स्मृति में स्तूप तथा चैत्य बनने लगे। इस प्रकार के शिथिलाचार एवं अवनति के समय हरिभद्र सरीखे धर्मवीर महापुरुष प्रकट हुए। उन्होंने फिर से निर्ग्रन्थों में आचार की स्थापना की तथा लोगों को उसका स्वरूप समझाया। निर्ग्रन्थ के नाम को लजाने वाले साधुओं को अलग कर दिया। देवद्रव्य को ज्ञानवृद्धि तथा संघ के सामूहिक कल्याण में लगाने की घोषणा की। संघ में क्रान्ति का वातावरण फैला दिया। साथ ही लोगों में सर्व धर्म समभाव की भावना जागृत करने का भी स्तुत्य प्रयत्न किया। योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु आदि योग के ग्रन्थ तथा उनपर सोपज्ञ विवेचन लिख कर बताया कि—"सभी दर्शनों में धर्मतत्त्व एक सरीखा है, केवल प्रतिपादन की शैली का भेद है। धर्मतीर्थङ्करों ने उसी शैली का उपयोग किया है जिससे श्रोता लोग धर्म-तत्त्व को सरलता से समझ सकें। मूढ लोग शैली भेद को तत्त्वभेद मानते हैं। महावीर, बुद्ध, कपिल आदि सभी महापुरुष थे, सर्वज्ञ थे। सभी ने भिन्न भिन्न साधनों से निर्वाण का मार्ग दिखाने का प्रयास किया है। उन प्राचीन महापुरुषों की केवल तर्क द्वारा अवहेलना करना पाप है।" उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला कि "उन महा-पुरुषों के वचनों का खण्डन करने की अपेक्षा अपनी जीभ का उच्छेद करना श्रेष्ठतर है।" अज्ञान, मोह, जडता आदि रोग हम सब में एक समान हैं। उन्हें दूर करने के लिए उन महापुरुषों ने अनेक प्रकार की औषधियाँ बताई हैं। हमारी जिस ओर रुचि हो उसे सेवन करना अच्छा है, किन्तु कौन सी औषधि खरी है और कौनसी खोटी है, इस वाद विवाद या सिरपच्ची में पड़ना आत्मघात है। जो धर्म जन्म से प्राप्त है, उसी को आचरण में लाकर शुद्ध प्रयोग द्वारा आजमायश करना यही चित्त शुद्धि का रामबाण इलाज है। मान लीजिए, आपके जन्म से बौद्ध धर्म के संस्कार हैं तो अपने आत्मविकास के लिए उसी संस्कार को निर्मल करते जाइए और धर्म प्रक्रिया को पूरी तरह अक्षरशः आचरण में लाना चाहिए, उनसे भी अवश्य शान्ति का मार्ग मिलेगा। किन्तु हम लोग अपनी धर्मविधियों को पूरी तरह नहीं समझते। शुद्ध प्रवृत्ति के बिना भेड़चाल

के समान अनुसरण करने से हम कभी ऊँचे नहीं उठ सकते। कोल्हू के बैल के समान हजारों कोस चलने पर भी वहीं के वहीं बने रहते हैं। हरिभद्र ने कहा है—"धर्माभिमुख व्यक्ति में सबसे पहले न्यायवृत्ति की भूमिका होना अनिवार्य हैं। इसके बिना सारी धर्म विधियाँ मुर्दे को सिंगारने जैसी हैं।" जहाँ तटस्थवृत्ति नहीं है, कदाग्रह का त्याग नहीं है, गुणीजनों के प्रति सद्भाव नहीं है, जहाँ केवल वेश, बाह्य आडम्बर, तथा ऊपरी टीपटाप का ही प्राधान्य है, वहाँ धर्मविधियाँ प्राणनाशक विष का काम करती हैं। जिसे तलवार पकड़नी नहीं आती वह कभी न कभी अपने ऊपर ही प्रहार कर बैठता है। इसी प्रकार जिसे धर्म विधियों का रहस्य पकड़ना नहीं आता तो वह अपने शुद्ध जीवन का नाश कर लेता है। इतना ही नहीं, अपने भ्रष्ट जीवन को भी शुद्ध जीवन मानने लगता है। हरिभद्र ने इन सब तथ्यों की जोरदार घोषणा की है। तत्कालीन शिथिलाचारियों के सामने यह एक प्रबल क्रान्ति थी। "लोग जिन्हें मिथ्यादर्शन कहते हैं, जिन प्रवचन उन सब का समूह रूप है।" उनका यह वचन सभी के लिए मननीय एवं आदरणीय है। क्रान्ति का अर्थ कोई बनावटी आचरण या बनावटी प्रक्रिया नहीं है। जो जो आचार विचारों की शुद्धि करने वाला लगे उसे संशोधित करके, जीवन में उसका अनुभव करके निर्भीक होकर आम जनता के सामने उपस्थित करना ही क्रान्ति है।

भगवान् महावीर के पीछे होने वाले क्रान्तिकारियों ने अपनी मर्यादा जैन संघ तक सीमित रखी और उसी दिशा में क्रान्ति के कदम उठाए। उनमें आचार्य हरिभद्र का स्थान प्रमुख है। इनके पश्चात् सन्तप्रवर आनन्दघन का नाम आता है। वे भी सिद्धसेन दिवाकर तथा हरिभद्र के समान असाधारण क्रान्तिकारी थे। उनके वचनों में मध्यस्थवृत्ति, स्याद्वाद का मार्मिक चिन्तन तथा जड़ क्रियाओं का उपहास पढ़ने को मिलता है।

इनके जीवन का पूरा इतिहास अभीतक नहीं मिला। फिर भी उनके विषय में जो कुछ सुना जाता है उसमें उनकी प्रतिस्रोतगामी प्रवृत्ति का परिचय बराबर मिलता है। सुना जाता है—एक गाँव में ऐसी प्रथा थी कि नगरसेठ के आने पर ही व्याख्यान प्रारम्भ होता था। एक बार सेठ को आने में काफी देर हो गई। इस सन्त ने देख लिया था कि सेठ में न तो व्याख्यानश्रवण की जिज्ञासु वृत्ति थी और न मुमुक्षु भावना। वह केवल अपना बड़प्पन तथा सत्ता का घमण्ड बताने के लिए उपाश्रय में आया करता था। प्रतीक्षा करने का अर्थ था सेठ के अहंभाव की पुष्टि करना और अन्य जिज्ञासुओं का अनादर

करना। उन्होंने व्याख्यान प्रारम्भ कर दिया। कुछ देर बाद सेठ जी आए और व्याख्यान चलता देखकर कुपित हो उठे। गुस्से में बोले—"क्या महाराज! राह तो देखनी थी। यहाँ का रिवाज है कि नगरसेठ के आने के बाद ही व्याख्यान प्रारम्भ होता है। इस रिवाज का पालन हो तभी यहाँ का संघ साधु के आगमन पर स्वागत एवं खानपान उत्सव आदि की व्यवस्था करता है, क्या आपको इस बात की खबर है?"

निःस्पृह आनन्दघन को ऐसे मानपत्र की परवाह नहीं थी। उन्होंने शान्तिपूर्वक अपना वेश सेठ जी को सौंप दिया और अवधूत के समान वन की राह पकड़ ली। किसी के आश्रित न रहने तथा संयम का मूल्याङ्कन करने की यह असाधारण सूझ थी। उस समय जो सामाजिक शिथिलता फैली हुई थी, अन्धानुकरण वृत्ति का जो प्राबल्य था तथा धर्म और गच्छ के नाम से जो क्रिया जड़ता फैली हुई थी, उनके स्तवन तथा पदों में उसका स्पष्ट वर्णन मिलता है। इसके साथ साथ वे यह घोषणा करते हैं कि सब जंजाल छोड़कर आत्मतत्त्व का निरीक्षण करना चाहिए। उदाहरणस्वरूप भगवान् धर्मनाथ के स्तवन में उन्होंने बताया है:—

> गच्छना भेद बहु नय मां निहालतां,
> तत्व नी बात करतां न लागे।
> उदरभरण निज काज करता थकां,
> मोह नडीयो कलिकाल राजे।

भगवान् नमिनाथ के स्तवन में कहा:—

> श्रुत अनुसार विचारी बोलूं,
> सुगुरु तथाविध न मिले रे,
> क्रिया करी नवी साधी शकीए,
> ए विखवाद चित्त सघले रे।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। संक्षेप में इससे पता चलता है कि आनन्दघन का मानस कितना क्रान्तिकारी था। उन्होंने हरिभद्र का बराबर अनुसरण किया है।

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव से लेकर आनन्दघन तक क्रान्ति का वारसा अखण्ड चला आ रहा है। महोपाध्याय यशोविजय जी, नवांगी टीकाकार

अभयदेवसूरि आदि महापुरुष क्रान्ति के मार्ग पर चले हैं। जो आत्मार्थी है उसे क्रान्ति का मार्ग अपनाना ही पड़ता है। इस वारसे को अब टिकाए रखना हमारा काम है। इस समय हमारे सामने अनेक समस्याएं हैं। उनका समाधान क्रान्ति के बिना नहीं हो सकता। क्रान्ति कोई धर्म विरोधी प्रवृत्ति नहीं है। यह तो धर्म शोधक प्रवृत्ति है। (१) अपनी साम्प्रदायिक कट्टरता, (२) देवद्रव्य का प्रश्न, (३) समाज दिन प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है, उसे जगह जगह थीगड़े लगाने की अपेक्षा मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है, (४) जड़क्रियाएँ, जो शरीर, मन तथा धन को भारी हानि पहुँचा रही हैं उनके विषय में भी अब चुप नहीं बैठा जा सकता (५) शास्त्रों के अर्थवाद पूर्ण वाक्यों तथा कवितापूर्ण वर्णनों को अक्षरशः सत्य एवं परमार्थ मानकर भोली जनता अन्धानुकरण में फँसी हुई है, उसको चेताना हमारा कर्तव्य है। इन सब समस्याओं का समाधान क्रान्ति किए बिना अर्थात् लोकविरोध का जोखम उठाए बिना नहीं हो सकता। प्रस्तुत व्याख्यानमाला का उद्देश्य क्रान्ति को जन्म देने का है। व्याख्यानमाला का उदभ्व इसी प्रकार हुआ है। यदि हम प्रतिस्रोतगामी न रहकर अनुस्रोतगामी बन जाएँगे तो कोई ऊपर से आकर हमारा श्रेयसाधन नहीं करेगा।

—अनु० इन्द्र

सतत परिश्रम के द्वारा ही मिश्र के मैदानों में पिरामिड तैयार किये गए। सतत परिश्रम के द्वारा ही यरूशलम के विशाल और भव्य मंदिर बने, चीन साम्राज्य की सीमा का रक्षण करने वाली दीवार खड़ी की गई, बादलों से ढके हुए आल्प्स पर्वत पर चढ़ाई हुई, विशाल और तूफानी एटलांटिक महासागर का मार्ग खुला, जंगल और पहाड़ों को काटकर नई दुनियां में नगर, राज्य और राष्ट्रों का निर्माण हुआ। उद्योग ने संगमरमर की चट्टानों को सुन्दर मूर्त्तियोंमें परिवर्त्तित किया है और धातु पर अदृश्य और छायामयी वस्तुओं का निर्माण किया है। उद्योग के द्वारा ही हजारों मशीनें चलती हैं। रेल, मोटर हवाई जहाज आदि इधर उधर दौड़ने लगे हैं। दूरी का प्रश्न ही मिटा जा रहा है। उसी ने विशाल चट्टानों में छेद कर सुरंगे तैयार की हैं। सागर की छाती को जहाजों से पाट दिया है और अज्ञात देशों को ढूंढ निकाला है।

—स्वेट मार्डेन

समाज-सूत्र

एक गांव में दो भाई रहते थे। पिता की मृत्यु हो जान पर दोनों ने आपस में बँटवारा कर लिया। दोनों भाई अपनी अपनी जमीन जोतने लगे। बड़ा भाई विवाहित था। बाल बच्चे वाला था। छोटा कुँवारा था।

एक दिन छोटे भाई ने सोचा—मेरा बड़ा भाई बच्चों वाला है। उसे मेरी अपेक्षा अधिक अनाज चाहिए। इसलिए मैं अपने ढेर में से थोड़ा सा अनाज उसके ढेर में रख आता हूँ।

सुबह जल्दी उठकर वह एक चद्दर में अनाज की गांठ बाँध कर भाई के खलिहान में रख आया।

बड़ा भाई सोचने लगा। लड़के मेरे काम में मदद करते हैं। अनाज भी खूब पकता है। छोटा भाई अकेला है। उसे मजदूरों के लिए खर्च करना पड़ता है। अभी उसकी शादी भी करनी है। इसलिए अपने ढेर में से कुछ अनाज उसे दे आता हूँ। सुबह जल्दी उठकर उसने एक पोटली बाँधी और छोटे भाई के ढेर में डालने चल पड़ा।

दोनों भाई शुभ संकल्प के साथ ऐसा करते रहे। एक दिन दोनों रास्ते में टकरा गए। दोनों के सिर पर गठरियाँ थीं।

बड़े ने पूछा—"कहो भाई ! किधर चले !"

"मैं तो यूँ ही निकला था, आप किधर चले !," छोटे ने जबाब दिया।

बड़ा भाई बोला—तुम अकेले हो। तुम्हें कष्ट न हो, इसलिए यह अनाज तुम्हारे खलिहान में डालने जा रहा था।

छोटा बोला—"मुझ अकेले को चाहिए ही कितना ? आपके बाल बच्चे हैं, इसलिए मैं यह गठरी आपके खलिहान में डालने जा रहा था।

जब हम उदार होकर पड़ोसी का विचार करेंगे तो पड़ोसी हमारा विचार करेगा। इसी का नाम समाज सूत्र है।

———

नरसिंह मेहता

—इन्द्र

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोय, मन अभिमान न आणे रे॥

भारत में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की स्मृति जब तक स्थिर है तब तक नरसिंह मेहता की उपरोक्त पंक्तियाँ भी गूँजती रहेंगी। इन पंक्तियों से प्रेरणा प्राप्त करके गांधी जी ने अपना सारा जीवन वैष्णव बनने की साधना में लगा दिया। उन्होंने भारत ही नहीं, अखिल विश्व की पीड़ा को पहचाना था। जिस प्रकार महात्मा गांधी ने भारत की परिधियों को पार करके विश्व के महान् उद्धारकों में स्थान प्राप्त कर लिया है, उसी प्रकार उपरोक्त पंक्तियाँ भी विश्व को प्रकाश देने वाले महान् साहित्य में गिनी जाती हैं।

इन पंक्तियों के रचयिता नरसिंह मेहता गुजराती के आदि कवि माने जाते हैं। उनका जन्म आज से पाँच सौ वर्ष पहले भावनगर के समीप तलाज गाँव में हुआ था। उनकी माता का नाम दयाकुँवर तथा पिता का नाम कृष्णदास था। वे नागर ब्राह्मण थे।

नरसिंह मेहता को बचपन में ही माता-पिता का वियोग हो गया। परिणाम स्वरूप चचेरे भाई तथा भाभी का आश्रय लेना पड़ा। पढ़ाई से उन्हें अरुचि थी। मन इधर उधर भटकता रहता था। उन दिनों धर्म का बहुत जोर था। साधु सन्तों का सब जगह सत्कार हुआ करता था। नरसिंह को ऐसी टोलियों में घूमना अच्छा लगता था। उनका अन्तर दिन प्रति दिन ईश्वर में लीन होता जा रहा था।

भाई और भाभी को उनका यह बर्ताव अच्छा नहीं लगता था। भाई की अपेक्षा भी भाभी को अधिक अखरता था। एक दिन बात बात में उसने ताना मारा—"तुझ से तो धोबी के पत्थर अच्छे!"

बात नरसिंह के कलेजे में चुभ गई। संसार से मन हट गया।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि भाभी ने ताना मार कर कोई अच्छा काम किया। एक कुलीन परिवार की भाभी अपने देवर के लिए कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करती। ऐसा कहते हुए उसे लज्जा आएगी। फिर

भी हमें नरसिंह की भाभी का उपकार ही मानना चाहिए। उसके शब्दों ने नरसिंह के जीवन में एक नया अध्याय प्रारम्भ कर दिया और हमें एक सन्त महाकवि की प्राप्ति हुई। इसी प्रकार विलासी तुलसीदास को भक्त तुलसीदास बनाने का श्रेय उनकी पत्नी के शब्दों को है।

नरसिंह मेहता ने स्वयं भी भाभी का उपकार माना हैं—

भाभीए भाग्य उदय कर्यो, मनें कह्या कठिन वचन।
त्यारे नरसैंयो निरभय थयो, पाम्यो ते जुग जीवन ॥

इस प्रकार आत्म सम्मान से प्रेरित होकर उन्होंने घर तो छोड़ दिया किन्तु कहीं ठिकाना न मिला। इधर उधर रखड़ना और आवारागर्दी शुरू हुई। क्रोधी बालक के समान उन्हें भी ननिहाल जाने का विचार आया। बीच में गोपनाथ का तीर्थ था। वहाँ के प्रसिद्ध महादेव का दर्शन करने के लिए रुक गए।

वन्त कथा है कि गोपनाथ उनकी भक्ति से प्रसन्न हुए। उसी समय 'भणे नरसैंयो' के बीज बोए गए।

नरसिंह मेहता का विवाह ग्यारह वर्ष की आयु में ही हो गया था। घर छोड़ते समय उनके शामल नाम का एक पुत्र और कुँवर नाम की एक पुत्री थी। फिर भी घर का उत्तरदायित्व सम्भालने के स्थान पर नरसिंह भक्ति की ओर झुकते गए। वे दिनरात ईश्वर-भक्ति के गीतों में लीन रहने लगे।

भाग्य से उनकी पत्नी माणेक बाई बड़ी समझदार और सयानी थी। गरीबी होने पर भी घर को शान्ति पूर्वक चलाती किन्तु जब बात बढ़ जाती और परिस्थिति असह्य हो जाती तो रूठ कर पीहर चली जाती। किन्तु नरसिंह मेहता पर कोई असर न होता। वे आज यहाँ तो कल वहाँ, अपनी भजन-मण्डलियाँ जमाते रहते और उन्हीं में फँसे रहते।

गिरि तलेटी ने कुंड दामोदर, त्यां मेहता जी न्हावा जाय।
ढेड वरण मां दृढ़ हरिभक्ति, ते प्रेम धरी ने लाग्या पाय ॥

इस प्रकार नागर बाड़े से निकल कर वे ढेडों की बस्ती में पहुँचे। महात्मा गांधी की हरिजनोद्धार भावना को पाँच सौ वर्ष पहले नरसिंह मेहता ने प्रयोग में परिणत करके दिखाया था। इसके लिए उन्हें बहुत कुछ सहन भी करना पड़ा। वे जात बाहर कर दिए गए।

अपने जीवन में वे कवि के रूप में प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर सके। किन्तु आज शुद्ध काव्य की दृष्टि से भी भक्त कवियों में उनका प्रमुख स्थान है।

नरसिंह मेहता के जीवन के साथ अनेक दन्त कथाएं प्रचलित हैं। प्रत्येक में ईश्वर कृपा का परिचय मिलता है। वे कठिनाइयों में फँस जाते हैं। किन्तु अन्तिम क्षण में अचानक परिस्थिति बदल जाती है और सब संकट कट जाते हैं। शामलशा के विवाह तथा कुँवर बाई के मामेरे में भिन्न भिन्न रूप से चमत्कार हुए हैं।

एक बार मेहता जी ने ७०० रुपए की हुंडी लिखी और अन्त में साँवले गिरधारी से विनती की—

मारी हुंडी शीकारो महाराज रे, शामला गिरधारी रे।
मारे बीजो कोनो आधार रे, शामला गिरधारी रे॥

इसी से सम्बन्ध रखने वाली नीचे लिखी पंक्तियाँ भी ध्यान खींचने वाली हैं—

हुं रे वाणोतर[1] तारो शामालिया, हुँ रे वाणोतर तारो रे।
पहले रे पाने लखो लखमी वर, अनंत नो दातारो रे॥
आ कलजुग मां बेटी तमारी, ना धरो अंग उधारो रे।
नरसैया ना स्वामी ने कहेजो, हुंडी मारी शीकारो रे॥

कहा जाता है कि वह हुंडी सीकारी गई। इसके बाद उन पर बहुत से दुख आ पड़े। माणेक बाई की मृत्यु हो गई और नरसिंह का घर टूट गया। थोड़े दिनों बाद पुत्र शामल की भी मृत्यु हो गई। फिर भी उनकी ईश्वर श्रद्धा अडिग रही और उन्होंने नीचे लिखे नियम का सहारा लिया—

जे गमे जगत् गुरु जगदीश ने ते तणो खरखरो फोक करवो।

इसके पहले ही पुत्री कुँवर बाई तो विवाह के कारण पराई हो चुकी थी। इसलिए कवि का जीवन अब एक दम सूना और एकाकी बन गया था। उसमें भी उसने ईश्वरीय न्याय के दर्शन किए और कहा—

सुख दुख मन मां न आणिए घट साथे रे घड़ियां,
टाल्यां ते कोई नव टले, रघुनाथ ना जड़ियां।

अब हम इनकी कृतियों के विषय में कुछ विचार करें।

'हारमाला' और 'शामलशा नो विवाह' में उनकी आत्मकथा का आभास मिलता है। 'सुदामा चरित्र' आकर्षक आख्यान है। 'सुरत संग्राम' में कृष्ण लीला का वर्णन है। किन्तु कवि की श्रेष्ठतम कृति उनके भक्ति रस के पद 'प्रभातियाँ' हैं। इनमें गहरा तत्त्वज्ञान समाया हुआ हैं। उनकी पहुँच इतनी

[1] व्यापारी

सूक्ष्म है कि बिरले ही वहाँ पहुँच पाते होंगे। उनकी उड़ान भी गगन—स्पर्शी है। उदाहरण स्वरूप हम कुछ पद यहाँ उद्धृत करते हैं—

नीरख ने गगन मां कोण घूमि रह्यो, ते ज हुँ, ते ज हुँ, शब्द बोले...

दूसरा लीजिए—

अखिल ब्रह्मांडमां एक तूं श्रीहरि जू जवे रूप अनन्त भासे।

तीसरा उससे भी बढ़कर है—

जागी ने जोऊँ तो जगत् दीसे नहीं, ऊँघ मां अटपटा भोग भासे,
चित्त चैतन्य विलास तद्रूप छे, ब्रह्म लटकां करे ब्रह्म पासे...

ये सब बहुमूल्य मुक्ताहार के मोती हैं।

जीवन में प्रतिदिन उपस्थित होने वाले तूफानों के सामने इस प्रकार की अमृत वर्षा आत्मा को शान्ति और संजीवनी प्रदान करती है। नीचे एक और पद्य दिया जाता है—

ज्यां लगी आतमा तत्त्व चीन्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी।
मनुष देह तारो एम एले गयो, मावठां नी जेम वृष्टि वूठी ॥ ज्यां०
शुं थयुं स्नान सेवा ने पूजा थकी, शुं थयुं घेर रही दान दीधे।
शुं थयुं धरी जटा भस्म लेपन कर्ये, शुं थयुं बाल लोचन कीधे ॥ ज्यां०
शुं थयुं तप अने तीर्थ कीधा थकी, शुं थयुं माला ग्रही नाम लीधे।
शुं थयुं तिलक ने तुलसी धार्या थकी, शुं थयुं गंगजल पान कीधे ॥ ज्यां०
शुं थयुं वेद व्याकरण वाणी वद्ये, शुं थयुं राग ने रंग जाण्ये।
शुं थयुं खट दर्शन सेवा थकी, शुं थयुं वर्णना भेद आण्ये ॥ ज्यां०
ए छे परपंच सहु पेट भरवा तणा, आतमाराम परिब्रह्म न जोयो।
भणे नरसैयो के तत्त्वदर्शन बिना, रत्नचिन्तामणि जन्म खोयो ॥ ज्यां०

यह सुनकर सचमुच ऐसा लगता है कि तत्त्वदर्शन के बिना चिन्तामणि सरीखा मानवजन्म व्यर्थ ही चला गया। कवि को धर्म के नाम से चलने वाले थोथे क्रियाकांड पर जो रोष था उसे उपरोक्त पद्य में स्पष्ट एवं सरल रूप में प्रकट किया गया है। नरसिंह मेहता की ये कृतियाँ बाह्याडम्बर के अन्धेरे में प्रदीप का काम देती हैं।

छ्यासठ वर्ष के उलझे हुए एवं अस्त-व्यस्त जीवन में भी नरसिंह मेहता ने असली तत्त्व को कभी विस्मृत नहीं होने दिया। उनके पद्यों में उनकी आत्मा सदा झलकती रही है। उनका सन्देश मानवता के लिए शाश्वत वरदान है।

गीत

दिवस का ज्वलित तेज भू-नभ भरा
साथ ही इन्दु की कान्त मैं ज्योत्सना हूं !!
गगन के पटल पर बना मैं चितेरा
रहा रँग विभा से भरा मैं सवेरा
कहीं धूप से हो न बाझिल दुपहरी
नयन रेख में आँज रखा अन्धेरा।
मुझे चित्र में श्याम रँग जो चढ़ाना
इसीसे निशा को हृदय-व्यजंना हूं !!
जनम औ मरण स्निग्ध मेरे नयन दो
हँसी औ रुदन भाव मेरे गहन दो।
प्रकृति और चेतन सहज रूप मेरे
मिले दो रही सृष्टि की है सृजन हो।
मगर भेद यह जान पाता न जग है।
विकल सृष्टि को दे रहा सान्त्वना हूं !!
लहर छू मुझे देख लो सिन्धु बनती
गया कूल बन, जिस जगह दृष्टि रुकती।
कहूँ धूल की मैं कहानी भला क्या
हिमालय हुई आ क्षितिज व्याम बनती।
परस पावना लघु महा सृष्टि में इस
महत् के लिये मैं स्वयं लघु बना हूं !!
नयन मूँद कर साँझ ने बात कह दी
पलक मूंद कर रात ने लो सुबह की।
उजेला हुआ और आलोक ने
जिन्दगी के लिए रात से है सुबह की।
प्रगति सन्धि में इस पनप राह पाती,
प्रगति के हृदय की मुखर भावना हूं !!

—देवनाथ पाण्डेय 'रसाल'

अभिनन्दन

बुलन्दशहर जिले के बाँहपुर गाँव में माड़े नाम का जाट रहता था।

माड़े जमींदार को लगान ठीक समय पर देता और बढ़िया खेती करता था। बकाया लगान उस पर कभी नहीं रहता था। पर वह अदायगी की रसीद कभी नहीं लेता था।

जमींदार से उसकी खटपट हो गई और उसने माड़े पर बक़ाया लगान की नालिश कर दी।

माड़े को अदालत जाना पड़ा। वह अदालती काम से वाकिफ़ न था। उसे यह भी नहीं मालूम था कि उसे वकील करना पड़ेगा।

जब उसे मालूम हुआ कि उसे वकील करना पड़ेगा तब उसने किसी सस्ते वकील की खोज की।

लोगों ने बताया कि चिराग़अली वकील की वकालत नहीं चलती और वे एक पेशी के लिए पाँच रुपये ही लेंगे।

माड़े चिराग़अली के पास गया और कहा "वकील। मेरा मुकदमा ले। यह ले दो रुपये (रुपये देते हुए) फीस के पेशगी। जब मेरे कोल्हू चलें तब आना। गुड़ और गन्ने बच्चों को ले आना। तुझे करना ही क्या है? बैल की तरह खड़े हो कर सींग से हिलाएगा।"

चिरागअली साहब ने सोचा कि ठलुआ बैठने से गँवार जाट का मुकदमा लेना अच्छा है।

पेशी हुई और अदालत ने सब बातें सुनकर मुकदमा खारिज कर दिया। मुकदमें की जीत से माड़े बहुत खुश था और बाहर निकल कर उसने अपने वकील चिराग़अली से कहा, "वकील, तेरा नाम क्या है? मुझे तेरी बड़ाई करनी है अपने गाँव में।"

चिरागअली ने प्रसन्न होकर कहा, "मेरा नाम है चिराग अली।"

माड़े ने चिरागअली के पिता को गाली देते हुए कहा, "तेरा बाप उल्लू था। मैं तेरा बाप होता तो तेरा नाम मशाल अली रखता!"

चिराग़ अली यह कहते हुए चले गए कि किस गँवार से पाला पड़ा है।

—'विशाल भारत' से

अपभ्रंश का काव्य-सौन्दर्य

—प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त, एम० ए०, साहित्यरत्न

(१)

अपभ्रंश के काव्य-साहित्य का व्याख्यान और विश्लेषण करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम उन परिस्थितियों पर सम्यक् रीति से विचार करें जिन्होंने अपभ्रंश को भाषा के रूप में उद्भूत और विकसित होने के लिए सामयिक सहयोग प्रदान किया। मूलतः अपभ्रंश संस्कृत के परम्परागत रूप से आविर्भूत है और उसकी प्रवृत्ति साधारणतः यही रही है कि वह संस्कृत के क्लिष्ट और अव्यवहार्य शब्दों को जन-साधारण की सामान्य प्रतिपादन शैली के अनुसार यथासाध्य सरल रूप में उपस्थित करे। व्याकरण के अपरिहार्य जटिल नियमों में आबद्ध होने के कारण संस्कृत कालान्तर में सामान्य जन-स्तर से ऊपर उठ कर केवल मननशील साहित्यिकों और विद्यापीठों की भाषा रह गई थी।

संस्कृत की इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप मध्यवर्गीय जनता ने अपनी स्वतन्त्र व्यक्ति-चेतना के विकास और सामान्य विचार-विनिमय के लिए एक व्यापक और अपेक्षाकृत सरल भाषा की आवश्यकता का अनुभव किया। जन-सामान्य की इस आकांक्षा के परिणाम स्वरूप शनैः शनैः अपभ्रंश के रूप में एक नवीन भाषा का उद्भव हुआ। तथापि इस विषय में यह कहना कठिन है कि इसके प्रयोग का वास्तविक समय कौन सा है और किस प्रदेश-विशेष को इसके व्यवहारगत तथा साहित्यिक रूपों को विकसित करने का गौरव प्राप्त है। फिर भी यत्र-तत्र प्राप्त संकेतों के आधार पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि छठी शताब्दी के लगभग जन-साधारण और साहित्य, दोनों में ही उसका सामान्यतः अच्छा स्थान बन गया था।

अपभ्रंश का प्रमुख गुण उसके माधुर्य और सहज प्रतिपादन से सम्बद्ध है। जनपदीय क्षेत्रों में दीर्घ समय तक व्यवहृत होने के साथ साथ यह लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक काव्य की भाषा रही। इस अवधि में अपभ्रंश के अनेक समर्थ कवि हुए और उन्होंने अनेक प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थों की सृष्टि की। दुर्भाग्य से आज अपभ्रंश का सम्पूर्ण साहित्य हमें उपलब्ध नहीं है।

फिर भी उसका जितना अंश प्राप्त है वह अपने महत्व को जैसे स्वयं ही पद-पद पर प्रकट करता है। इन कृतियों में 'भविसयत्त कहा', 'संजम मंजरी', 'कुमारपाल प्रतिबोध', 'सन्देस रासक', 'प्रबन्ध चिन्तामणि', 'कीर्तिलता' और 'नेमिनाह चरिउ' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आगे हम इन्हीं रचनाओं के आधार पर अपभ्रंश काव्य में व्याप्त विविध अन्तर्धाराओं का क्रमशः विश्लेषण करेंगे।

(२)

रस—

अपभ्रंश की कविताओं का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उसमें प्रायः सभी रसों का उन्मुक्त रूप से व्यवहार किया गया है। संस्कृत साहित्य के प्रभाववश उसकी प्रारम्भिक रचनाओं में शृंगार रस को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। मध्यवर्ती कृतियों में भी इस रस के मूर्धन्य स्थान को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा गया है किन्तु इसके साथ साथ वीर रस को भी इतना ही महत्व प्रदान किया गया है। उत्तरकालीन रचनाओं में शृंगार का यह स्वरूप क्रमशः अनुरागमूलक आत्म-निषेध में परिवर्तित होता गया है अर्थात् कविगण उपभोग और संयम में विश्वास करने लगे और फिर अन्त में इसका पूर्ण पर्यवसान शान्त रस के रूप में हो गया। इनके अतिरिक्त अन्य रसों की स्थिति प्रायः सर्वत्र गौणरूप में ही रही और कवियों ने उनका प्रयोग शृंगार, वीर अथवा शान्त रसों में से किसी एक के उन्नयन के लिए ही किया।

रस प्रकरण की चर्चा करते समय यह भी विचारणीय है कि हमारे शास्त्रकारों ने रस को आनन्द का अर्थवाची माना है और इसी दृष्टिकोण से उसे काव्य में सदैव प्रमुख स्थान प्राप्त रहा है। अपभ्रंश के कवियों ने भी अपनी पूर्व परम्परा का पालन करते हुए इस मान्यता का आदर किया और रस के उचित संयोजन द्वारा भाव को रमणीय बनाने की चेष्टा की। आगे हम शृंगार रस के उभय पक्षों को उपस्थित करते हुए अपभ्रंश काव्य से एक उत्कृष्ट छन्द उद्‌धृत करते हैं—

> पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व।
> मइँ बिन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व॥

अर्थात् "प्रिय से संयुक्त होने पर निद्रा भला कहाँ ? प्रियतम के परोक्ष में भी शयन का क्या काम ? मैं तो दोनों ही ओर से नष्ट हो गई। निद्रा न इस प्रकार आएगी और न उस प्रकार।"

शृंगार रस की भाँति ही अपभ्रंश में वीर रस को भी व्यापक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। इस रस कथन के प्रायः दो रूप रहे हैं—एक ओर तो कवियों ने वीर रस के प्रतिनिधि पुरुष और शृंगार रस की प्रतिनिधि स्त्री के बीच सन्तुलित विचार-विनिमय के उपरान्त वीर रस को शीर्ष स्थान प्रदान कराया है और दूसरी ओर वीर रस का स्वतन्त्र रीति से कथन किया गया है। ये दोनों ही रूप अपने आप में पूर्ण सशक्त हैं और दोनों में ही वीर रस की चेतना को मूल स्थान प्राप्त हुआ है। आगे हम राणा हम्मीर के शौर्य से सम्बद्ध एक उत्कृष्ट और ओजस्वी छन्द उद्धृत करते हैं—

पअभरु दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिय झंपिय ।
कमठ पीठ टरपरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ ॥
कोह चलिय हम्मीर वीर गअ जूह संजुत्ते।
कितउ कट्ठ हा कंद मुच्छि मेच्छह के पुत्ते ॥

—(प्राकृत पैंगलम्)

अर्थात् "जिस समय वीर हम्मीर शत्रु-सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए क्रोधपूर्वक गजयूथों के साथ चले, उस समय पृथ्वी पदभार से दलित हो गई और दिनकर का रथ भी धूलि से आवृत्त हो गया। उस समय कच्छप की पीठ नीचे की ओर धँस गई, मेरु और मन्दराचल पर्वतों के शिखर कम्पायमान हो गए और म्लेच्छों के पुत्र 'हा कष्ट, हा कष्ट !' कह कर संज्ञा-शून्य हो गए।"

प्रकृति चित्रण—

अपभ्रंश काव्य में प्रकृति के विविध सुषमा-रूपों को भी यथार्थ प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है। इन प्रकृति-चित्रों ने स्वभावतः ही सम्बद्ध काव्य से कृत्रिमता को निराकृत कर सहज सौन्दर्य और प्रवाह की स्थापना की है। अपभ्रंश के कवियों ने नागरिक वातावरण की सीमाओं में बन्दी रह कर प्रकृति-चित्रण नहीं किया अपितु उन्होंने प्रकृति के प्राङ्गण में प्रवेश कर हमारे समक्ष अनेक सूक्ष्म और अनुभूत चित्र उपस्थित किए। प्रकृति के प्रति इसी आत्मीय व्यवहार के कारण वे उसके विविध कार्य-कलापों में मानवीय व्यक्तित्व के दर्शन कर सके हैं। मनुष्य की भाँति क्रियाशील रहने वाले ये तत्व अपने आप में अत्यन्त रम्य और आकर्षक बन पड़े हैं।

आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण करने के साथ साथ अपभ्रंश के

कवियों ने उसके उद्दीपनात्मक स्वरूप का भी प्रचुर वर्णन किया है। इस दिशा में प्राकृतिक तत्वों ने अपनी सहज सुषमा के द्वारा नायक और नायिका दोनों ही के विरह को उद्दीप्त किया है। 'सन्देश रासक' में प्राप्त होने वाला ऋतुवर्णन इस दृष्टि से अपने आप में पूर्णतः अप्रतिम बन पड़ा है।

प्रकृति को आलम्बन-रूप में ग्रहण करते समय अपभ्रंश के कवियों ने विशेष सहृदयता का परिचय दिया है। उन्होंने सामान्य प्रणाली का आश्रय लेते हुए अपने काव्य में केवल प्रकृति के मधुर रूप का ही उद्भावन नहीं किया अपितु उसके हृदय में प्रवेश करते हुए कतिपय उग्र और कटु तत्वों की भी उपयुक्त चर्चा की है। आगे हम प्रकृति के सहज और क्लिष्ट दोनों ही रूपों को व्यक्त करने वाला एक उत्कृष्ट छन्द उपस्थित करते हैं—

एत्तहे मेह पिअन्ति जलु एत्तहे वडवानल आवट्टइ।
पेक्खु गहीरिम सायरहो एक्कवि कणिअ नाहिं ओहट्टइ॥

अर्थात् "एक ओर जलद जलपान कर रहे हैं और दूसरी ओर वड़वानल दग्ध हो रहा है। फिर भी पारावार के गाम्भीर्य को तो देखो कि उसमें जल के एक भी बिन्दु का अभाव नहीं होता।"

दार्शनिक तत्व—

दार्शनिक जगत् का निरूपण करते समय अपभ्रंश के प्रारम्भिक कवियों ने हठयोग और चमत्कारवाद की ओर झुक कर एक ऐसी नींव डाल दी कि आगे भी उसका पूर्ण विकास होता रहा। इस प्रकार के चमत्कारवादी काव्य में गाम्भीर्य का स्पष्ट अभाव है। यही कारण है कि इससे अध्येता की ज्ञान-पिपासा की शान्ति नहीं हो पाती और उसका हृदय केवल मनोरंजन की दृष्टि से ही तृप्ति प्राप्त कर पाता है। अतः इस प्रकार का काव्य सामाजिक जीवन की मर्यादाओं से पर्याप्त असम्बद्ध रहा है।

चमत्कारिक अध्यात्मवादी काव्य की भाँति अपभ्रंश के कवियों ने सहज-स्पष्ट काव्य की भी रचना की है। सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों के कवियों की चेतना इस क्षेत्र में दोनों ही ओर प्रवृत्त है। हठयोग-प्रधान काव्य की रचना के साथ-साथ उन्होंने ईश्वर के निर्गुण स्वरूप का स्पष्ट और निर्भ्रान्त व्याख्यान भी किया है। इसी प्रकार स्वयंभू ने अपनी रामायण में ईश्वर के सगुण स्वरूप को भी अत्यन्त श्रद्धास्पद अभिव्यक्ति प्रदान की है।

अध्यात्म पक्ष का शुद्ध प्रतिपादन करते समय अपभ्रंश-कवियों ने उपदेशात्मक वृत्ति का आश्रय ग्रहण किया है। तत्कालीन जैन-कवियों ने भी प्रायः इसी वृत्ति को पोषण प्रदान किया। यह सत्य है कि जैन धर्म की स्थूल चर्चा करते हुए उन्होंने कहीं कहीं साहित्य के निरपेक्ष रूप को हानि पहुँचाई है तथापि सम्प्रदायवादिता को पृथक् रख कर अभीष्ट का शान्त वर्णन ही उन्हें अधिकांशतः इष्ट रहा है। धर्म के प्रति अन्धनिष्ठा का प्रतिपादन करने की अपेक्षा प्रायः जैन कवियों ने उसे हृदय में धैर्य और विश्वास के उद्भावक के रूप में स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ कविवर धनपाल के 'भविसयत्त कहा' की निम्नलिखित पंक्तियों में तिलकद्वीप में भ्रमण करते हुए नायक भविसयत्त की मानसिक अवस्था का वर्णन देखिए—

सुहि सयण मरण भउ परिहरेवि, अहिमाणु माणु पउरिसु सरेवि।
सत्तक्खर-अहिमंतणु करेवि, चंदप्पहु जिणु हियवइ धरेवि ॥
गिरिकंदरि विवरि पइट्ठु बालु, अन्तरिउ णाइं कालेण कालु।
संचरइ बहल-कज्जल-तमालि, णं जिउ वामोह-तमोह-जालि ॥

अर्थात् "मित्रों, स्वजनों और मरण के भय का परित्याग कर; अभिमान, आत्म-सम्मान और पौरुष का स्मरण करते हुए; सप्ताक्षर मन्त्र को ध्यान में रखते हुए चन्द्रप्रभ जिन भगवान् को हृदय में धारण कर वह तरुण व्यक्ति अत्यधिक काजल जैसे अन्धकार वाली पर्वत कन्दरा में उसी प्रकार प्रविष्ट हुआ जिस प्रकार समय के परोक्ष में मृत्यु की गति होती है अथवा एक क्षण के उपरान्त दूसरे क्षण की स्वतः स्थिति होती है। यह प्रवेश उतना ही त्वरित था जितना अज्ञान रूपी अन्धकार के समूह-जाल में जीव का प्रवेश होता है।"

कल्पना—

काव्य में रम्य परिस्थितियों के उद्भावन के लिए कल्पना की स्थिति को नितान्त आवश्यक मानते हुए अपभ्रंश के कवियों ने अपने काव्य में उसका व्यापक प्रयोग किया है। सामान्यतः इस कल्पना-प्रयोग के लिए रस और प्रकृति के क्षेत्र ही उपयुक्त रहते हैं और यही कारण है कि आलोच्य काव्य के सर्जकों ने इन्हीं की ओर अपनी चेतना को केन्द्रित रखा है। रस-क्षेत्र में कल्पना का प्रयोग अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार रस के क्षेत्र में ही अधिक हुआ है। कवियों ने इस दिशा में अनेक मार्मिक और प्रौढ़ कल्पनाएँ

उपस्थित की हैं। प्राकृतिक सुषमा में अभिवृद्धि करने के लिए भी सम्बद्ध प्रकरणों में कल्पना का व्यापक प्रयोग किया गया है। वियोग शृंगार और प्रकृति की सम्मिलित चेतना को कल्पना द्वारा जो सौन्दर्य-अभिव्यक्ति प्राप्त हो सकती है उसका एक उत्कृष्ट उदाहरण देखिए—

विरहानल-जाल करालिउ पहिउ बुड्डिवि ठिअउ।
अनुसिसिर कालि सीअल-जलहु धूमु कहन्तिउ उट्ठिअउ॥

अर्थात् "ऐसा प्रतीत होता है कि विरह की विषम ज्वाला से दग्ध होकर कोई पथिक (सरोवर में) डूब कर स्थित हो गया है। अन्यथा शिशिर काल में शीतल जल से यह वाष्प क्यों कर उठता !"

भाषा—

अपभ्रंश के कवियों ने अपनी रचनाओं में संस्कृत के उन शब्दों का प्रयोग किया है जिनके रूप को जनता ने अपनी सुविधा के अनुसार परिवर्तित कर लिया था। यद्यपि इस स्वरूप-परिवर्तन में अभिव्यक्ति की सहजता पर यथेष्ट ध्यान रखा गया है तथापि कहीं-कहीं शब्दों का यह अन्तर अल्प न रह कर व्यापक हो गया है और परिणामस्वरूप यह अपने आप में इतना जटिल और अग्राह्य हो गया है कि प्रायः मूल शब्द की शोध करना भी एक दुष्कर कार्य हो जाता है। आगे हम इस प्रकार के कुछ शब्द-रूपों को उद्धृत करते हैं—

सोमाल	=सुकुमार	(शुद्ध रूप)
गिज्झ	=ग्राह्य	(,,)
पहु	=प्रभु	(,,)

अपभ्रंश भाषा क्रमशः जनस्तर से ऊपर उठ कर साहित्य की ओर उन्मुख हुई है और इस क्रमिक प्रगति के संकेत हमें सर्वत्र समान रूप से उपलब्ध होते हैं। इसका सबसे ज्वलन्त प्रमाण यह है कि अपभ्रंश के प्रारम्भिक कवियों ने व्याकरण के बन्धन से मुक्त रह कर सहज रूप से काव्य-रचना की है, किन्तु शनैः शनैः उसके नियमों ने भाषा की स्वच्छन्द गति को अपने में बाँध लिया है और कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो अपभ्रंश के व्याकरण ने उसके साहित्य को अपने में आत्मसात् कर लिया है।

अपभ्रंश-काव्य में माधुर्य गुण की सृष्टि के लिए अनुस्वार युक्त शब्दों का प्रायः प्रयोग किया गया है। इस प्रवृत्ति का स्वरूप इतना गहन रहा है कि परवर्ती डिंगल काव्य में भी इसे ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया। वास्तव

में अप्रचलित और अपरिचित होते हुए भी आज इसी प्रकार के तत्त्वों के कारण अपभ्रंश हमें अरुचिकर प्रतीत नहीं होती। उदाहरणार्थ—

पुत्ति चोज्जु पट्टणं विचित्तबंध बंधयं।
वाहिमिच्छतं जनं दुरक्खसेण खद्धयं॥

अपभ्रंश में विषय के अनुसार भाषा का स्वरूप-परिवर्तन भी दृष्टिगत होता है। इसके स्पष्ट प्रमाण हमें वहाँ उपलब्ध होते हैं जहाँ वीर रस की भाषा शृंगार रस की भाषा से पृथक् हो गई है और गम्भीर योग-विषयक वार्ताओं की भाषा में सरल वर्णनात्मक स्थलों की भाषा से अन्तर आ गया है। विषय की इसी गम्भीर चेतना के कारण कहीं कहीं संस्कृत के शब्दों को उनके शुद्ध रूप में भी ग्रहण कर लिया गया है। यथा—

परिग्रह, धवल, कज्जल, निरन्तर, रमणी।

शैली और छन्द—

शैली की दृष्टि से अपभ्रंश में काव्य की सभी प्रमुख वर्णन-प्रणालियों का प्रयोग हुआ है। इनमें संबोधन शैली, संवाद शैली और प्रश्नोत्तर शैली विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन शैलियों का प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही प्रकार की काव्य-पद्धतियों में उन्मुक्त रूप से प्रयोग किया गया है। प्रबन्ध काव्यों में इनके अतिरिक्त विवरणात्मक शैली का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है।

छन्द-प्रयोग के क्षेत्र में अपभ्रंश के कवियों ने संस्कृत पिंगलशास्त्र के जटिल स्वरूप का परित्याग कर एक सरल, स्वस्थ और संक्षिप्त मार्ग का निर्धारण किया। इस दृष्टिकोण को और भी अधिक दृढ़ बनाने के लिए उन्होंने 'प्राकृत पैङ्गलम्' से पर्याप्त सहायता ग्रहण की है। वैसे अपभ्रंश का कोई स्वतंत्र छन्द-शास्त्र अभी हमें प्राप्त नहीं है। छन्दों के प्रयोग-काल की दृष्टि से अपभ्रंश में उसके पूर्वार्ध की अपेक्षा उत्तरार्ध के कवियों ने अधिक कुशलता और विविधता का परिचय दिया है।

अपभ्रंश-काव्य का अध्ययन करने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि घत्ता, कड़वक, दोहा, चौपाई, रोला, छप्पय आदि मात्रिक छन्दों का अधिक प्रयोग किया गया है। गति और तुक के नियमों का पालन करने की ओर भी अपभ्रंश कवियों का विशेष ध्यान रहा है। गति-विधान के लिए तुकान्त कविता की रचना के साथ साथ उन्होंने आन्तरिक तुक-साम्य के माधुर्य का भी श्रेष्ठ आयोजन किया है। यथा—

(क) पइँ मइँ बेहिं वि रण गयहिं को जय-सिरि तक्केइ ?
(ख) एत्तहे तेत्तहे वारि धरि लच्छि विसण्ठुल धाइ।

अलङ्कार :—

अपभ्रंश की मूल प्रवृत्ति पाण्डित्य-प्रदर्शन की अपेक्षा जन रुचि का प्रतिनिधित्व कर उसका परिष्कार करने की ओर ही अधिक रही। इस कारण उसके कवियों ने अलङ्कारों के प्रति किसी प्रकार का मोह न रख कर प्रारम्भ से ही भावों के सहज प्रतिपादन की ओर अधिक ध्यान दिया। यद्यपि संस्कृत के परवर्ती अलङ्कार-प्रधान काव्य के प्रभाववश अपभ्रंश की कतिपय कृतियों में अलङ्कार-प्रयोग के प्रति आग्रह लक्षित होता है तथापि अपभ्रंश काव्य में मुख्य रूप से अलङ्कारों का सहजतम प्रयोग ही हुआ है और शब्दालङ्कारों की अपेक्षा वहाँ अर्थालङ्कारों की अधिक स्थिति है। सहज रूप से संचरित होने के कारण ये अलङ्कार काव्य की शोभा का सृजन करने वाले मूल धर्म बन गए हैं। इन्होंने कवि की भावनाओं को सरलता से कृत्रिमता की ओर प्रवृत्त न कर उनकी ज्योति को अपने सहयोग से और भी प्रखर बनाया है। उदाहरण स्वरूप हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार का निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

> उऊ कणिआरु पफुल्लिजउ कञ्चण-कन्ति-पयासु।
> गोरी-वयण-विणिज्जिअउ नं सेवइ बण-वासु॥

अर्थात् "वह कणिकार का पुष्प पर्याप्त विकसित हो गया है और उसकी शोभा स्वर्ण के समान आलोकित हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुन्दर रमणियों के मुखों से पराभूत होकर वह वनवास का सेवन कर रहा है।" अलंकार-प्रयोग के इस प्रकरण पर और भी विस्तार-पूर्वक विचार करने पर हम देखते हैं कि अपभ्रंश की प्रारम्भिक कृतियों में उनकी स्थिति अल्प परिमाण में है और उत्तरवर्ती रचनाओं में उनका प्रयोग अधिक मात्रा में हुआ है। वैसे काव्य में अलंकार-प्रयोग कोई चिन्तनीय विषय नहीं है किन्तु बाद के कवियों ने आग्रह वश उनके लिए भावों को कृत्रिम बनाया है और भाषा-शैली को क्लिष्ट! काव्य-शिल्प की दष्टि से निश्चय ही यह एक अवांछनीय तत्त्व है।

अन्त में हमें यही कहना है कि अपभ्रंश-काव्य रस-प्रयोग, कल्पना, प्रकृति-चित्रण और दार्शनिक तत्व-निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। इसमें शृंगार, वीर और शान्त आदि रसों के अनेक अप्रतिम चित्र प्राप्त होते हैं। जीवन के सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए माहेश्वर सूरि, जैन साधु हेमचन्द्र, योगेन्द्र, सरह और उद्योतन सूरि आदि ने नीति के अनेक समुज्ज्वल छन्दों की रचना की है। भाषा की सहजता, शैली की विविधता, अलंकारों की रमणीयता और छन्द-शास्त्र की तुकान्त कविता की दृष्टि से भी ये रचनाएँ अप्रतिम हैं।

महावीर की जय

—डा० इन्द्र एम० ए०, पी० एच० डी०

प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को भगवान् महावीर की जयन्ती मनाई जाती है। सारे भारत में सभाएं होती हैं, जुलूस निकाले जाते हैं और भगवान् की जय के नारे लगाए जाते हैं। किन्तु हमें यह सोचना है कि 'महावीर की जय' का अर्थ क्या है। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वर्धमान नाम के एक बालक का जन्म हुआ था। बड़ा होने पर वही महावीर कहलाया और अपनी तपस्या तथा आत्मशुद्धि के कारण विश्ववन्द्य बना।

जन्म के समय महावीर का शरीर भी ऐसा ही था जैसा हमारा। हम उस हाड़मांस के पुतले की जय नहीं बोलते हैं। हम उस आत्मा की जय बोलते हैं जिसने अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास कर लिया। हम यह स्वीकार करते हैं, और घोषणा करते हैं कि आत्मशक्तियों का विकास संसार में सर्वोत्कृष्ट है। प्रत्येक मनुष्य को इसके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। किन्तु यदि महावीर का नाम लेकर हम दम्भ का आचरण करें। परस्पर वैमनस्य को बढ़ाएं, एक दूसरे की निन्दा करें तो इसका अर्थ है, हम आत्मा के शत्रुओं को प्रोत्साहन दे रहे हैं। आत्मा को बलवान् बनाने के स्थान पर निर्बल बना रहे हैं। ऐसी स्थिति में 'महावीर की जय' का अर्थ होगा 'महावीर के शत्रुओं की जय'। केवल महावीर का नाम रहने से वह जय 'महावीर की जय' नहीं हो जाती। नाम चाहे कुछ भी हो, महावीर की जय तभी होगी जब उसका अर्थ आत्मा के उत्थान की जय हो।

महावीर ने मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र से मित्रता रखने का सन्देश दिया। उनके लिए न कोई अपना था और न कोई पराया। उनका समवसरण सब के लिए खुला था। उनकी उपदेशगङ्गा में स्नान करने का सभी को अधिकार था। उनका कहना था, ब्राह्मण हो या शूद्र, राजा हो या रंक, हाथी हो या कीड़ी, मनुष्य हो या पशु—सभी में एक सरीखी आत्मा है। सभी उसका विकास करके परमात्मा बन सकते हैं। धर्म का सम्बन्ध शरीर से नहीं किन्तु आत्मा से है। धर्म के क्षेत्र में जातपाँत का भेद कोई महत्व नहीं रखता।

महावीर की जय बोलते समय हम विश्वबन्धुत्व के महान् सन्देश की जय बोलते हैं। हम यह घोषणा करते हैं कि सभी आत्माएँ समान हैं, ऊँच नीच का भेद-भाव मिथ्या है। यदि महावीर की जय बोलते हुए भी हम इस भेदभाव को कायम रखें, एक को ऊँचा दूसरे को नीचा समझें, केवल जन्म के कारण वर्ग-विशेष को आत्मविकास के अधिकार से वंचित करें तो वह जय महावीर की जय न होगी। वह विश्वबन्धुत्व की जय नहीं है, वह तो पारस्परिक द्वेष की जय है। महावीर की जय तो तभी होगी जब हम उन पददलित भाइयों को गले लगाएंगे और धर्म के पवित्र स्थानों में एक साथ बैठ कर आत्मचिन्तन करेंगे। एक साथ बैठ कर भगवान् महावीर तथा अन्य पवित्र आत्माओं की वाणी को हृदयङ्गम करेंगे।

महावीर का कहना था दूसरे के विचारों को झूठा कहने के स्थान पर यह जानने की कोशिश करो कि कौन व्यक्ति किस परिस्थिति में बोल रहा है। सम्भव है, यदि तुम उस परिस्थिति में होते तो तुम भी ऐसा ही बोलते। प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार विचारों का निर्माण करता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण होता है। अपना सोचने का ढंग होता है, अपना स्तर होता है। प्रौढ़ व्यक्ति से हम जिस सभ्यता और शिष्टाचार की आशा रखते हैं वह एक बालक से नहीं की जा सकती। मानसिक रोगों से अभिभूत व्यक्ति यदि अनर्गल प्रलाप करता है तो वह दया का पात्र है, क्रोध का नहीं। जिस प्रकार क्रोध आत्मा का रोग है, उसी प्रकार हिंसा, चोरी, झूठ आदि भी आत्मा के रोग हैं। उनसे अभिभूत व्यक्ति उसी प्रकार दया का पात्र है जिस प्रकार एक रोगी। हमें उससे घृणा नहीं करनी चाहिए। उसके रोग को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। महावीर की जय का अर्थ है आवेश तथा अभिनिवेशों से ऊँचे उठकर तटस्थ दृष्टि से सोचने की जय। उसका अर्थ है अनेकान्त दृष्टि को जीवन में उतारने की जय। यदि महावीर की जय बोलते हुए भी हम एकान्त को पकड़े रहते हैं, अपने से मतभेद रखने वाले को झूठा कहते हुए नहीं हिचकते, पन्थ तथा सम्प्रदाय के अभिनिवेशों में जकड़े हुए हैं, तो उसका अर्थ है हम महावीर की जय नहीं बोलते। हम अपने कषाय तथा अहङ्कार की जय बोलते हैं।

महावीर ने कहा है और अपने जीवन द्वारा बताया है कि मनुष्य अपना विकास स्वयं कर सकता है। आत्मा मनुष्य का मित्र है और आत्मा ही मनुष्य का शत्रु है। यही नन्दन वन है, यही वैतरणी नदी है। यही कामधेनु

है, यही कूट शाल्मली है। उन्होंने कहा—"हे पुरुषो ! तुम्हीं तुम्हारे मित्र हो, बाहर मित्रों की खोज कहाँ कर रहे हो ?" धर्म प्रचार के लिए भी महावीर ने कभी दूसरे का सहारा नहीं लिया। आत्मबल ही एकमात्र उनका साथी था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जिस धर्म के प्रचार के लिए परावलम्बन की आवश्यकता हो, धन सम्पत्ति या परिग्रह की आवश्यकता है वह धर्म नहीं हो सकता। परावलम्बन, परिग्रह, हिंसा आदि पर विजय प्राप्त करना ही तो धर्म है। यदि धर्म स्वयं उनके सामने झुक जाय तो वह धर्म ही न रहेगा।

महावीर की जय का अर्थ है पराधीनता पर स्वाधीनता की विजय। परिग्रह पर अपरिग्रह की विजय। पूँजी पर श्रम की विजय। धनवान् पर फक्कड़ की विजय। यदि महावीर की जय बोलते हुए भी हम परावलम्बी हैं, हमारा धर्म अपने प्रचार के लिए पैसे का मुंह ताकता है तो वह महावीर की जय नहीं है।

महावीर का जीवन घोर तपस्या का जीवन था। वे कष्ट तथा मुसीबतों का स्वागत करते थे। उन्हें पता चला कि श्वेताम्बिका के मार्ग में चण्डकौशिक नाम का भयङ्कर दृष्टिविष सर्प रहता है तो वे अपनी अहिंसा की साधना को आजमाने के लिए उसी ओर चल दिए। उनके हृदय में प्रेम की जो धारा बह रही थी उसने चण्डकौशिक को भी बदल दिया। उन्हें मालूम पड़ा राढ़ देश में धर्महीन क्रूरकर्मी लोग रहते हैं। वे उसी ओर चल दिए और भयङ्कर परीषहों को हँसते हुए सहा। किन्तु हम महावीर की जय बोलते हुए भी सुख-लोलुप बने हुए हैं। कष्टों से कतराते हैं। तकलीफों से भागते हैं। आराम-तलबी के कारण हमारा शरीर रोगों का घर बन गया है। गांवों में सब सुविधाएं नहीं मिलती। इसलिए वहाँ नहीं रहते। पद पद पर पैसे वालों का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार सुख की एषणा तथा कोमलता का जीवन महावीर की जय नहीं है। महावीर की जय का अर्थ है, सहिष्णुता की जय। शारीरिक सहिष्णुता, विचारों की सहिष्णुता और आध्यात्मिक सहिष्णुता। हम सहिष्णुता की ओर जितने अग्रसर होंगे, उतनी ही महावीर की सच्ची जय बोल सकेंगे।

प्रत्येक महावीर जयन्ती हमें महावीर की सच्ची जय बोलने में अग्रसर करे।

ग्रीष्म ऋतु का आहार-विहार

-वैद्यराज पं० सुंदरलाल जैन, इटारसी

अच्छे स्वास्थ्य के लिए जिस तरह शुद्ध अन्न, शुद्ध जल, सदाचार, शुद्ध वायु, निद्रा, स्नान, व्यायाम और ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक हैं, उसी तरह ऋतुचर्या का ज्ञान भी आवश्यक है। वसंतऋतु के बाद ग्रीष्मऋतु आती है। सूर्य की किरणें अत्यन्त तीक्ष्ण होकर मनुष्य, पशु पक्षी, वनस्पति आदि प्राणीमात्र की शक्ति को घटा देती हैं, यही कारण है कि गर्मी के मौसम में मनुष्य की शक्ति बहुत कम हो जाती है। इस प्राकृतिक नियम को दूर करना मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है। फिर भी आयुर्वेदोक्त दिनचर्या के अनुसार चलने में हानिकारक नतीजे से बचा जा सकता है। गर्मी के दिनों में अधिक व्यायाम करना मना है। सिर्फ घूमने फिरने और जल में तरने का व्यायाम उत्तम होता है। जीवनोपयोगी प्रत्येक कार्य को जहांतक हो सके दस-ग्यारह बजे तक पूर्ण कर देना चाहिए। बाद में भोजन करके ३-४ घंटे विश्राम करना चाहिए। वर्तमान समय में इन नियमों का पालन न होकर अंग्रेजी राज्य की चली आई प्रथा के आदी होने के कारण भारतवासियों को भोजन करके सुबह १० बजे से शाम के ४ बजे तक भीषण गर्मी में काम करना पड़ता है। यद्यपि यह नियम अन्य देशों के लिए उत्तम है, लेकिन भारतवर्ष में इस नियम के कारण हजारों, लाखों नवयुवकों की तन्दुरुस्ती खराब हो जाती है। भारतवासियों के लिए सब से अच्छा तरीका यह है कि प्रातः ६ से ११ बजे तक काम पूर्ण कर देना चाहिए। यदि काम ज्यादा हो तो शाम के ६ बजे से रात्रि के ९-१० बजे तक पूर्ण कर लेना चाहिए। इस तरह कार्य करने से गर्मी के मौसम में होने वाले बुरे परिणामों से बचाव हो जाता है।

प्रातः नित्य कर्म से निवृत्त होकर एक गिलास ठंढाई, दूध-दही की लस्सी अथवा जौ या चने के सत्तू को जल में मिला कर मीठा छोड़कर पीना चाहिए। जो लोग शर्बत पीने के आदी हैं वे खश या चंदन का शर्बत पियें। ये गुण और सुगंधि में उत्तम होते हैं। इनका बनाना भी सरल है। आधा पाव खश या चंदन का बुरादा लेकर १ सेर पानी में १२ घण्टे तक भींगने दें। पश्चात् अच्छी तरह से मल-छानकर ३ सेर बूरा या मिश्री मिलाकर एकतारी चासनी कर छान कर बोतल में भर लें। इन दोनों के अर्क से भी शर्बत बना

सकते हैं। चन्दन मैसूर राज्य का और खस सवाई माधोपुर (जयपुर) का सर्वश्रेष्ठ होता है। मद्रास प्रांत में अधिक गर्मी पड़ती है, ये प्रदेश अधिक गर्म माना गया है। वहां के निवासी प्रातःकाल के भोजन में ठंडा भात और इमली का जल बनाकर खाते हैं। ऋतुचर्या की दृष्टि से तो यह उत्तम हैं, यद्यपि बासी भोजन और इमली का नित्य सेवन हानिकारक है, परंतु गर्मी के बचाव के लिए इसके सेवन की प्रथा चल पड़ी है, जो बुरी नहीं है। राजपूताने में जौ के आटे को मट्ठा में मिलाकर वार्ली की तरह बनाकर रख लेते हैं। बासी होनेपर मट्ठाके साथ मिलाकर खाते हैं। इसको राजपूताने में रावड़ी कहते हैं। यह गर्मी से बचने के लिए उत्तम पेय है। ये पेय मूत्रकारक और ठंडे होते हैं। दुर्भाग्यवश इस मौसम में भी अधिकांश व्यक्ति गर्म चाय को पीते हैं, जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है। आयुर्वेद महर्षियों के अनुसार गर्मी में मद्यपान करना मना है। अधिक मद्य सेवन से सूजन, सुस्ती, बेहोशी पैदा होकर अनेक बीमारियाँ हो जाया करती हैं। भारतवासियों के लिए शराब बहुत ही हानिकारक पेय है। जो इसका सेवन करते हैं उनका लीवर बहुत जल्द खराब हो जाता है और वे अकाल मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं।

दोपहर के भोजनमें उत्तम चावल, पतली दाल, या कढ़ी, दही, अथवा मट्ठा होना चाहिए। जो सिर्फ चावल पर नहीं रह सकते वे सिर्फ जौ या गेहूँ की रोटी भी खा सकते हैं, घरेलू भोजन अल्प मात्रा में ही करना चाहिए। भोजन भरपेट नहीं करना चाहिए, क्योंकि गर्मी के कारण पाचक अग्नि कमजोर हो जाने के कारण, अजीर्ण होने का भय रहता है। दोपहर को सोने के बाद दिन बड़े होने के कारण भूख लग जाती है। उस समय भुने हुए जौ या चने खाकर पानी पी लेना चाहिए। रात्रि के भोजन में रोटी, हरी तरकारी, प्याज, पोदीना, और धनियाँ आदि का इस्तेमाल करना चाहिए। इस मौसम में कच्चे प्याज का सेवन भी फायदेमन्द है। भारत के किसान लोग सिर्फ कच्चा प्याज खाकर ही धूप में काम करते हुए भी नीरोग रहते हैं। इस ऋतु में भारतवर्ष भर में आमों की फसल बहुतायत से होती है। आमों की कई किस्में होती हैं। कलमी आम खाने में स्वादिष्ट व देखने में सुंदर होने पर भी उतने गुणदायक नहीं होते जितने कि स्वदेशी चूसे जाने वाले आम। कलमी आमों में गूदा अधिक होने के कारण ये देरी से हजम होते हैं।

आयुर्वेदीय तरीके के अनुसार इस ऋतु में भोज्य पदार्थों को कपूर से सुगन्धित कर लेना उत्तम होता है। दूध को गर्मकर ठंडा कर लेने के बाद

मिश्री मिलाकर पीना चाहिए। इस ऋतु में दिन में २-३ घंटे सोना स्वास्थ्य के लिए हितकर होता है। इस ऋतु में स्त्री प्रसङ्ग करना निषिद्ध है। क्योंकि गर्मी के कारण मनुष्य का स्नायु-मंडल कमजोर हो जाता है। ऐसी अवस्था में प्रसङ्ग करने से शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार की कमजोरियां आ जाती हैं। आजकल के लोग इस ऋतु में बर्फ, लेमनेड, आइस्क्रीम, सोडावाटर, आदि का सेवन ज्यादह करते हैं, इसके सेवन से तत्काल फायदा मालूम होने पर भी स्थायी लाभ नहीं होता, बल्कि इन चीजों के अधिक सेवन से हाजमा शक्ति कमजोर एवं विकृत होकर कई तरह की बीमारियां पैदा हो जाती हैं। दांतों के रोगों की उत्पत्ति का मुख्य कारण इन चीजों का सेवन ही है। अतः इनकी अपेक्षा भारतीय ठंडाई, शर्बत, लस्सी आदि का सेवन हितकर होता है। बर्फ का सेवन यदि करना ही हो तो पानी या लस्सी आदि में बर्फ न डालकर बर्तन के चारों ओर रख देना चाहिए।

हमारे देश में इस ऋतु में भयानक लू भी चलती है जिससे सैकड़ों मनुष्यों की मृत्यु हो जाती है। इससे बचने के लिए जहां तक बन सके दोपहर को लू में बाहर नहीं निकलना चाहिए। यदि कारणवश बाहर निकलना ही पड़े तो जल अधिक पीकर तथा सफेद मोटे कपड़े पहिनकर चलने से लू लगने का अधिक भय नहीं रहता। इस ऋतु में तप्त वातावरण के कारण शुष्कता आ जाती है, इसलिए शरीर के भीतर वात दोष का संचय होने लगता है। इसलिए इस ऋतु में शुष्क और गर्म-पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।

पथ्य—मधुर, शीतल, प्रवाही, स्निग्ध पदार्थ, मिश्री, शक्कर, मन्थ (सत्तू मिश्री, घी आदि मिलाकर ठंडे पानी में घोल बनाकर) दूध, शाली चावल, गेहूं, मूंग की पतली दाल, प्याज, आलू, कच्चे पक्के आम, धनियाँ, जीरा, दूध व दही की लस्सी, आम का पना, सेंधानमक, नींबू, मक्की, इमली, आंवला, कोकल, अनार, संतरा, अंजीर, अंगूर, चंदन का लेप, शीतल स्थान में रहना, दिन में थोड़ा शयन, ताड़ या खश के पंखे की वायु, मोतियों की माला, सुगंधित पुष्पों की माला, बगीचों में रहना ये सब इस ऋतु में पथ्य हैं।

अपथ्य—तेजनमक, तेज खटाई, चरपरे पदार्थ, लालमिर्च, रात्रि को अधिक जागरण, तेल, सरसों, गुड़, खट्टा दही, सूर्य के ताप में भ्रमण, मैथुन, धूम्रपान, मांस का सेवन और अधिक व्यायामादि का करना, इस ऋतु में अपथ्य हैं।
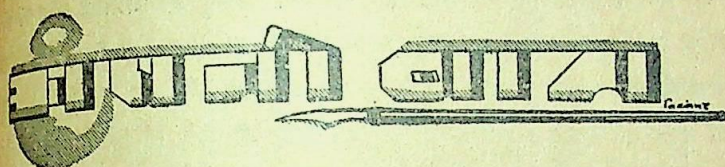
महावीर जयन्ती

यह हर्ष की बात है कि जैन समाज में महावीर-जयन्ती मनाने का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। समस्त भारत में स्थान स्थान पर जयन्ती समारोह के जो समाचार हमें प्राप्त हुए हैं वे उत्साहवर्द्धक हैं। जो समाज अपने महापुरुषों को याद रखता है, उनके जीवन से प्रेरणा प्राप्त करता है, उनके गुणों का विस्तार करता है, अपने बच्चों को उनकी गौरव गाथा सुनाता है उसके उत्थान की पूरी आशा की जा सकती है। इतना ही नहीं, महावीर जयन्ती भिन्न भिन्न फिरकों और सम्प्रदायों में बँटी हुई जैन समाज की एकता का प्रतीक है। उस दिन श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी आदि सभी मिल कर भगवान् महावीर की जय बोलते हैं। साम्प्रदायिक तनाव को दूर करके परस्पर भ्रातृभाव स्थापित करने का यह एक सुन्दर अवसर है।

भारतीय राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी महावीर जयन्ती का महत्त्व कम नहीं है। अहिंसा तथा विश्वमैत्री हमारी स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता की आधार शिलाएँ हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने अहिंसा संग्राम किया और संसार के सामने एक नया आदर्श उपस्थित किया। भगवान् महावीर की साधना अहिंसा और विश्वमैत्री की साधना थी। उन्होंने पहले पहल यह सुनाया कि किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। किसी को नहीं सताना चाहिए। किसी का अधिकार नहीं छीनना चाहिए। 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्त को उन्होंने सर्वप्रथम व्यवहार में रखा था। महावीर जयन्ती का अर्थ है अहिंसा की जयन्ती, विश्वप्रेम की जयन्ती। इस प्रकार विश्व की वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिए भी महावीर जयन्ती का महत्व कम नहीं है।

किन्तु हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है कि महावीर जयन्ती को कैसे मनाया जाय। इसे मनाते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि महावीर जयन्ती का ध्येय लुप्त न होने पावे।

महावीर-जयन्ती मनाने में कुछ लोगों का ध्येय समाज-संगठन रहता है। वे यह मानते हैं कि इस निमित्त से सभी जैन इकट्ठे हो जाते हैं और परस्पर एकता का परिचय देते हैं। सर्वसाधारण को आकृष्ट करने के लिए वे मनोरंजन का कार्यक्रम रखते हैं और वही उत्सव का मुख्य अंग बन जाता है। जहां तक ध्येय का प्रश्न है समाज-संगठन का ध्येय भी बुरा नहीं है। किन्तु उसके लिए हँसी मजाक या अन्य मनोरंजन का ऐसा कार्यक्रम रखना कि लोगों का ध्यान महावीर से हटकर केवल मनोरंजन में बना रहे तो यह उचित नहीं कहा जा सकता, हम यह नहीं कहना चाहते कि मनोरंजन बिल्कुल न रहे। भव्य संगीत के रूप मे मनोरंजन रखा जा सकता है किन्तु वह उसी अवसर का पोषक होना चाहिए।

भजनों के चुनाव में भी काफी सावधानी की आवश्यकता है। उनमें ऐसी कोई चीज नहीं आनी चाहिए जो महावीर के सिद्धान्तों से प्रतिकूल हो। विश्वबन्धुत्व का सन्देश देने वाले की जयन्ती पर साम्प्रदायिक विद्वेष को भड़काने वाले गीत गाना ऐसा ही है। हमें एक जगह हरिसिंह नलवा, भगतसिंह आदि के गीत सुनने को मिले। उन्हें महावीर जयन्ती जैसे अवसर के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। कहाँ महावीर की अहिंसा और कहाँ हरिसिंह नलवे का रक्तपात।

कुछ जगह ऐसा भी देखा गया कि कार्यक्रम बहुत लम्बा हो गया। उसमें भजन, बालकों के संवाद विद्वानों के भाषण आदि सारी चीजें इकट्ठी कर दीं। इससे किसी एक प्रकार का वातावरण नहीं बनता और लोग बैठे बैठे ऊब जाते हैं। जहाँ तक हो सके कार्यक्रम दो घंटे से अधिक लम्बा नहीं होना चाहिए। यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो भजन, बालकों के संवाद आदि मनोरंजक कार्यक्रम को अलग कर दिया जाय और दो तीन गम्भीर भाषणों को अलग रख दिया जाय। उनके साथ दो तीन अच्छे भजन रखे जा सकते हैं। इससे उन भाषणों की गम्भीरता बनी रहेगी। हो सकता है, इस प्रकार के कार्यक्रम में अधिक उपस्थिति न हो, किन्तु जो भी आएंगे, वे कुछ लेकर जाएँगे। तमाशबीनों को इकट्ठा करने से विशेष लाभ नहीं होता।

बम्बई में जैन युवक संघ द्वारा पर्युषण-व्याख्यान-माला का जो आयोजन किया जाता है वह एक सुन्दर उदाहरण है। वे दो व्याख्यान रखते हैं और

दो तीन भजन। इस प्रकार लोगों में रुचि बनी रहती है और तत्त्वजिज्ञासुओं को कुछ सुनने को मिलता है।

समय का पालन भी अत्यावश्यक तत्त्व है। समाचार पत्रों या अन्य साधनों द्वारा जिस समय की घोषणा की जाय कार्यक्रम ठीक उसी समय प्रारम्भ हो जाना चाहिए। समाज कितना सुसंस्कृत तथा सुरुचिपूर्ण है, इसका इन बातों से पता लगता है।

दिल्ली में इस अवसर पर लीडरों को आमन्त्रित करने के लिए काफी दौड़-धूप की जाती है। दसियों जगह उत्सव मनाए जाते हैं। लीडर तथा अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों को आमन्त्रित करना बुरा नहीं है किन्तु इसके पहले यह सोच लेना चाहिए कि हम उनके सामने कौन सा आदर्श उपस्थित कर सकेंगे। जब तक हम अपने परस्पर व्यवहार में प्रेम नहीं लाते, केवल उत्सवों में बुलाकर उन्हें प्रभावित नहीं कर सकते। इसके साथ यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि जहाँ किसी लीडर को बुलाया जाय वहाँ जैन धर्म का ठीक ठीक परिचय देने वाला एक विद्वान् भी रहना चाहिए।

महावीर जयन्ती के अवसर पर यदि कुछ रचनात्मक कार्य किए जायँ तो वह और भी प्रभावशाली हो सकती है। उस दिन हरिजनों के प्रति वाणी तथा कार्य द्वारा प्रेम प्रकट किया जाय, ऊँचनीच की भावना को दूर किया जाय, उनके लिए धर्मस्थान तथा मन्दिरों के द्वार खोल दिए जायँ, घर में नौकरों को छुट्टी देकर सारा काम अपने हाथ से किया जाय, साम्प्रदायिकता को दूर करने का प्रयत्न किया जाय। ये ऐसे कार्य हैं, जिन से समाज का चरित्र ऊँचा उठेगा, हम महावीर के सन्देश की ओर स्वयं अग्रसर होंगे और दूसरों को उस ओर आकृष्ट कर सकेंगे।

—इन्द्र

आदर्श विवाह व अनुकरणीय दान

मिती चैत्र शुक्ला १३ व मिती चैत्र शुक्ला १५ को जलगाँव निवासी श्री सेठ सागरमल जी नथमल जी के यहाँ दो आदर्श विवाह सानन्द सम्पन्न हुए।

श्री सेठ इन्द्रचन्द्र जी चुनीलाल जी लुणावत, धामणगाँव निवासी के सुपुत्र चि० प्रेमचन्द्र जी B. Com. का विवाह श्री सेठ पुखराज जी सागरमल जी लुंकड़ की सुपुत्री चि० देवबाला बाई के साथ तथा श्री सेठ इन्द्रचन्द्र जी लूणिया, हैदराबाद निवासी के सुपुत्र चि० सुरेन्द्रमल जी का विवाह श्री सेठ नथमल जी सागरमल जी लुंकड़ की सुपुत्री चि० शशिबाला बाई के साथ हुआ। दोनों विवाहों में पधारे हुए समाज के उच्चकोटि के नेताओं के समयोपयोगी व प्रभावशाली भाषणों से विवाहोत्सव को अधिकतम सौन्दर्य प्राप्त हो गया था।

इन दोनों विवाहों में सम्बन्धियों का पारस्परिक प्रेम व अतिथि सत्कार अपना एक विशेष आदर्श था। अनेकों सामाजिक रूढ़ियों के उच्छेदन के साथ-साथ वर-वधू पक्षों की तरफ से कुल ५७०४) रुपए सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, सार्वजनिक व शैक्षणिक संस्थाओं को तथा सामाजिक व राजनैतिक समाचार पत्रों को भी दान स्वरूप प्रदान किये गए।

दान की रकमों का विभाजन किसी प्रकार का जातीय या साम्प्रदायिक भेदभाव न रखते हुए लगभग ६० संस्थाओं में किया गया। समाज के सब समर्थ व सम्पन्न सज्जनों के लिए ये विवाह अनेक दृष्टि से अनुकरणीय थे।

हम नव दम्पति के भावी जीवन में सुख, समृद्धि व आरोग्य की प्रार्थना श्री वीर प्रभु से करते हैं व समाज के अन्य सज्जनों से भी सुधारक विवाह पद्धति का अनुकरण करने की प्रार्थना करते हैं।

—कन्हैयालाल दक

जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला का शानदार परीक्षा परिणाम

इधर कुछ वर्षों से गुरुकुल के विद्यार्थी पंजाब की मैट्रिक परीक्षा में बहुत ही अच्छा परिणाम ला रहे हैं। इस वर्ष भी ५२ विद्यार्थियों में से २९ प्रथम श्रेणी में, १९ द्वितीय श्रेणी में, और सिर्फ २ तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए हैं। परीक्षा परिणाम ९७ प्रतिशत रहा है। पढ़ाई के साथ साथ खेती बाड़ी, दर्जी, बढ़ई, कातना, बुनना आदि कई तरह के काम भी सिखाए जाते हैं। विद्यार्थिओं के लिए व्यायाम, खेल, ड्रिल आदि के भी पूरे साधन हैं। इन का अपना बैन्ड भी है।

यह सब कुछ होते हुए भी प्राइमरी में २५) रु०, मिडल में ३०) रु०, और उच्चश्रेणियों में सिर्फ ३५) रु० मासिक लिये जाते हैं। जिसमें दूध-फल, नाश्ता आदि के साथ पूरी खुराक, निवास, कपड़े, जूते, बिस्तरा, रजाई कंबल, फर्नीचर, बर्तन, न्हाने धोने का साबुन, तेल, रोशनी तथा पढ़ाई का सारा सामान-स्टेशनरी, पुस्तकें आदि कुल गुरुकुल की ओर से दिया जाता है। आज के युग में इतनी सस्ती और अच्छी शिक्षा बहुत ही कम स्थानों में मिलती होगी।

आजकल गुरुकुल में ९०० विद्यार्थी पढ़ रहे हैं। वार्षिक बजट करीब तीन लाख का है। शरणार्थी विद्यार्थिओं का सारा खर्च केन्द्रीय सरकार देती है। प्रबन्ध पूर्णतया जैन समाज के हाथ में है। सारा कार्य धार्मिक व सेवा भावना से हो रहा है। गुरुकुल की इस उन्नति में सब से बड़ा हाथ गुरुकुल कमेटी के प्रधान ला. तेलूराम जी का है। इन दिनों वे योरोप गए हुए हैं। उन के बाद आजकल स्थानापन्न प्रधान ला. नाहर सिंह जी जैन हैं। जो दिलोजान से गुरुकुल की उन्नति में लगे हुए हैं। धर्मवीर ला. रूपलाल जी गुरुकुल के अधिष्ठाता हैं। थोड़े खर्च में इतनी सुन्दर व्यवस्था का श्रेय आप को ही है। गुरुकुल के योग्य प्रिंसिपल बख्शी संसारचन्द जी P. E. S. विद्यार्थिओं की इतनी

सुन्दर शिक्षादीक्षा संबन्धी व्यवस्था के संचालन में बड़े कुशल व अनुभवी व्यक्ति हैं। गुरुकुल के अध्यापकों व कार्यकर्ताओं का जमाव भी काफी अच्छा है। गुरुकुल की उन्नति में इन सब का बड़ा हाथ है।

हमें आशा है जैन समाज भी अपने प्यारे गुरुकुल के लिए पूरे उत्साह व सहयोग का परिचय देगा।

निवेदक :—
ओंप्रकाश जैन,
मन्त्री-श्री जैनेंद्र गुरुकुल पंचकूला,
P. O. पंचकूला गुरुकुल
(जिला अंबाला)

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस—५

श्रमण

सम्पादक
पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अंक ९

इस अंक में—

'श्रमण' के विषय में—

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाए जाते हैं
३. श्रमण में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें
६. वार्षिक मूल्य मनिऑर्डर से भेजना ठीक होगा
७. समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति =)

प्रकाशक—कृष्णचन्द्राचार्य,
अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ५ जुलाई १९५४ अंक ९

वीरत्थुई—वीरस्तुति

आर्य सुधर्म स्वामी से उनके आयुष्मान् शिष्य आर्य जम्बूस्वामी ने प्रश्न किया कि—

पुच्छिस्सुणं समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिया य।
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु, अणेलिसं साहु-समिक्खयाए ॥१॥
कहं च णाणं कहं दंसणं से, सीलं कहं णायसुयस्स आसी ?
जाणासि णं भिक्खु! जहातहेणं, अहासुयं बूहि जहा णिसंतं ॥२॥

—हे आर्य ! मुझसे श्रमण, ब्राह्मण, गृहस्थजन, एवं अन्य मतवालों ने पूछा है कि—वे कौन हैं, जिनने साधुसमीक्षा से—अपने सम्यग्ज्ञान से एकान्त हितकारी, अनुपम धर्म को कहा है।

—उस ज्ञातृसुत—महावीर भगवान का ज्ञान कैसा था ? दर्शन—आत्मानुभव कैसा था ? और उनका शील—चारित्र कैसा था ? हे भिक्षो, सुधर्मस्वामिन् ! आप ठीक ठीक जानते हैं, जैसा सुना व समझा है—वैसा फर्माइए। १–२।

तब आर्य सुधर्मा ने आर्य जम्बू से कहा कि—

खेयन्नए से कुसले महेसी, अणंतनाणी य अणंतदंसी।
जसंसिणो चक्खु पहे ठियस्स ; जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥३॥
उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
से णिच्च-णिच्चेहि समिक्ख पन्ने, दीवे व धम्मं समियमुदाहु ॥४॥

—वे भगवान महावीर खेदज्ञ थे—जीवों के शारीरिक, मानसिक क्लेशोंको सहानुभूति के साथ अनुभव करने वाले थे। कुशल थे—सत्-असत् का विवेक करने में निपुण थे, अथवा कर्मरूपी कुशा को उखेड़ने वाले थे। महर्षि—महान् ऋषि थे। अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन वाले थे। उस यशस्वी, चक्षुःपथ में स्थित भगवान के धर्म और धृती—धैर्य—संयम की दृढ़ता को विचार कर देखो।

—उस प्राज्ञ—प्रज्ञाशाली भगवान ने ऊपर, नीचे तिरछी दिशाओं में जितने भी त्रस—हलने चलने वाले, स्थावर—स्थिर रहने वाले वृक्षादि में, प्राणी हैं। उन सबको नित्य और अनित्य दृष्टि से सम्यक् जानकर संसार सागर में डूबते हुए जीवों के लिए द्वीप—टापू के समान, समित—उत्तम व सम्यक् आचरण वाले धर्म को कहा है। ३–४।

से सव्वदंसी अभिभूय नाणी, निरामगंधे धिइमं ठियप्पा।
अणुत्तरे सव्व जगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥५॥
से भूइपन्ने अणिए अचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खु।
अणुत्तरं तप्पइ सूरिए वा, वइरोइणिंदेव तमं पगासे ॥६॥

—वे भगवान सर्वदर्शी—सब कुछ देखने वाले थे। अभिभूय-अतिशय ज्ञानी थे। निरामगंध, आम—खराब गंध से रहित—सुगन्धित शरीर वाले थे। धृतिमान्—धीरज वाले थे। स्थित-आत्मा—निश्चल-आत्मा—सब संकल्प-विकल्पो से दूर थे। सारे जगत में अनुत्तर—सबसे बढ़कर विद्वान थे। ग्रन्थ—परिग्रह से रहित थे। अभय—निर्भय थे। अनायु—आयु से रहित—जीवन्मुक्त थे।

—वे भगवान् भूतिप्रज्ञ—संसार का मंगल व कल्याण करने वाली प्रज्ञा—बुद्धि वाले थे। अनियतचारी—विचरने में प्रतिबन्ध—रुकावट नहीं रखते थे। ओघंतर—बड़े से बड़े वेगों को पार करने वाले थे। धीर थे। अनन्तचक्षु—विशाल दृष्टि वाले थे। सूर्य के समान सबसे अधिक तपने वाले—तपश्चरण करने वाले थे। अग्नि के समान अन्धकार में भी प्रकाशमान थे। ५–६।

—श्रमण

जैन धर्म का वैशिष्ट्य

प्रो० विमलदास कोंदिया जैन, एम. ए., एल. एल. बी.,
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

यथार्थ-वादित्व

भारतवर्ष के अत्यन्त प्राचीन धर्मों में से जैनधर्म एक है। इस धर्म के प्रतिपादक समय समय पर होने वाले तीर्थंकर हैं। यह धर्म ईश्वरीय न होकर मानव जीवन का अनुभव है। तीर्थंकरों ने जैसा अपने दिव्य ज्ञान में अनुभव किया वैसा ही संसार के सामने रखा। अनुभव-मूलक होने से इस धर्म में यथार्थता है। यथार्थता का अर्थ है जो पदार्थ विश्व में जिस प्रकार से अवस्थित है उसको उसी प्रकार से देखना और जानना। तीर्थंकरों ने यथार्थता का उसी प्रकार अनुभव किया है। इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्वभाव में अवस्थित है उसको उसी प्रकार देखना और जानना यथार्थता है। तीर्थंकर इसी अभिप्राय को लेकर यथार्थवादी कहलाते हैं। जैन धर्म का यथार्थवादी होना इसका वैशिष्ट्य है जो इसको इतर धर्मों से पृथक् करता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस यथार्थवाद को बहुत ही उच्चतम दार्शनिक भाषा में प्रकट किया है। वह लिखते हैं :—

> अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
> मेलंता वि य णिच्चं सग-सग सभावं ण मुच्चन्ति ॥

अर्थात् सब द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं। एक दूसरे को अवकाश देते हैं। तथा आपस में मिल भी जाते है, किन्तु अपने अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। यथार्थवाद का इससे सुन्दर विवेचन नहीं हो सकता। यह उत्कृष्ट ज्ञान आचार्य भद्रबाहु से कुन्दकुन्द को साक्षात् प्राप्त हुआ था। इसमें प्रत्यय-वाद या विचारवाद (Idealism) के लिए स्थान नहीं। प्रत्ययवाद अन्त में एकत्व की व्यवस्था करता है। साधारण यथार्थवाद केवल अनेकत्व की स्थापना करता है। सत्य यथार्थवाद (True Realism) इसके विपरीत अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप की व्यवस्था करता है। यथार्थ में तत्त्व (Reality)

अनेकान्त स्वरूप है। यथार्थवाद इसीके आधार पर खड़ा रहता है। प्रत्यय-वाद हमें भाववाद में ले जाकर यथार्थता को नष्ट कर डालता है। अतः अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि यथार्थता जैन धर्म का मूल है।

आचार

धर्म का बाह्य रूप आचार है। केवल विचारात्मक धर्म का कोई अर्थ नहीं। बाह्य रूपमें आचार की अत्यन्त महत्ता है। कहा भी है "हतं ज्ञानं क्रियाशून्यम्" क्रिया से शून्य ज्ञान नष्ट हो जाता है। जैनधर्म का आचार दश धर्म (उत्तम क्षमा आदि) रूप है। यह आभ्यन्तर आचार है। आचार क्षेत्र में मुनियों के लिए तीन गुप्तियां और पांच समितियां जिनको अष्ट प्रवचन माताएं कहा जाता है, मुख्य हैं। इनके बिना मुनि नहीं हो सकता। व्रत संयम, भावना, ध्यान, परीषह-सहन आदि भी आचार में ग्रहण किये जाते हैं।

इस सब प्रकारके आचार का मूल अहिंसा है। आचार्य समंतभद्र के शब्दों में "अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्" अर्थात् अहिंसा जगत् में परम ब्रह्म का स्वरूप समझा जाता है। आत्मा पूर्णरूप से अहिंसक है। यह जीवन का परम तत्व है। अहिंसा की साधना आत्मा की साधना है। इसकी प्रतिष्ठा में वैरभाव जो संसार का मूल कारण है, दूर हो जाता है। अहिंसा आरम्भ और परिग्रह की भावना को कम करती है। आज का संसार आरम्भ और परिग्रह की भावना से अवलिप्त है। अतः दुःखी है। आरम्भ और परिग्रह की कथा के लिए अणु आदि शक्तिओं का आविष्कार हुआ है जो अत्यन्त भयंकर और विनाशकारी हैं। इस हेतु से ही परमर्षियों ने अहिंसा-मूलक आचारको परमोत्कृष्ट आचार कहा है। आचार हीन मनुष्य न अपना उद्धार कर सकता है और न परका। अहिंसक आचार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पोषक होता है। यदि यह कह जाय कि ये सब अहिंसा ही की व्याख्याएं हैं तो अत्युक्ति नहीं।

इस प्रकार के आचार की पुष्टिके लिये जैनों ने दो बातों पर अधिक जोर दिया है। प्रथम प्रत्येक मनुष्य को जल छान कर पीना चाहिए। द्वितीय रात्रि भोजन नहीं करना चाहिए। इन दोनों का सेवन न करने वाला त्रस हिंसा को करता हैं। इतना ही नहीं उसको मांस भक्षण का भी दोष लगता है। जैनाचार में मद्य, मांस, मधु के लिए बचपन से ही स्थान नहीं है।

सप्त व्यसनों (जुआ, चोरी आदि के सेवन करने से भी नहीं पाला जा सकता है। इन सब बातों के विवेचन से हमें यह ज्ञात होता है कि एक सच्चे राष्ट्र के नागरिक के लिए इस प्रकार का आचार अत्यन्त सराहनीय है। समय था जब सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में ऐसे ही नागरिकों की अत्यधिक संख्या थी। उस समय पाटलिपुत्र (पटना) नगर में कोई व्यक्ति अपने घर को ताला नहीं लगाता था। इस प्रकार आचार की शिक्षा प्रदान कर जैन धर्म ने अब तक अपने वैशिष्टय को कायम रक्खा है। और भविष्य में रखेगा—ऐसी आशा है।

विचार

विचार क्षेत्र में जैन दर्शन की देन अनेकान्त है। अनेकान्त विचार का चरम ध्येय है। विचार करते करते हम वस्तुतत्त्व अनेकान्त रूप है इस रहस्य पर पहुँचते हैं। इस भूमि पर पहुँचने पर एकान्त के लिए, चाहे वह अद्वैत के भाव पर क्यों न पहुँचा देवे, स्थान नहीं। एकान्त विचार आंशिक दृष्टि का प्रतीक होता है। जहां आंशिकता है वहां पूर्णता नहीं हो सकती। इस हेतु से ही समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन में अनेकान्त को अशेष स्वरूप कहा है। इस पूर्णरूप अनेकान्तको हम निश्चय और व्यवहार दृष्टियों से जान सकते हैं। कौन सांसारिक व्यक्ति है जो एक ही मनुष्य को भिन्न भिन्न सम्बन्धों से नहीं जानता है? एक ही संबन्ध से तो कोई किसी को नहीं जानता। यह संबंधों की विशेषता ही मनुष्य को पूर्णज्ञान कराने में सहायक होती है। केवल ज्ञान इसी अनेकान्त तत्त्व का प्रकाशन करता है। जात्यन्ध व्यक्ति के लिए हाथी के विधान के समान हमारे ज्ञान अधूरे हैं। शुद्ध दृष्टि वाला ही मनुष्य हाथी के पूर्ण ज्ञान करने में समर्थ होता है। विचार गत अस्ति-नास्ति विकल्प भी हमारी बुद्धि को अनेकान्त की ओर प्रेरित करते हैं। अतः हमें अर्पित और अनर्पित भावों से ही वस्तु की सिद्धि करनी चाहिए। यह अनेकान्त तत्त्व स्याद्वाद-शासन (Syadvadic State) के स्थापन का मुख्य कारण है। हमारा कर्तव्य है कि हम स्याद्वाद-शासन को राजनैतिक क्षेत्र में स्थापित कर संसार के लोगों को ऐहिक जीवन में शान्ति और सुखके साधन पैदा करें। जनतन्त्र में जो त्रुटियां हैं उनको स्याद्वाद-शासन के सिद्धान्त द्वारा दूर किया जा सकता है। जैन तथा अन्य लोगों को इसके महत्व को पहचान कर इस पर विचार करना चाहिए। विचार की, बीसवीं सदी में, यह उत्कृष्ट देन सिद्ध होगी। स्याद्वाद-शासन सब प्रकारके राजनैतिक विरोधों का सामंजस्य रूप सर्वोत्तम शासनतन्त्र है।

वचन

विचार के बाद वचन का स्थान है। प्रायः विचारानुसार ही वाणी होती है। जब अनेकान्तरूप विचार होगा तो वाणी अवश्य ही स्याद्वादरूपिणी होगी। क्योंकि विचारों को ही वाणी या वचन द्वारा व्यक्त किया जाता है कहा भी है 'स्याद्वादः श्रुतमुच्यते' स्याद्वाद को ही श्रुत करते हैं! वस्तु तत्त्व अनन्त है। अनन्त तत्त्व को वचन में प्रतिबद्ध करने का सामर्थ्य नहीं। वचन उसके अनन्तवें भाग का ही विवेचन कर सकते हैं। लिपिबद्ध उसका भी अनन्तवां भाग होता है। अतः स्याद्वाद का आश्रय लेना पड़ता है। स्याद्वाद गौण-मुख्य भाव को लेकर प्रवृत्त होता है। जब वस्तु तत्त्व अनेकान्त स्वरूप है तो उसका वचनात्मक वर्णन स्याद्वाद द्वारा ही हो सकता है। स्याद्वाद शब्द में 'स्यात्' शब्द की सबसे अधिक महत्ता है। यह शब्द सत्य का प्रतीक है। सत्य का प्रतिपादन साद्वाद द्वारा ही हो सकता है। जो व्यक्ति स्याद्वाद का आश्रय लेकर विवेचन या प्रतिपादन नहीं करेगा वह मिथ्या मार्ग का आश्रयण करेगा।

वस्तु धर्म अनेक हैं। नित्य, अनित्य, एक, अनेक, व्यापी, अव्यापी, क्षणिक, अक्षणिक आदि अनेक धर्मों को गुण-मुख्य विकल्पों द्वारा प्रतिपादन और विवेचन करना स्याद्वाद का कार्य है। स्याद्वाद विरोध का ध्वंस करने वाला है। विरोध के न रहने से अन्य दोष शून्यवत् हो जाते हैं। संसार में जितना झगड़ा या विवाद या विषमताएं हैं उन सब का मूल एकान्त-आग्रह है। आज प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी चलाना चाहता है। साम्यवाद, पूंजीवाद, जनतंत्र, अधिनायक तंत्र आदि सब एकान्त-आग्रह हैं। हमें अपने भारत वर्ष में किसी एकान्त-आग्रह को ग्रहण नहीं करना है, यहां की नीति सदा सर्वोदय रूप रही है। यह सर्वोदय का आदर्श आचार्य समन्तभद्र ने ही सर्व प्रथम इस देश में प्रतिष्ठापित किया था। इस आदर्श को हमें पुनः स्थापित करना चाहिए। इसके लिए केवल भूदान यज्ञ ही पर्याप्त नहीं है। इसको कार्य रूप में परिणत करने के लिए सर्व प्रथम विचारों में क्रान्ति पैदा करनी है, पश्चात् वचनों को नियन्त्रित करना है। अनन्तर इसको कार्य रूप में परिणत कर मनुष्य जाति के अन्दर उत्कृष्ट आचार और व्यवहार की स्थापना करना है। तभी हमारे देश का उद्धार हो सकता है, यह सर्वोदय भावना ही मनुष्य को तीर्थंकर बनाने में सहायक होती है।

व्यवहार

व्यवहार का मूल अपरिग्रह है। परिग्रह की भावना मनुष्य को सदा अधः विचार की ओर प्रेरित करती है। परिग्रह की चिन्ता दुःख का मूल कारण है। जब परिग्रह की चिन्ता होती है तब व्यवहार शुद्ध नहीं हो सकता। व्यवहार सर्वदा परिग्रह की भावना से बिगड़ता है। परिग्रह बुद्धि स्वार्थ-साधिका होती है। जब मनुष्यों, जातिओं और राष्ट्रों में स्वार्थ टकराते हैं तो द्वन्द्व, युद्ध आदि की प्रवृत्तियां अपने आप प्रगट होने लगती हैं। आज सर्वत्र पूंजीवाद या परिग्रह की भावना अत्यधिक फैल रही है। इसलिए ही संघर्ष भी अधिक देखने में आता है। मनुष्य अपनी आवश्यक वस्तुओं के संग्रह की ही भावना रखे। अधिक को जनहित या राष्ट्रहित में खर्च करे। तभी सुख और शान्ति का उदय हो सकता है। शास्त्रकारों ने परिग्रह की अधिक भावना वाले व्यक्तियों के लिए नरकायु के बंध का योग बतलाया है। मनुष्य अल्पारंभ और परिग्रह की कम भावना से ही बनता है। मानव मानव तभी है जब तक उसमें अपरिग्रह की भावना है। परिग्रह की भावना रखने वाले व्यक्ति के लोभ स्वयं आ जाता है। लोभ पाप का बाप है। आज राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति इसके अभिशाप में फँसा हुआ है। समय आ रहा है जब आर्थिक साम्यवाद इसका स्वयं हल करेगा। आज हम जैनों में इसके सर्वथा विपरीत भावना देखते हैं। वीतराग निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों के उपासक सबसे अधिक परिग्रहके मोह में फंसे हुए हैं। यह आश्चर्यकारी बात है। यह विपरीत प्रतिक्रिया किस प्रकार हुई है यह अभी तक एक गूढ़ प्रश्न बना हुआ है। तीर्थंकरों के उपासकों को इस दिशा में आदर्श उपस्थित करना चाहिए।

अध्यात्म

मैं अपने कई लेखोंमें यह सिद्ध कर चुका हूँ कि अध्यात्मतत्व तीर्थंकरों के दिव्य ज्ञान के उपदेश का फल है। वैदिक लोगोंमें अध्यात्म वाद श्रमण लोगों के संसर्गसे प्रविष्ट हुआ। वेदों में आत्म-तत्त्व की स्थापना नहीं। वेद विशेष रूपसे क्रियाकाण्ड और वर्णाश्रम धर्मके पोषक रहे हैं। वैदिक शिक्षाका मुख्य उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति था। कहा भी है 'स्वर्ग-कामो यजेत्', स्वर्गकी प्राप्तिके इच्छुक व्यक्तिको यज्ञ करना चाहिए। उपनिषदोंका अध्यात्मवाद बहुत पीछे की वस्तु है। और वह भी ब्रह्मवाद का ही पोषक है। ब्रह्मवाद आध्यात्मिक

(Spiritual) न होकर वैश्वात्मक (Cosmological) है। यही कारण है कि उपनिषदोंमें हमें कई प्रकारके सिद्धान्त मिलते हैं जो परस्पर-विरोध सूचक भी हैं। आर्य कुन्दकुन्द अध्यात्म वाद के प्रबल पोषक हैं। उनका समयसार भारतीय दर्शनक्षेत्रमें अपूर्व स्थान रखता है। समयसार की समस्त पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। उन्होंने आत्मा का नाम 'समय' रखा है। वह आत्मतत्त्वके सूक्ष्मतम रूप को बड़ी सुन्दर दार्शनिक भाषा में उपस्थित करते हैं। उनकी आत्मा ज्ञान दर्शनमयी उपयोग स्वरूप है। यह निगोद अवस्थासे लेकर सिद्धत्व तक विकास करती चली जाती है। सिद्धत्व की प्राप्ति अध्यात्मवाद का परम गन्तव्य लक्ष्य है। मनुष्यजीवन की सर्वोत्कृष्ट यही साधना है। आर्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के तीन रूप बतलाए हैं—(१) बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा हेय है। अन्तरात्मा उपादेय है और परमात्मा प्राप्तव्य है। अध्यात्मवाद का यही रहस्य है। इसी अध्यात्म शिक्षा की रक्षा आर्य कुन्दकुन्द ने की जो आज तक तीर्थकरों के दिव्य उपदेश के रूपमें चली आ रही है। एक जगह कहा है—

> "एगो मे सासदो आदा णाण-दंसण-लक्खणो।
> सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
> संजोगमूलं जीवस्स पत्ता दुक्खपरंपरा।
> तम्हा संजोगसब्भावं सव्वं तिविहेण वोच्छरे॥"

ज्ञान-दर्शन रूप मेरी एक शाश्वत आत्मा है। इसके अतिरिक्त सब बहिर्भाव हैं और वे सब संयोगजन्य हैं। जीव संयोग के निमित्त से ही दुःख की परंपरा का भाजन बनता है। इसलिए मैं सब प्रकारके संयोग की भावना को मन, वचन, काय से छोड़ता हूँ। यह अध्यात्मवाद का रहस्य मंत्र है। इस रहस्यको जिसने पहचान लिया उसका कल्याण अवश्यंभावी है।

विश्वास

जैन धर्म में विश्वास और दृष्टि पर्यायवाची शब्द समझे जाते हैं। कहावत भी है 'देखना और विश्वास करना बराबर है, (To see is to believe) विश्वास प्रत्येक धर्म की जड़ होती है। अन्य बातें इसी आधार पर पल्लवित होती हैं। जैनधर्म में विश्वास को सम्यग्दर्शन कहा है। सम्यग्दर्शन आत्मानुभूति है। जीव जब पर-पदार्थ (पुद्गल) आदि से अपने को भिन्न

समझता है तब उसको अपने में विश्वास उत्पन्न हो जाता है अर्थात् वह आत्म-दर्शन करने लगता है। इसी का नाम अन्तर्ज्योति है जो एक बार प्रगट होकर बढ़ती चली जाती है। सम्यग्दर्शन भेद-विज्ञान मूलक होता है। जब मनुष्य या किसी अन्य जीव को आत्मानुभूति होने लगती है तब वह आत्म द्रष्टा कहलाता है। पूर्ण आत्मद्रष्टा तेरहवें गुण स्थान में होता है तब चराचर सब पदार्थ करतलगत आमलकवत् प्रतीत होने लगते हैं। यह मनुष्य की जीवन्मुक्त अवस्था है। यहां पहुँच कर मनुष्य सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा बन जाता है। इस प्रकार के आत्म दर्शन होने पर निरर्थक ईश्वर, जगत्कर्ता आदि के विचार या उनमें विश्वास मिथ्या भ्रम की तरह सर्वथा अलग हो जाता है। यथार्थमें आत्मा ही अपनी विशुद्धावस्था में परमात्मा है और वही परम ध्येय है। इसकी पहली सीढ़ी आत्म-विश्वास है जो जैनधर्म की अपूर्व देन है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र निरर्थक होते हैं। सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त होते हैं।

लक्ष्य

जब जैन धर्म मार्ग का उपदेश देता है तब उसका लक्ष्य अवश्य होना चाहिए। जैन धर्म का लक्ष्य या ध्येय मोक्ष है। जिस प्रकार चार्वाकों ने ऐहिक सुख को लक्ष्य बताया। कापिलों और योगों ने स्वरूप प्राप्ति की आकांक्षा की। न्याय-वैशिषिकों ने निश्रेयस की प्राप्ति की भावना की। मीमांसकों ने स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा की। बौद्धों ने निर्वाण का आदर्श उपस्थित किया। वेदान्तियों ने ब्रह्म प्राप्ति पर जोर दिया। तब उसी प्रकार जैन तीर्थंकरों ने मोक्ष का लक्ष्य बनाया। इसी मोक्ष के आदर्श को अन्य लोगों ने भी अपनाने की चेष्टा की किन्तु मोक्ष का सुन्दर स्वरूप तीर्थंकरों की ही देन है। तीर्थंकरों ने प्रथम मोक्षमार्ग—सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप बतलाया। पश्चात् कहा कि यह मोक्ष की प्राप्ति संवर अर्थात् बन्ध के कारणों के अभाव से तथा निर्जरा से उत्पन्न होती है। उस समय ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म नष्ट हो जाते हैं। केवल जीवके शुद्ध ज्ञायक आदि भाव रहते हैं जिनको वह अनन्त काल तक भोगता हुआ सर्वदा आनन्दमय रहता है। उस समय उसके अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य आदि अनेकान्तात्मक अनन्त शक्तियां आविर्भूत हो जाती हैं। यही जैन धर्म का चरम लक्ष्य है जिसको प्राप्त कर जीव आवागमन, जन्म, जरा, मरण आदि के कष्टों से मुक्त हो जाता है।

यही मुक्ति या मोक्ष का अर्थ है। तीर्थंकर परमदेवों ने इस लक्ष्य को स्वयं प्राप्त किया और अपने अनुभव के आधार पर अन्य लोगों को भी इसका उपदेश दिया। यह जैन धर्म की विशेषता है जिसकी सब चिन्तकों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

उपसंहार

मैंने इस अल्पकाय लेख में जैन-धर्म की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। जैनधर्म श्रमण परंपरा का उत्कृष्ट नमूना है। जब संसार में कितने ही धर्म उत्पन्न हुए, नष्ट हो गए। कितने धर्मों का आमूलचूल रूप ही बदल गया, तब जैन-धर्म अपने उसी प्राचीन आदर्शको लेकर भगवान ऋषभ के काल से लेकर तीर्थंकर महावीर तक के काल तक अक्षुण्ण रूप से चलता चला आ रहा है। जैन धर्म को जीवित रखने में दो मुख्य बातें हैं—प्रथम, पवित्र विचार अर्थात् अनेकान्त की शिक्षा, द्वितीय, उत्कृष्ट चारित्र जो अहिंसा रूप है। जब तक जैन धर्मावलम्बी इन दो बातों पर लक्ष्य रक्खेंगे उनको संसार की कोई भी शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। बल्कि संसार में इन दो सिद्धान्तों का जितना अधिक प्रचार किया जायगा संसार में उतनी ही अधिक शान्ति और सुख की स्थापना होगी। जैन आचार्यों, मुनियों, पंडितों और गृहस्थों का कर्तव्य है कि इन दो सिद्धान्तों के प्रसार के लिए उन्हें अपना अर्वस्व अर्पण कर देना चाहिए। जिससे जैन धर्म की प्रतिष्ठा और प्रसार बढ़े और जन साधारण का कल्याण हो।

जापान से लौटने के वाद थोड़े दिन हुए बिहार में सर्वोदय-सम्मेलन के अवसर पर आचार्य काका कालेल कर ने कहा था—

"अब भेदभाव भूल जाना है। भेद पापमूलक है, अभेद सत्य मूलक है। इसीलिए हमें भेद मिटाकर अभेद की तरफ जाना है। इस पवित्र भूमि में बुद्ध भगवान ने अवैर का सिद्धान्त सिखाया। भगवान् महावीर ने अहिंसा और स्याद्वाद का संदेश दुनिया को दिया। स्याद्वाद से ही समन्वय पुष्ट होता है। इसी चीज को महात्मा जी ने सर्व-धर्म-समभाव का रूप दिया।"

गीत

संकटों से घिरा फिर भी, मनुज निशि-दिन मुस्कराता।
मनुज तो क्या देवता भी; पूजने को उसे आता॥

कल सभी कुछ खो चुका पर वह बना धनवान बैठा।
बल सभी कुछ खो चुका पर वह बना बलवान बैठा॥
उमंगों को लिये जीवन, सत्य आशा-गीत गाता।
संकटों से घिरा फिर भी, मनुज देखो मुस्कराता॥

विश्व नीरव और रजनी हो चुकी पर जागता है वह।
है स्वयं दुख-चित्र पर जग-जन-सुखों को त्यागता है वह॥
दुखद जीवन में न रो वह भावना ऊँची बढ़ाता।
संकटों से घिरा फिर भी, मनुज देखो मुस्कराता॥

वेदना से मन भरा पर वह बना मनमार बैठा।
अश्रु नयनों में भरे पर वह नहीं घो हार बैठा॥
संकटों की धूल में खिल फूल सा वह मुस्कराता।
मनुज तो क्या देवता भी, पूजने को उसे आता॥

वस्त्र जर्जर हो गए फट किन्तु फिर भी सी रहा जो।
अधर निर्बल हो गए कह किन्तु फिर भी जी रहा जो॥
'साँस जब तक आस तब तक', व्रत लिये वह डग बढ़ाता।
मनुज तो क्या देवता भी; पूजने को उसे आता॥

गात जर्जर हाथ खाली, काल-चिन्ता भूलता जो।
'सत्य दूभर कह न जीवन', विश्व-दृग में झूलता जो॥
वह न कह मुख से तनिक से भी समय पर करके दिखाता।
संकटों से घिरा फिर भी, मनुज निशि-दिन मुस्कराता॥

—लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'

बौद्ध धर्म का छठा धर्म संगायन

—भिक्षु धर्म रक्षित

बौद्ध धर्म का छठा धर्म-संगायन १७ मई १९५४ को विक्रम संवत् २०११, वैशाख पूर्णिमा के दिन बर्मा में प्रारंभ हो चुका है। इसमें भारत, लंका, बर्मा, चीन, जापान, नेपाल, तिब्बत, लद्दाख, यूरोप, अमेरिका, अफ्रिका, रूस, कोरिया, मंचूरिया और आस्ट्रेलिया आदि देशों के लगभग पाँच हज़ार भिक्षु भाग ले रहे हैं।

इस अवसर पर भारत के राष्ट्रप्रति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद और प्रधान मंत्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने भी शुभ कामना के संदेश भेजे हैं।

यह धर्म संगायन अब तक के पाँच संगायनों की अपेक्षा अत्यधिक महत्व का है। बौद्धों का विश्वास है कि बुद्धाब्द २५०० (१९५६ ईस्वी) के पश्चात् बौद्धधर्म का बड़े वेग से प्रचार होगा। प्रस्तुत लेख में लेखक ने विगत पांच धर्म संगायनों के इतिहास की रूपरेखा भी अंकित की है।

—संपादक

गत १७ मई १९५४ को वैशाख पूर्णिमा के पवित्र पर्वपर बर्मा में बौद्धधर्म का छठा धर्म संगायन आरम्भ हो चुका है जिसकी तैयारी विगत तीन वर्षों से हो रही थी। इस संगायन के लिए 'बर्मा बुद्ध शासन कौंसिल' को सरकार एवं जनता से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। संगायन के निमित्त 'सप्तपर्णी गुहा' नामक एक विशाल भवन निर्मित हुआ है। जो संगायन के पश्चात् बौद्ध विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो जायगा। इसी गुहा में त्रिपिटक मुद्रण के लिए एक यंत्रालय की भी स्थापना होगी और बर्मी, हिन्दी तथा अंग्रेजी में त्रिपिटक का अनुवाद प्रकाशित होगा। उनका एक सम्पादक-मण्डल होगा तथा उनकी सेवा विश्व-बौद्ध शासन के लिए होगी।

आज तक बौद्धधर्म के पाँच संगायन हो चुके हैं। संगायन को ही 'संगीति' भी कहते हैं। संगायन का तात्पर्य एक साथ धर्मग्रन्थों का पाठ करना है।

जब-जब बौद्धधर्म सम्बन्धी विवाद उत्पन्न हुए, तब-तब धर्मसंगायन हुए। संगायन का प्रमुख उद्देश्य धर्म सम्बन्धी विवाद का निराकरण एवं बुद्ध शासन का संशोधन होता है।

पहला संगायन

पहला धर्म संगायन भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण (ई० पूर्व ५४२) के उपरांत राजगृह में अजातशत्रु के संरक्षण में सप्तपर्णी नामक गुहा में महाकाश्यप प्रमुख ५०० अर्हत् भिक्षुओं द्वारा सम्पन्न हुआ था। यह संगायन भाद्रपद कृष्ण २ से प्रारम्भ होकर सात मास में समाप्त हुआ था। इसी धर्म संगायन में सम्पूर्ण बुद्ध वचन को संकलित करके तीन पिटकों में विभक्त किया गया था, जिसे 'त्रिपिटक' कहते हैं। विनयपिटक के 'पंचशतिका स्कन्धक' में इस संगायन का वर्णन आया हुआ है। सुमंगल-विलासिनी में तो तिथियों के साथ विस्तार पूर्वक इसका उल्लेख किया गया है।

भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण वैशाख पूर्णिमा को प्रातःकाल हुआ था। मल्लों ने सप्ताहभर उनके शरीर की पूजा की। उसके पश्चात् सप्ताहभर चिता जलती रही। तदन्तर सप्ताहभर संस्थागार में अस्थियों को रखकर उनकी पूजा की गई। इस प्रकार इक्कीस दिन व्यतीत हो गए। ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी को अस्थियों का बँटवारा हुआ।

अस्थि विभाजन के दिन जब सभी भिक्षु एकत्र हुए थे, तब महाकाश्यप ने भिक्षुओं से कहा—'आवुसो ! एक समय मैं पाँच सौ भिक्षुओं के साथ पावा और कुशीनारा के बीच रास्ते में जा रहा था। मार्ग से हटकर मैं एक वृक्ष के नीचे बैठा। उस समय एक आजीवक कुशीनारा से मंदारका पुष्प लेकर पावा की ओर जा रहा था। मैंने दूरसे ही उसे आते देखा और पास आनेपर उससे पूछा—'आवुस ! हमारे शास्ता (गुरु) को जानते हो ?'

'हां, आवुस जानता हूं। श्रमण गौतम को परिनिर्वाण प्राप्त हुए आज आज एक सप्तह हुआ। मैंने यह मन्दार पुष्प वहीं से लिया है।'

इस बात को सुनकर जो भिक्षु विमुक्त न थे वे रोने और विलाप करने लगे, किन्तु जो विमुक्त थे वे शान्ति पूर्वक संसार की अनित्यता पर विचार करने लगे।

'आवुसो ! उस समय सुभद्र नामक एक वृद्ध अवस्था में प्रव्रजित भिक्षु उस परिषद् में बैठा था। उसने भिक्षुओं से कहा—'आवुसो ! मत शोक करो, मत रोओ हम सुमुक्त हो गए। उस महाश्रमण से पीड़ित रहा करते थे। अब जो हम चाहेंगे सो करेंगे, जो नहीं चाहेंगे उसे नहीं करेंगे।' अच्छा हो आवुसो ! हम धर्म और विनय का संगायन करें। सामने अधर्म प्रकट हो रहा है, धर्म हटाया जा रहा है। अधर्मवादी बलवान हो रहे हैं, धर्मवादी दुर्बल हो रहे हैं। विनयवादी हीन हो रहे हैं।'

'तो भन्ते ! आप स्थविर भिक्षुओंको चुनें।'

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने एक कम ५०० अर्हत् चुने। भिक्षुओं ने आयुष्मान् महाकाश्यप से कहा—'भन्ते ! यह आयुष्मान् आनन्द यद्यपि अर्हत् नहीं हैं तो भी राग, द्वेष, मोह, भय और अगतिमें पड़ने योग्य नहीं है। इन्होंने भगवान् के पास बहुत धर्म और विनय प्राप्त की है, इसलिए भन्ते ! स्थविर आयुष्मान् आनन्द को भी चुन लें।' तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् आनन्द को भी चुन लिया। तब स्थविर भिक्षुओं ने सोचा कि 'संगायन कहां हो ?' उन्होंने निश्चय किया—'राजगृह में वर्षावास करते हुए धर्म संगायन होगा, किंतु दूसरे भिक्षु राजगृह न जाए।' तब संघको ज्ञापित किया गया—'आवुसो, संघ ! सुने, यदि संघ को पसन्द है, तो संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास करने धर्म और विनय के संगायन करने की सम्मति दे और दूसरे भिक्षुओं को राजगृह में न बसने की।'

प्रथम मास में टूटे फूटे की मरम्मत की गई। दूसरे मास में संगायन प्रारम्भ हुआ। तब तक आयुष्मान् आनन्द ने भी अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया था। संगायन का कार्य इस प्रकार आरम्भ हुआ—

आयुष्मान् महाकाश्यप ने संघ को ज्ञापित किया—'आवुसो, संघ ! सुने, यदि संघ को पसन्द है तो मैं उपालि से विनय पूछूँ ?'

आयुष्मान् उपालि ने भी संघ को ज्ञापित किया—'भन्ते' संघ ! सुने, यदि संघको पसन्द है, तो मैं आयुष्मान् महाकाश्यप से पूछे गए विनय का उत्तर दूं।' तब महाकाश्यप ने उपालि से पूछा—'आवुस, उपालि ? प्रथम पाराजिका कहाँ प्रज्ञप्त की गई ?'

'भन्ते ! राजगृह में।'

'किसको लेकर ?'

'सुदिन्न कलन्दपुत्र को लेकर ।'

'किस बात में ?'

'मैथुन धर्म में ।'

इस प्रकार सम्पूर्ण विनय पिटक समाप्त किया गया । तदुपरांत आयुष्मान् आनन्द से धर्म (सूत्र) पूछा गया और उसे भी समाप्त किया गया । अन्त में सभी भिक्षुओं ने पूरे धर्म और विनय का संगायन (पाठ) किया और उन्हें तीन पिटकों में विभक्त कर दिया ।

दूसरा संगायन

दूसरा धर्म संगायन भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् कालाशोक की संरक्षता में वैशाली के वालुकाराम महाविहार में रेवत स्थविर प्रमुख ७०० भिक्षुओं द्वारा सम्पन्न हुआ था । यह संगायन वज्जीभूमि के भिक्षुओं के भिक्षुनियम उल्लंघन एवं कुछ परिवर्तन के कारण हुआ था । जिस विधि-विधान के साथ पहला धर्म संगायन हुआ था, उसी प्रकार यह दूसरा धर्मसंगायन ८ मास में पूर्ण हुआ था । इस संगायन का भी विस्तृत वर्णन पिटक के 'सप्तशतिका स्कन्धक' में आया हुआ है ।

भगवान् बुद्धके परिनिर्वाण के सौ वर्ष बीतने पर वैशाली निवासी वज्जि-पुत्तक भिक्षु दस वस्तुओं का प्रचार करते थे—'भिक्षुओ ! (१) शृंगी लवण-कल्प, (२) अनुमतिकल्प, (३) द्वि अंगुल कल्प, (४) ग्रामान्तर-कल्प, (५) आवास-कल्प, (६) आचीर्ण-कल्प, (७) अमथित कल्प, (८) जलोगीपान, (९) अदसक और (१०) जातरूप-रजत (सोना-चाँदी) विहित है ।' ये सभी बातें धर्म-विरुद्ध थीं, अतः आयुष्मान् यश काकण्ड पुत्तके प्रयत्न से दूसरा धर्मसंगायन उनको दबाने के लिए किया गया । इस संगायन में राजगृह, पावा, अवन्ती, दक्षिणापथ, मथुरा, सोरेय्य, संकाश्य कन्नौज, उदुम्बर, अग्गलपुर, सहजाति, वैशाली आदि के ७०० भिक्षु सम्मिलित हुए थे, इसलिए इस संगीति को 'सप्तशतिका' कहते हैं । इस संगायन में पश्चिमी प्रदेश के रेवत, सम्भूत साण-वासी, यश काकण्डपुत्त और सुमन तथा पूर्वी प्रदेश के सर्वव्यापी, साढ़, क्षुद्र-शोभित और वार्षयग्रामिक—ये आठ भिक्षु विवाद-निर्णायक चुने गये थे । आयुष्मान् रेवत ने संघ के बीच आयुष्मान् सर्वकामी से उक्त १० बातों को

पूछा था और सर्वकामी ने उनकी व्याख्या की थी। अन्त में सम्पूर्ण भिक्षु संघ ने धर्मसंगायन किया था।

तीसरा संगायन

तीसरा धर्मसंगायन महाराज अशोक की संरक्षता में भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के २१८ वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र के अशोकाराम नामक विहार में मोग्गलिपुत्र तिस्स स्थविर प्रमुख १००० भिक्षुओं के द्वारा ९ मास में समाप्त हुआ था। इस संगायन में सम्पूर्ण त्रिपिटक का संशोधन हुआ था और बुद्धधर्म की कसौटी के रूप में विभिन्न मतवादों के विरुद्धवाद को प्रकट करने के लिए 'कथावत्थुप्पकरण' का प्रवचन मोग्गलिपुत्त तिस्स स्थविर द्वारा किया गया था, जो बुद्ध-वचन सदृश माना जाता है। इसी संगायन के उपरान्त धर्मप्रचारक भिक्षु बाह्य देशों में भेजे गए थे तथा अशोक ने ८४,००० विहारों और स्तूपों का निर्माण कराया था। इस संगायन का वर्णन दीपवंस, महावंस और समन्तपासादिका में मिलता है। इन ग्रन्थों के अनुसार यह संगायन भिक्षु-संघ में उत्पन्न १८ निकायों के विवाद को शान्त करने के पश्चात् हुआ था। महावंस में लिखा है—'राजा अशोक ने मनोरम अशोकाराम में सारे भिक्षु-संघ को इकट्ठा किया। राजा ने स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स सहित एकान्त में एक कनात की ओट में बैठ, एक एक मत के भिक्षु को बारी-बारी से बुलाकर पूछा—'भन्ते! बुद्ध का मत क्या था?' उन्होंने अपने-अपने मत के अनुसार कहा। राजा ने उन सब मिथ्यादृष्टियों की प्रव्रज्या छीन ली। इस प्रकार निकाले हुए भिक्षुओं की संख्या ६०,००० हुई।'

राजा ने धार्मिक भिक्षुओं से पूछा—'बुद्ध का क्या वाद था?' उन्होंने उत्तर दिया—'बुद्ध विभक्तवादी थे।' तब राजा ने स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स से पूछा—'भन्ते! क्या सम्बुद्ध विभक्तवादी थे?' उन्होंने 'हाँ' कहा। फिर राजा ने संतुष्ट हो स्थविर से कहा—'भन्ते! अब संघ शुद्ध हो गया है, इसलिए संघ उपोसथ करे।' संघ की रक्षा का प्रबन्ध करके राजा नगर को लौट आया। तब सारे संघ ने एकत्र होकर उपोसथ किया।

स्थविर ने बहुसंख्यक भिक्षु-संघ में से १००० बुद्धिमान, षड़भिज्ञ, त्रिपिटक के जानने वाले भिक्षुओं को धर्म संगायन करने के लिए चुना और उनके साथ अशोकाराम में ही धर्म-संगायन किया। महाकाश्यप स्थविर तथा यश स्थविर

ने जैसे उन दो धर्म संगायनों को कराया; वैसे ही तिस्स स्थविर ने भी यह तीसरा धर्म-संगायन कराया।

संगायन समाप्त करके बुद्ध धर्मप्रकाश स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने भविष्य को देखते हुए प्रत्यन्त प्रदेशों में बुद्ध धर्म के प्रचारार्थ कार्तिक मास में ही मण्डलों में इन महाप्रतापी स्थविरों को भेजा।

(१) मज्झन्तिक स्थविर कश्मीर और गन्धार को भेजे गए। (२) महादेव स्थविर महिष्मण्डल (खानदेश) को, (३) रक्षित स्थविर वनवासी (मैसूर) को, (४) यवन धर्मरक्षित अपरान्त देश (बम्बई-सूरत) को, (५) महाधर्म-रक्षित स्थविर महाराष्ट्र को, (६) महारक्षित यवन देश में, (७) मज्झिम स्थविर हिमवन्त (हिमालय) प्रदेश को, (८) सोण और उत्तर स्थविर स्वर्ण-भूमि (पेगू, बर्मा) को और (९) अशोकपुत्र महामहेन्द्र स्थविर इट्टिय, उत्तिय, सम्बल और भद्रशाल के साथ लंका को। तीसरे संगायन का यह बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य था। इसी संगायन के बाद बौद्धधर्म का बाह्य देशों में काफी प्रचार हुआ।

चौथा संगायन

चौथा धर्म-संगायन महाराज कनिष्क की संरक्षता में ५०० भिक्षुओं द्वारा कश्मीर की राजधानी के पास 'कुण्डलवन विहार' में सम्पन्न हुआ था। इस धर्मसंगायन के प्रधान भिक्षु अश्वघोष के गुरु पर्श्व तथा वसुमित्र थे।

इस संगायन की समूची कृति तांबे के पत्रों पर संस्कृत में अंकित की गई थी और उन ताम्र पत्रों की पुस्तक को पत्थर की मंजूषा में बन्द करके एक स्तूप के अन्दर—जो उसीके लिए बनाया गया था, स्थापित किया गया था। वही महाविभाषा नामक त्रिपिटक का भाष्य था, जिसका चीनी अनुवाद आज भी मिलता है किन्तु उस स्तूप के अवशेषों का अभीतक पता नहीं चला।

चौथे धर्म-संगायन के समय कनिष्क ने विहारों और चैत्यों की स्थापना करने में अशोक जैसा कार्य किया। उसका बनवाया हुआ एक सौ फुट ऊँचा तेरह मंजिला स्तूप नवीं शताब्दी तक था। यदि वह अब होता तो संसार की अद्भुत वस्तुओं में गिना जाता। चौथे संगायन का बड़ा महत्व है, क्योंकि इस संगायन के उपरान्त ही बड़े वेग से 'महायान' का प्रसार हुआ।

इस संगायन में ५०० अर्हत्, ५०० बोधिसत्व और ५०० विद्वान् सम्मिलित हुए थे। इस संगायन में सभी निकायों को मिलाने का प्रयत्न किया गया था

और विनय तथा सूत्र का संस्कृत में अनुवाद किया गया था। इसका वर्णन हुएनसांग तथा बु-स्टोन ने भी किया है। धर्म और विनय के संगायन के बाद उनका नाम उपदेश-शास्त्र तथा विभाषा-शास्त्र रखा गया था। विभाषा-शास्त्र को आज भी चीनी लोग 'कश्मीरशी' कहते हैं।

पांचवां संगायन

पांचवां धर्म संगायन लंका में वट्टग्रामणी अभय (बुद्धाब्द ४५४-४६६) की संरक्षता में आलोक विहार (लंका) में ५०० अर्हत् भिक्षुओं द्वारा एक वर्ष में सम्पन्न हुआ था। इस संगायन में त्रिपिटक पालि और उसकी अट्ठकथा, जिन्हें पूर्व में महामति भिक्षु कंठस्थ करके लाए थे, प्राणियों की स्मृति-हानि को देखकर धर्म की चिरस्थिति के लिए ग्रन्थारूढ़ किया गया था। वर्तमान त्रिपिटक का क्रम इसी संगायन की देन है।

छठा धर्म संगायन

सम्प्रति छठा धर्म संगायन लगभग १८०० वर्षों के पश्चात् बर्मा में हो रहा है। इसमें भारत, लंका, बर्मा, चीन, जापान, श्याम, मलाया, अनाम, लाओस, कम्बोडिया, नेपाल, अण्डमान, तिब्बत, लद्दाख, यूरोप, अमेरिका, मंचूरिया और आस्ट्रेलिया के प्रधान भिक्षु सम्मिलित हो रहे हैं, जिनकी संख्या ५००० है। यह धर्म संगायन पूर्व के सभी धर्म संगायनों की अपेक्षा विशेष महत्वपूर्ण है। यह गत वैशाख पूर्णिमा से प्रारम्भ होकर बुद्धाब्द २५०० (१९५६ ई०) में वैशाख पूर्णिमा को समाप्त होगा।

बौद्धों का विश्वास है कि बुद्धाब्द २००० के पश्चात् सारे संसार में बुद्धधर्म का बड़े वेग से प्रचार होगा और इस धर्म की बहुत उन्नति होगी। बौद्धों की यह धारणा आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व से चली आ रही है। इसीलिए बुद्धाब्द २५०० में संसार के सभी बौद्ध अपने-अपने यहाँ महोत्सव करने वाले हैं। बर्मा के छठे धर्म संगायन में भी यही भावना निहित है। देखा गया है कि प्रत्येक धर्म संगायन के उपरान्त बौद्धधर्म की जागृति हुई है। अतः आशा और विश्वास है कि इस धर्म संगायन का भी सारे विश्व पर प्रभाव पड़ेगा और बौद्धों की मान्यता के अनुसार पुनः बौद्ध धर्म का बड़े वेग के साथ संसार में प्रसार एवं उत्थान होगा।

—'आज' से

रूढ़ियों से समझौता नहीं—

संघर्ष करना होगा

—श्री निर्मल कुमार

संघर्ष जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। यदि स्पष्ट भाषा में कहें तो—संघर्ष ही जीवन है, प्राणी-जगत की महान् निधि है; जो कुम्भकर्णी तन्द्रामें बेभान मानव के जीवनमें जागरणका सन्देश भरता है, चेतना का स्पन्दन पैदा करता है। संघर्ष ही मानव को प्रगति के पथ पर गतिशील करता है और वही क्रान्ति के पथ का पथ-प्रदर्शक है।

महान् और आदर्श की कोटि में गिने जाने वाले पुरुषों ने भी—जिनका नाम आज भी हमारी जिह्वा पर बसा हुआ है और जिनकी स्मृति हमारे मानस में नया उल्लास, नई चेतना पैदा करती रहती है—महान् संघर्ष के पश्चात् ही मनोविकारों पर विजय प्राप्त की थी। वे जीवन के अन्तिम उच्छ्वास तक निरन्तर संघर्ष करते रहे और उसी की बदौलत वासनामय बहिर्जगत के घोर अन्धकार पर विजय पा सके।

महावीर का समस्त जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। मुक्ति की, निर्वाण की यह अमर कहानी उत्सर्ग से, त्याग से, संघर्ष से भरी पड़ी है। इसके एक एक पृष्ठ में, एक एक वाक्य में, एक एक शब्द में प्रगति का, क्रान्ति का स्पष्ट आघोष सुनाई देता है। उस महामानव के जीवन का हर पहलू जीवन के यथार्थ रूप की ओर इंगित कर रहा है। आदर्शवाद, परंपरावाद, अदृश्यवाद, पलायनवाद आदि वादों की हवाई कल्पनाएँ उसे स्पर्श तक नहीं कर पाई थी। ईश्वरीय और दैवी शक्ति के नाम पर होने वाले अन्याय और अत्याचार का, आदर्शों की ओट में छिपकर किए जाने वाले कुकर्मों का, आमोद-प्रमोद का; धर्म के नाम पर होने वाले पशुवध का, मानव (शूद्र) के तिरस्कार का, माताओं के प्रति की जाने वाली घृणा का, उपेक्षा और भेद भरी नीति और जातीयता के नाम पर चल रहे शोषण का घोर विरोध किया था।

युगयुगान्तर से चले आ रहे अन्ध विश्वास, रूढ़िवाद, जड़वाद और पाखण्ड—जो भोली भाली मूढ़ जनता के मानस में घर कर चुका था—को नष्ट करने के लिए उस महान् विभूति को बड़ी बड़ी ताकतों से संघर्ष करना पड़ा था। फिर भी उसने प्रतिगामी तत्वों को उखाड़ फेंकने के लिए निर्भयता के साथ खुला विद्रोह किया और समाज को, राष्ट्र को और संसार को सोचने के लिए, अपनी चेतना को जागृत करने के लिए और अपनी ताकत को पहचानने

के लिए नई दृष्टि दी, नया प्रकाश प्रदान किया और साथ में यह अपूर्व पाठ पढ़ाया कि ऐ मानव ! अपने भाग्य का तू स्वयं ही निर्माता है, तू ही अपना जीवन प्रणेता है। इस विश्व में—विश्व में ही नहीं समस्त ब्रह्माण्ड में, ईश्वरीय लोक में भी कोई ऐसी ताकत नहीं है, जो तुम्हें सुख-दुःख के झूले में झुला सके, पुण्य से पाप की ओर या पाप से पुण्य के पथ पर घुमाया-फिराया करे, स्वर्ग से उठाकर नरक के गर्त में धक्का मार दे और नरक के दलदल पंक से निकाल कर स्वर्ग के, अपवर्ग के अनन्त सुखों में पहुंचा दे। तू स्वयं ही सुख-दुःख, पुण्य-पाप, नरक-स्वर्ग का स्रष्टा है, तू ही अपने जीवन का उत्पादक है और तू ही विध्वंसक। ब्रह्मा, विष्णु और महेश—त्रिमूर्ति की महान् शक्ति तुम्हारे अन्दर ही निहित है। इसलिए अपनी विराट् चेतना को जागृत करने के लिए श्रम के, पुरुषार्थ के पंथ पर कदम बढ़ा, जो कि संघर्ष का जीता-जागता यथार्थ रूप है। वस्तुतः देखा जाय तो विलासिता, प्रमाद और अकर्मण्यता जीवन के घोर शत्रु हैं, विकारों के उत्पादक हैं। स्पष्ट शब्दों में कहें तो—आलसी एवं अकर्मण्य बनकर, हाथ पर हाथ धर कर दूसरों की मिहनत पर पेट पालना महान् पाप है, घोर अधर्म है और दुःख एवं नरक का मुख्य द्वार है।

विकास, प्रगति एवं सुख शान्ति की मूलभूत जड़ श्रम के महत्त्वपूर्ण जीवन में ही अन्तर्निहित है। इसीलिए सन्मति महावीर और महात्मा बुद्ध ने अपनी संस्कृति का 'श्रमण संस्कृति' के रूप में प्रचार किया। जीवन की प्रतीक उस महान् चेतना को—श्रमण-संस्कृति को निवृत्ति संस्कृति, अर्हन्तसंस्कृति, जैन संस्कृति या महावीर संस्कृति के सीमित और साम्प्रदायिक दायरे में बन्द करके नहीं रखा, परन्तु श्रम के व्यापक रूप में, समष्टि के हितार्थ विश्व के प्रांगण में बिखेर दिया। जनता को ही नहीं, त्यागी मुनियों को भी यही आदेश दिया कि तुम सिर्फ साधु, यति, मुनि, भिक्षुक ही नहीं हो, तुम 'श्रमण' हो; श्रम के पुजारी हो, शान्ति के उपासक हो, समता के धारक हो। अकर्मण्यता, अशान्ति और वैषम्य के विध्वंसक हो; इन मनोविकारों के लिए धधकती हुई प्रखर ज्वाला हो, दहकते अंगारे हो। घर, परिवार और भौतिक पदार्थों का उत्सर्ग कर चुके हो, इसलिए जीवन निर्वाह करने को तुम अन्न, पानी, वस्त्र, पात्र, औषध आदि आवश्यक पदार्थ भिक्षा के रूप में स्वीकार कर सकते हो, तुम्हारे लिए भिक्षा पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि तुम समाज से, राष्ट्र से या व्यक्ति विशेष से जो कुछ ग्रहण करो, उससे अधिक आत्मभोग या श्रमदान देने में भूल न हो। ऐसी भिक्षा ही तुम्हारे

विकास के लिए सहायक होगी और वही सर्व क्षेमंकरी होगी। जो दाता और भिक्षु; नहीं, नहीं, समस्त प्राणी जगत के लिए सुखकर हो पाएगी।

आज "श्रमण संस्कृति" के अग्रदूत सन्मति महावीर की वह उदात्त वाणी लुप्त सी हो रही है। सिर्फ जड़ क्रियाओं का कंकाल मात्र बच रहा है, जिससे चिपट कर श्रमण अपना और समाज, दोनों का पतन कर रहा है। श्रम का महत्व सिर्फ 'श्रमण' के शाब्दिक अर्थ में ही रह गया है और वह भी प्रगतिशील साधक के जीवन में ही। क्योंकि आज रूढ़िवादी दिमाग श्रम करना, मिहनत करना साधु के लिए पाप मानता है। श्रम का अर्थ सिर्फ इतना ही रह गया है कि दो समय प्रतिलेखन करना, जंगल जाना, भिक्षा ले आना और विहार करना। इसके अतिरिक्त जनहित के लिए या स्वहित के लिए अन्य रचनात्मक कार्य करना साधुत्व के खिलाफ है, क्योंकि उसमें सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा होती है और शास्त्र की भी आज्ञा नहीं है।

पर हम यह भूल जाते हैं कि जैन दर्शन सिर्फ बाह्य हिंसा से चिपटा नहीं रहा है। यदि शास्त्र के पन्नों को पलट कर देखेंगे तो यह भ्रम दूर हो जायगा कि संयम की शुद्धि के लिए बाह्य हिंसा को गौण ही माना गया है। उदाहरण के तौर पर समझिए कि जैन साधु सचित्त जल का स्पर्श तक नहीं करता, यदि नन्हीं नहीं बूंदें पड़ती होंगी तब भी साधु भिक्षा के लिए नहीं जायगा। उन छोटे छोटे असंख्य प्राणियों की रक्षा के लिए दया का अवतार श्रमण भूखा प्यासा रह जायगा, फिर भी उनको आघात नहीं पहुंचाएगा। परन्तु जब विहार (एक गांव से दूसरे गांव जाने) का प्रसंग आएगा, तब वह बीच में पड़ने वाली नदी को भी पार कर जायगा। यदि पानी की बहुलता है तो नौका पर भी सवार हो जायगा। इस तरह विधि पूर्वक नदी पार करने पर भी वह दोष से, पाप से मुक्त रहेगा। शास्त्रकार स्पष्ट कहते हैं—"पावकम्मं न बन्धइ" पाप कर्म का बन्धन नहीं होता। इस सूत्र के पीछे जीवन का महत्वपूर्ण रहस्य अन्तर्निहित है। इससे स्पष्ट है कि पाप का बन्ध अविवेक में है। जहां विवेक की आँख खुली है, संयम की रक्षा का, जीवन की शुद्धि का एक मात्र पवित्र ध्येय है, वहाँ बाह्य क्रिया होते हुए भी पाप का बन्ध नहीं होता और जहां अविवेक है, स्वार्थ है वहां बाह्य क्रिया न होते हुए भी पाप का बन्ध होता रहता है। अस्तु, नदी पार करने के पीछे साधु का यही उद्देश्य रहा है कि एक दूसरे गांव व शहर में जाकर जनता को विकास का, उन्नति का सही रास्ता बताया जाय और दूसरी बात यह थी कि एक ही गांव व जिले में रहने से जीवन में वासना पैदा हो सकती है, वहां के लोगों से मोह हो

सकता है और सबसे बड़ा भारी धोखा रहता है जीवन में संकुचितता आने का, इसलिए उस युग का साधक पानी की हिंसा से भयभीत होकर गांव गिन्डोला बन कर नहीं बैठा रहता था। इससे स्पष्ट होता है कि उस युग का साधक जीवन के प्रति कितना जागरूक था, वह केवल रूढ़ियों और क्रियाओं से चिपटा नहीं रहता था।

आज का युग बदल चुका है, नदियों के ऊपर पुल बँध चुके हैं, इसलिए नदी में उतरने की जरूरत नहीं रही। पर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रचनात्मक कार्यों में होने वाली सूक्ष्म हिंसा संयम में बाधक नहीं मानी जा सकती। यह बात अलग है कि उस युग की कार्य प्रणाली भिन्न रही हो और उसी का शास्त्र में वर्णन किया गया हो, पर इससे यह समझना बड़ी भारी भूल है कि जीवन शुद्धि को लक्ष्य में रखते हुए किए जाने वाले दूसरे कार्य पापमय हैं। कार्य प्रणाली में युग के अनुसार परिवर्तन होता ही रहता है। हमारे दस वर्ष के इतिहास को ही देखें; आजादी के पहले यहाँ भाषणों का बड़ा महत्व था और राष्ट्रीय भावना को जागृत करने का यही अनुपम साधन था। इसी तरह महावीर के युग में और उन के बाद कई शताब्दियों तक दार्शनिक चर्चाओं का युग रहा, इसलिए उस युग का साधक उन में सक्रिय भाग लेता रहा। आज दार्शनिक चर्चाओं का युग बीत ही चुका, पर अब भाषणों का भी कोई मूल्य नहीं रहा। निष्क्रिय भाषण सुनते सुनते अब जनता ऊब चुकी है। उसे शाब्दिक उपदेश नहीं चाहिए, चाहिए शारीरिक श्रम। इसलिए श्रमण-श्रमणी वर्ग का कर्तव्य हो जाता है कि वे कर्मनिष्ठ बनकर मूर्छित अचेतन "श्रमण-संस्कृति" में नव चेतना की जागृति पैदा करें। यह तो ध्रुव सत्य है कि श्रम के द्वारा ही श्रमण-संघ प्रगति कर सकता और इसी के बल पर अपने चारित्र को दृढ़ बना सकता है। इसलिए अध्ययन करने कराने, जीवन विकास सम्बन्धी योजनाएँ प्रस्तुत करने जैसे रचनात्मक कार्यों द्वारा वह जीवन को उन्नत बना सकता है और शास्त्र की दृष्टि से भी—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है—इसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। फिर भी यदि साधु समाज की अभी इतनी तैयारी नहीं तो कम से कम निर्दोष शिक्षण का कार्य तो वह सुगमता से कर सकता है। अशिक्षित और आदिवासी लोगों के गांवों में भ्रमण करके उन्हें शिक्षित करने कराने, एवं जीवन यापन की कला बताने का प्रयास करें तो उनका ग्राम्य जीवन अच्छा बन सकता है और श्रमणों का पैदल विहार भी सार्थक हो सकता है। क्या हमारा 'श्रमण-श्रमणी' वर्ग इस ओर ध्यान देगा? श्रमण संस्कृति के मन्द पड़े हुए आदर्श को फिर से चमकाएगा?

लिखते हुए दुःख होता है कि श्रमण-श्रमणी और श्रमणोपासक-श्रमणो-पासिकाएं रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और जीर्ण शीर्ण परम्पराओं में जकड़ते जा रहे हैं। जब तक इन पुरानी खोखली जड़ों को खोदकर आमूलचूल परिवर्तन नहीं किया जायगा, साधना के नियमों में और जड़ क्रिया-काण्ड में युगानुकूल क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किया जायगा, तब तक श्रमण-संस्कृति का विकास होना असंभव है।

इसलिए युग का तकाजा है कि नवयुवक अपने आपको संघर्ष के ढांचेमें ढालना प्रारम्भ करें, संघर्ष से घबराएँ नहीं। आज युवकों के दिलों में जोश तो बहुत है, पर क्रान्ति का, विद्रोह का अवसर आते ही उनके कदम लड़खड़ाने लगते हैं गुरुओं, बड़े-बूढ़े पुरातनवादियों के घरेलू संघर्ष से त्राण पाने के लिए वे अपने विचारों और कर्तव्य की हत्या करके उनके साथ समझौता करने को तैयार हो जाते हैं। ये पुरातन रूढ़िवादी तत्त्व बेकारी—अकर्मण्यता के प्रसारक हैं इसलिए ये राष्ट्र के हित में बाधक हैं, रूढ़िचुस्तों के साथ किसी तरह का समझौता नहीं किया जा सकता। रूढ़ियों का उन्मूलन करने के लिए किसी भी तरह का झुकाव नहीं चाहिए, चाहिए निरन्तर संघर्षमय जीवन, क्रान्ति की जलती हुई ज्वाला और तरुणत्व का प्रखर तेज। सहस्रों वर्षों से समाज के, राष्ट्र के प्रांगण में जो कूड़ा-करकट इकट्ठा हो गया है, उसे नष्ट करने के लिए विचारों के ज्वालामुखी का विस्फोट होना आवश्यक है। धर्म के नाम पर, अणुव्रत संघ के नाम पर, परंपरा के नाम पर, माता-पिता (गुरु-गुरणी) के नाम पर, आर्थिक, जातीय और सामाजिक दबाव के कारण, जब तक तरुण और तरुणियाँ, नए विचारक श्रमण और श्रमणियों के परिवार में, समाज में, धर्म में और राष्ट्र के व्यापक जीवन में परिस्थितियों से घबराकर, हृदय के वास्तविक विचारों को कुचलकर, सामाजिक और धार्मिक अन्यायों, अत्याचारों और रूढ़ियों के साथ समझौता करते रहेंगे, उनके सामने घुटने टेकते रहेंगे और वर्तमान युग में चालू शोषण और अन्याय पर फलने-फूलने, आमोद-प्रमोद करने के सुनहरे स्वप्न देखते रहेगें, तब तक मौजूदा स्थिति में परिवर्तन होना असंभव है। ऐसी परिस्थिति में हम जिस नूतन समाज का नव-निर्माण करना चाहते हैं, वह केवल हवाई किला या स्वप्न मात्र ही रहेगा। इसे सफल बनाने के लिए हमें क्रान्तिकारी कदम उठाना होगा और दकियानूसी सूझ-बूझ से काम लेने वाले समस्त पुरातनवादियों से खुला संघर्ष करना होगा।

विष-कुंभ

बोधिसत्त्वावदान-माला के 'कुंभ-जातक' से संकलित यह प्रभावशाली व्यंग-कथा साभार सर्वोदय से यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

❀ ❀ ❀

जब बोधिसत्त्व (गौतम बुद्ध) पूर्वजन्म में देवों के इन्द्र शक्र थे, तब उत्कृष्ट दिव्य विषय-सुख सुलभ होते हुए भी करुणा के वशीभूत होकर उन्होंने लोकोपकार में ही अपना जीवन व्यतीत किया। देवेन्द्र की लक्ष्मी को पाकर भी वे मद से निर्लिप्त और परोपकार में जागरूक रहते थे।

एक बार वे मनुष्य-लोक का निरीक्षण कर रहे थे। उन्होंने देखा कि 'सर्वमित्र' नामक राजा बुरे साथियों के कुसंग से मद्यपान में आसक्त है और उसके कारण नगर और ग्राम की जनता भी मद्यपान में रत है। यह देखकर उनका हृदय करुणा से भर आया। उन्होंने मन में कहा: "हा! मनुष्य पर यह क्या विपत्ति छा गई है! यह मद्य-पान तो रमणीय कुमार्ग का रूप लेकर मानव को कल्याण से दूर-दूर ले जाता है।" इसका क्या इलाज करना चाहिए, यह वे सोचने लगे। मनुष्य में जो व्यक्ति प्रधान होता है, उसके कार्यों का अनुसरण करना जनता का स्वभाव है। इसलिए सर्वप्रथम राजा की ही चिकित्सा करना आवश्यक है। राजा के गुण-दोषों का लोगों पर भला-बुरा असर होता है। अतः राजा को ही समझाना चाहिए। महात्मा देवेन्द्र शक्र ने फिर तपे हुए सोने के रंग के समान तेजस्वी ब्राह्मण का रूप बनाया। लम्बी जटाएं, वल्कल और मृग-चर्म से अपने को ढक लिया। वाम पार्श्व में मदिरा से भरा सजा सजाया एक घड़ा ले लिया और राजा 'सर्वमित्र' के सामने उसकी बैठक में प्रकट हुए, जहाँ वह सुरापान में गर्क था और सभा में मद्य-मदिरा की कथाएं आरंभ हो चुकी थीं।

तेजस्वी ब्राह्मण को आकस्मिक रूप से देखकर विस्मय और सम्मान से सभासद-गण चौंक पड़े और उठकर अभिवादन करने लगे।

गम्भीर और उच्च स्वर में ब्राह्मण ने राजा की ओर देखकर कहा, "फूलों की माला से इस घड़े का कंठ उज्ज्वल है और पूरा भरा हुआ है। इस अलंकृत

घड़े को कौन खरीदना चाहता है ? हवा में हिलती हुई फूलों की बड़ी माला से कंकण के समान परिवेष्टित, किसलयों से विभूषित इस घड़े को आप लोगों में से कौन खरीदना चाहता है, राजन् ?

विस्मय से और कुतूहलपूर्वक राजा ने पूछा, "आप बाल सूर्य के समान दीप्तिमान और चन्द्रमा के समान सुंदर हैं। आप कोई मुनि हैं। भगवन्, हम आपसे क्या कहकर पुकारें ? आप सद्गुणों की खान दीख पड़ते हैं।"

शक्र ने कहा, "मैं जो हूँ, उसे पीछे जानोगे। लेकिन यदि तुम परलोक में होने वाले दुःख और इहलोक में ही भारी विपत्ति से भयभीत नहीं हो, तो इस घड़े को खरीदने का यत्न करो।"

राजा ने कहा, "वस्तु बेचने का आपका यह उपक्रम कुछ अपूर्व है। गुणों का वर्णन करके और दोषों को छिपाकर सौदा बेचने की संसार में यही प्रसिद्ध पद्धति है। या असत्य से डरने वाले आप जैसों का शायद यही तरीका उचित है। कष्ट में पड़कर भी सज्जन सत्य को नहीं छोड़ना चाहते हैं। इसलिए, हे महाभाग ! बतलाइये कि यह घड़ा किस चीज से भरा हुआ है और आप इसके बदले में हमसे क्या लेंगे ?"

ब्राह्मण ने कहा, "सुनिए महाराज ! यह घड़ा न वृष्टि-जल से भरा हुआ है, न तीर्थ-जल से, न पुष्प-पराग के सुगंधित मधु से, न उत्तम घृत से। खिलते हुए कुमुद और मेघोन्मुक्त चन्द्रकिरण के समान उज्ज्वल दूध से भी यह भरा हुआ नहीं है।

"हे राजन् ! जिस पाप-वस्तु से यह घड़ा परिपूर्ण है, उसका प्रभाव सुनो !

"जिसको पीकर व्याकुलता में स्वच्छंद बनकर आदमी बेहोश हो जाता है, समतल भूमि पर भी फिसल पड़ता है, भक्ष्य-अभक्ष्य के विचार से रहित होकर सब कुछ खा सकता है, उसी पेय वस्तु से भरा हुआ यह अधम घड़ा बिक्री के लिए लाया हूँ। इसे खरीदो।

"जिसके पीने से मनुष्य बुद्धिहीन होकर चित्त पर से अधिकार खो बैठता है, मूर्ख बैल के समान हास्यास्पद बनता है, भरी सभा में मुख को ढोल बनाकर नृत्य कर सकता है, वही अशुभ वस्तु इसमें है। राजन् इसे खरीदो !

"जिसको पीकर मनुष्य आत्मलज्जा खो देता है, नग्न व्यक्ति के समान कपड़ा सँभालने के परिश्रम से भी मुक्त होकर नागरिकों से भरे रास्ते पर

चलता है, वही सौदा इस घड़े में है। जिसके पीने से बेहोश होकर लोग राजमार्ग पर सोते हैं और वमन से निकले हुए अन्न से लिप्त उनके मुख को कुत्ते निर्भय होकर चाटते रहते हैं, हे राजन् ! वही सुंदर सौदा इस घड़े में रखा हुआ है।

"जिसके उपयोग से अबला नारी भी मस्त होकर अपने माता-पिता को वृक्ष पर बांध सकती है और अपने पति का तिरस्कार कर सकती है, वही वस्तु इस घड़े में है। जिसके पीने से वृष्णि-अंधकों ने बंधुभाव भूलकर गदाप्रहार से एक दूसरे को पीस डाला, वही उन्मादिनी इसमें रखी हुई है। तुम इसे खरीदो।

"जिसमें आसक्त होकर अनेक ऐश्वर्यशाली कुल नष्ट हुए, जिसके सेवन से बैठने, खड़े होने, हँसने और बोलने की भी मर्यादा टूट जाती है, आँखें भारी और निश्चल हो जाती हैं, मनुष्य अपमान का पात्र बन जाता है, वही इसमें है। इससे आकुल होकर वयस्क भी भलाई का रास्ता भूल जाते हैं, चाहे जो बकने लगते हैं, जो असत्य को सत्य, अकार्य को कार्य बना डालता है, उसी मूर्त अभिशाप से भरी हुई चीज इस घड़े में है। इसके कारण देवों ने भी प्रमाद किया। भगवान् लक्ष्मी से च्युत हुए और समुद्र में छिप गए। उसी से यह घड़ा भरा हुआ है। हे राजन् ! इसे ग्रहण करो।

"यह उन्मादक विद्या विपत्ति का घर, पापों की जननी, साक्षात् लक्ष्मी और कलि का निश्चित मार्ग है। इसके वश होकर मनुष्य माता-पिता और गुरु की भी हत्या कर सकता है। ऐसे घोर मानसिक अंधकार को, हे राजन्! खरीद लो और ग्रहण कर लो।

"हे देवोपम नरेंद्र ! इसका नाम सुरा है। जो सद्गुणों को नहीं चाहता, वही इसको खरीदने का उद्योग करे। इसके सेवन से लोग कुकर्म में फँसते हैं और भयंकर नरकों में पशु-पक्षियों की और प्रेतों की योनियों में गिरते हैं। इसका थोड़ा-सा भी परिणाम मनुष्य-योनि में रहने वालों के आचार-विचार की हत्या करता है। यह शील का नाश, सत्कृति की हत्या करता है, निर्लज्ज और मलिन बुद्धि बना डालता है।

"ऐसा यह महाभयंकर मद्यपान है। हे राजन् ! क्या अपने लिए और अपनी प्रजा के लिए इसे खरीदना अब आप उचित समझते हैं ?"

राजा ने ब्राह्मण से इस प्रकार हृदयाकर्षक, युक्ति-युक्ति, व्यंग-भरे वचनों को सुनकर मद्यपान के दोष जान लिये। उन्हें बड़ी उपरति हुई। वे नम्र भाव से कहने लगे, "स्नेही, पिता या गुरु या मुनि जो कुछ कर या कह सकते हैं, आपने मेरी भलाई के लिए, वह किया। मैं अपने आचरण से उसकी विधिवत् पूजा करूँगा। लेकिन उसके पुरस्कार में हे गुरुदेव! आप मेरा अर्घ्य स्वीकार करें और पाँच उत्तम ग्राम, सौ दास, पाँच सौ गायें और ये अच्छे घोड़ों वाले दस रथ ग्रहण करें।"

ब्राह्मण ने कहा, "राजन्! मुझे इनमें से किसी से कोई प्रयोजन नहीं है। मैं देवेन्द्र शक्र हूँ। तुम इन वचनों पर आचरण करो। इस मार्ग पर चलने से इहलोक में कीर्ति और लक्ष्मी प्राप्त होगी और परलोक में स्वर्ग-सुख मिलेगा। हे राजन्! मद्य की आदत छोड़, धर्म की शरण जाओ।"

शक्र इतना कहकर अंतर्धान हो गए। राजा मद्यपान से विरत हुआ। परिणामतः ग्राम और नगर-वासियों को भी मद्य से विरक्ति हो गई।

ए मानवता के पुजारी!

मुहब्बत भरे गीत गाता चला जा,
मुहब्बत की वंसी बजाता चला जा।
मुहब्बत का झंडा फिराता चला जा,
मुहब्बत का प्याला पिलाता चला जा॥
बखेड़े हैं ऊँचे व नीचे के जो भी,
उन्हें जड़ से इक दम मिटाता चला जा।
सभी हम से छोटे हैं कहते जो ऐसा,
विनय पाठ उनको पढ़ाता चला जा॥
नहीं कोई ऊँचा जनम से ही होता,
कर्म जैसे वैसा बताता चला जा।
प्रभु वीर जी का यह पैग़ामे उल्फ़त,
जहां भर को 'चन्दन' सुनाता चला जा॥

—श्री चन्दन मुनि (पंजाबी)

महावीर का साम्यवाद

वैद्यरत्न पं० सुन्दर लाल जैन, इटारसी

महावीर स्वामी ने अपने जीवन में अहिंसादि विषयों का प्रचार किया, किन्तु साम्यवाद—समतावाद का प्रचार भी उनका एक ध्येय था। महावीर स्वामी का साम्यवाद "आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः" के उस उच्च-स्तर पर आधारित था, जिसके ऊपर क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय, क्या वैश्य, क्या शूद्र सभी एक बराबर धर्म पालने के अधिकारी थे। जो अधिकार ब्राह्मण को था, वही शूद्रों को भी था। इस वर्ण व्यवस्था को उन्होंने न जन्मना माना, और न किसी के आध्यात्मिक विकास को रोककर ऊंच नीचता का धक्का देकर कर्माधारित वर्ण व्यवस्था के स्तर से नीचे ही गिराया। उस समय की राजनैतिक, शैक्षणिक और आर्थिक स्थिति का ऐसा दूषित प्रभाव पड़ा था कि अपने को तथाकथित उच्च वर्ण वाला कहनेवालों ने धर्म को अपनी दुकानदारी की वस्तु बना लिया था। जहां न तो वस्तु परख सकने का अवसर था, न स्वतंत्रता से खरीद सकने का। जिन्होंने उन्हें संतुष्ट किया, उन्हीं को वह आसानी से मिल सकता था। इस तरह ईश्वर और मानव के बीच कुछ लोग धर्म के लेन-देन कराने वाले दलाल या सोल एजेन्ट बन चुके थे। यह समय विषम था, जब भगवान महावीर ने वर्ण व्यवस्था का घोर विरोध करते हुए कहा कि यदि जाति नामक कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली जाति है, तो केवल एक मनुष्य जाति। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम से जो जातियां आज प्रचलित हैं, वे वर्ण व्यवस्था के आधार पर हैं। और यह वर्ण व्यवस्था किसी जाति विशेष में उत्पन्न होने के कारण नहीं, अपितु आजीविका के भेद के कारण है। इसलिए व्यक्ति, चाहे वह किसी भी देश, जाति, या वर्ण का हो, निवृत्तिपथ का पथिक बनकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसी वस्तु तत्व को उन्होंने उत्तराध्ययन सूत्रमें प्रदर्शित किया कि कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है। केवल ब्राह्मण वर्ण में जन्म लेने मात्र से ब्राह्मणत्व का दुरभिमान कर दूसरों को

नीचता की चक्की में पीसने के लिए नहीं। लोगों को भी उन्होंनें कड़ी चेतावनी देने के लिए ब्राह्मण का लक्षण सदाचारी, इन्द्रिय जयी, कषायविजयी, और प्रशान्त होना बतलाया है। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने धर्म की ठेकेदारी समाप्त कर जातिपांति के जटिल बन्धन को तोड़ताड़ कर मानव मात्र को यहां तक कि पशुपक्षी तक को धर्म सेवन का समानाधिकार दिया। महावीर की इस विशाल उदारता और सूर्य सत्य निर्णय का विश्लेषण करने पर हम कह सकते हैं कि 'यजनाध्ययनं दानं परेषां त्रीणि ते पुनः' के अनुसार चारों वर्णों को क्रमशः अध्ययन, रक्षा, व्यापार, और सेवा की प्रधानता के साथ अध्ययन, दान, और पूजन का सबको समानाधिकार है। धर्मशास्त्र की पुस्तकें पुस्तकालय या बाजार से लेकर शूद्र भी पढ़ ही सकता है। ब्राह्मण लोग अभी तक न केवल हरिजनों से नक़द दक्षिणा-दान प्रत्युत सीधा (आटा दालादि) तक लेते ही हैं। और दक्षिणा के बल पर वे देवताओं की पूजा भी उनसे करा ही लेते हैं। कुछ जगह कुछ देवताओं की पूजा तो वे स्वयं भी कर लेते हैं। इस कृत, कारित (स्वयं करने और दूसरों से करानें) में कोई अंतर नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त सनातन धर्म और जैन धर्म में धर्म की महिमा स्थापक ऐसे शास्त्रीय मंत्र भी हैं जिनके बल पर आज अछूत कहे जाने वालों की शुद्धि हो सकती है। "अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा। य स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः।" अर्थात अपवित्र हो चाहे पवित्र हो, उच्चकुलीन हो चाहे नीच कुलीन हो, जो श्री पुण्डरीकाक्ष भगवान् कृष्ण का स्मरण करता है, वह बाहर भी पवित्र और भीतर भी पवित्र है। इसी पाठ के रूपान्तर में "यःस्मरेत् परमात्मानं" यह जैन धर्म का श्लोक है। फिर पता नहीं कि ऐसे उदाहरण होते हुए भी लोग क्यों धर्म को अपनी बपौती बनाना चाहते हैं ?

इधर भगवद्भक्ति वाले गंगा महिमा के गीत गाते हैं, भगवान् पतित पावन हैं तो उधर भगवान् को केवल पावनों का पावन बनाना चाहते हैं। कैसी दुर्बुद्धि है कि एक हंडी के दो पेट बना कर धर्म की खिचड़ी अलग २ पकाने का प्रयत्न करते हैं। कैसी मूर्खता है कि एक तो जबरन ऊंच नीच भावना के कीटाणु उत्पन्न कर छुआछूत के रोगी तैयार किए जा रहे हैं। और उतने पर भी धर्म-अमृतौषधि की बोतल रोगियों को न देकर समूचा का समूचा अधिकार तथाकथित पवित्र लोगों को सौंपा जा रहा है। होना तो यह चाहिए कि धर्म की इस पावन गंगा में स्नान करने का अधिकार सभी को होता, धार्मिकता का

प्रसाद पाने का सभी को सुअवसर होता, परंतु दुर्भाग्य कि जिन धार्मिक नेताओं को समान रूप से सभी का पथ दर्शक कहलाने का अवसर मिलता था, इस सम्प्रदाय वाद और छुआछूत वादि के चक्कर में पड़ने वालों ने उन्हें भी सब का न रहने दिया। रामराज्य संस्थापक कर्तव्यवीर राम, व्यवस्थापक कर्मवीर कृष्ण केवल हिन्दू धर्मानुयायियों के रह गए; धर्मवीर महावीर केवल जैन धर्मानुयायिओं के रह गए, तो बोधवीर (ज्ञानवीर) बुद्ध केवल बौद्ध धर्मानुयायिओं के रह गए, हजरत ईसा ईसाइयों के, हजरत मोहम्मद मुसलमानों के, वीर गुरुनानक सिक्खों के ही रह गए। इन महान नेताओं को उनके अनुयायियों द्वारा अपने सम्प्रदाय के बंधन में बांधा जाना क्या देश, समाज, मानवता, और धर्म के प्रति खुला विद्रोह नहीं है। दिगम्बर श्वेताम्बर एवं सनातन संस्कृति के साहित्य में शास्त्रों में, धर्म की उदारता स्थापक अनेक प्रमाणों के अनुसार, कोशी और अनंग सेना नामक गणिकाएं जिन दीक्षा ले आर्यिका हो सकती हैं, ढीमरपुत्री काणा क्षुल्लिका हो सकती है, वर्धमानवसु और चामेक नामक गणिकाएं और मानकव्वे तेलिन मुनि उपदेश से श्राविका बन मंदिरों का निर्माण करा सकती हैं, व्यभिचारोत्पन्न कार्तिकेय धर्माचार्य हो सकते हैं, चाण्डाल मेतार्य, मच्छीचाण्डाली पुत्र हरिकेशीबल मुनि दीक्षा ग्रहण कर आत्म कल्याण कर सकता है, कुम्हार सद्दाल पुत्र और उसकी पत्नी को भगवान् महावीर स्वयं बारह व्रत दे सकते हैं, व्यास, वशिष्ठ, कमठ, कठ, द्रोण, पराशर जैसे व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण न होने पर भी तपस्या और सदाचार के प्रभाव से ब्राह्मण हो सकते हैं, शास्त्रप्रणेता धर्मगुरु और धर्माचार्य तक बन सकते हैं, यमपाल चाण्डाल जैसे हरिजन धर्म पालन के अधिकारी हो सकते हैं फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या ?

श्रीकृष्ण पानी में ग्राह द्वारा पकड़े गज के उद्धार के लिए दौड़ पड़ते हैं। सुलोचना सती के हाथों को ग्राह से छुड़ाने के लिए स्वर्ग से देव दौड़े आते हैं। भगवान् की पूजा में कमल चढ़ाने का इच्छुक राजपुजारी का मेंढक गजपग तले बीच में मारे जाने पर भी पूजा का फल प्राप्त कर स्वर्ग में देव हो सकता है। नरक के नारकी, पशु, पक्षी तक भी मोक्ष साधक एवं सम्यग्दर्शन के पात्र बन सकते हैं, परंतु मानव जाति के ये बेचारे शूद्र हरिजन बातूनी बातों के सिवाय धर्म के मधुर फल चखने के अधिकार की प्राप्ति के लिए धर्माचार्यों की धोखा धड़ी से बाहर नहीं निकल सकते। कैसी विडम्बना है कि लज्जा भी लजाती है।

महावीर की धर्मसभा का नाम इसीलिए समवशरण था कि उसमें देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तक को समान शरण मिलती थी, तब देवालयों में अपनी तरह औरोंको नीच कह कर जाने से रोकना भगवान के साथ उनके भक्तों के साथ द्रोह तो है ही, साथ में भगवानको कड़ी कैद की सजा देना भी है। जब कि महावीर के जीवन काल में उनके चरण स्पर्श सभी कर सकते थे तब उनकी पाषाण मूर्ति के दर्शन, चरण स्पर्शन करने से औरों को रोकना मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं, है, धर्म को पतित पावन कहलाने का यह तरीका सर्वथा उल्टा है। ग्यारह प्रतिमाओं की श्रेणीबद्ध सीढ़ियों से यदि सभी को सौख्यसदन में जाने देना चाहते हैं, विद्रोही, कषायी, भावनाएं त्याग कर यदि सभी को क्षमादि धर्मामृत वितरण करना चाहते हैं, तो दूसरों से घृणा न करके न दुत्कारके, सहधर्मी भाइयों के प्रति अपने सर्प नेवले वाले व्यवहारको छोड़ कर निर्विचिकित्सा, स्थितिकरण, और वात्सल्य जैसे अंगों को पूर्ण रख कर यदि सम्यग्दर्शनको विकलांग नहीं कर देना चाहते हैं तो कहना होगा कि महावीर के साम्यवाद पर चलें, अन्यथा महावीर के प्रति सबसे बड़े विद्रोही जैन कहलावेंगे।

स्मरण रहे, बापू ने कहा था—(१) यदि सब आत्मा एक ही है तो अछूत कोई नहीं। (२) अस्पृश्यता—छूआछूत हिन्दू धर्मका अंग नहीं है, इतना ही नहीं उसमें बल्कि घुसी हुई सड़न है, बहम है, पाप है। (३) अस्पृश्यता निवारण का अर्थ है—समस्त संसार के साथ मित्रता रखना। (४) मंदिरों में हरिजन नहीं जा सकते, यह तो वही बात हुई कि कोई पिता अपने बच्चों से कहे कि पुत्र, मैं तुम्हें खाना देता हूं, कपड़े देता हूं, पर मैं तुम्हें अपने हृदय में स्थान नहीं देता। ५. अगर शास्त्रों में कुछ सत्य है तो जिस मंदिर में हरिजन नहीं जा सकते, उसमें भगवान नहीं, वहां तो सिर्फ पाषाण हैं।

शिशु की निद्रा

—श्रीमती कमला देवी

चौबीस घण्टे के भीतर एक बच्चे को कम से कम कितनी देर तक सोना अनिवार्य है, अक्सर यह प्रश्न प्रत्येक माँ के मन में उठता है। यह प्रश्न स्वाभाविक है और इस प्रश्न का सही उत्तर पाने के लिए हमें बच्चे के निकट जाना पड़ेगा। कहने का आशय यह है कि इस प्रश्न का उत्तर केवल बच्चे ही दे सकते हैं।

निद्रा के मामले में सभी बच्चे एक ढंग के नहीं होते। कोई बच्चा काफी देर तक सोता है और कोई बहुत ही कम। फिर भी इनमें से, किसी के स्वास्थ्य पर कोई असर नहीं पड़ता। हर बच्चा अपने-अपने ढंग का होता है। ऐसा क्यों होता है, इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें बच्चे की प्रकृति का अध्ययन करना पड़ेगा। एक होशियार माँ इस प्रश्न के सत्य को झट भांप लेती है। अगर बच्चे को भर पेट भोजन, आरामदेह बिछावन और ठण्डी हवा मिलती रहे, ऐसी हालत में वह अच्छी तरह नींद लेकर अपनी क्लान्ति दूर कर लेता है। इस मामले में उसे प्रकृति से काफी सहायता मिलती है। अगर बच्चे की पाचन क्रिया में कोई गड़बड़ी नहीं है, तो यह निश्चित है—प्रथम कुछ महीने तक दूध पीने के बाद से फिर दुबारा दूध पीने के समय के पहले तक वह आराम से सोया रहता है। कुछ बच्चों को नींद बहुत ही कम आती है, लेकिन इससे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। कुछ बच्चों में यह बात अनायास ही उत्पन्न हो जाती है। अगर इस प्रकृति का कोई बच्चा आपके घर में है तो आप स्वयं इसका अनुभव करके देख सकती हैं। ऐसी हालत में उसकी नींद के मामले में अधिक परेशान होने की आवश्यकता नहीं है।

आमतौर से यह देखा गया है कि ज्यों-ज्यों बच्चे की उम्र बढ़ती है, त्यों त्यों उसकी नींद घटती जाती है। अगर आप दो-तीन बच्चों की मां बन चुकी हैं तो आप इस बात को स्पष्ट रूप से देख सकती हैं कि जो बच्चा दोपहर के समय या शाम के समय आपकी गोद में अथवा बिछावन पर बेखबर होकर सोता था, आज वही बड़ा होकर ऊधम मचा रहा है। अक्सर बच्चे की उम्र बढ़ने के साथ ही दोपहर के बाद से शाम होने के पहले तक का जो समय होता है, उस समय बच्चे बहुत ही कम सोते हैं। इसके बाद धीरे-धीरे इस क्रम में भी बाधा उत्पन्न हो जाती है। जब उनका सोना अनिवार्य है और पहले इसी समय सोते

रहते थे, अब वे उस समय जागते रहते हैं। जागरण के मामले में भी सब बच्चे अपने अपने ढंग के होते हैं। उनका अपना-अपना समय होता है। ठीक उसी प्रकार उनकी निद्रा का समय भी उसी ढंग से स्वयं ही निर्धारित हो जाता है। कोई भी मां अपने बच्चों की यह क्रिया गौर करने पर देख सकती है। प्रथम बारह माह तक का बच्चा दो तीन बार अधिक से अधिक चार बार सोता है। इसके बाद १२ से १८ माह तक की उम्र वाले बच्चे दो बार सोते हैं। जब बच्चा दो वर्ष का हो जाता है तब उसकी आदतों में तेजी से परिवर्तन होने लगता है। एक तरह से उसका नया जीवन प्रारंभ होता है। नाना प्रकार की उत्तेजना, चिंता, भय, बड़े तथा छोटे भाइयों से झगड़ा-मारपीट अथवा प्रतियोगिता, चिढ़ और खेल-कूद आदि बातें उससे नींद का अधिकांश भाग छीन लेती हैं। फलस्वरूप दो वर्ष की उम्र के बाद से बच्चे स्वाभाविक रूप से कुछ उत्पाती होने के कारण तथा अन्य बातों की वजह से कम सोते हैं।

प्रत्येक बार भोजन कराने के बाद बच्चे को सुला देना उचित है। आमतौर से बच्चे सो भी जाते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी बच्चे होते हैं जो भर पेट दूध पी लेने या भोजन करने के बाद भी नहीं सोते। वे इस समय माँ के साथ खेलना अधिक पसन्द करते हैं। बच्चा जब तीन महीने का हो जाय, तभी से उसे अकेले सुलाने की आदत डालनी चाहिए, वर्ना आगे चलकर इस आदत को छुड़ाने में बड़ी मुश्किल होती है। अधिकांश बच्चे माँ की गोद में झूलते हुए सो जाते हैं। यह आदत अच्छी है या बुरी—कहना मुश्किल है। अगर बच्चा हिंडोले की तरह बिना झूला खाये नहीं सोता तो इस आदत को बुरा कहा जायगा। प्रथम छः महीने तक बच्चे को चित्त करके सुलाना चाहिए। चित्त करके सुलाने से बच्चा स्वयं दाहिने-बाँये अपना सिर घुमा-फिरा सकता है। इससे बच्चे के सिर की बनावट सुडौल हो जाती है। केवल एक ही ओर सिर करके सुलाने से बच्चे के सिर की बनावट बेढंगी हो जाती है। माँ-बाप के संयुक्त बिछावन से बच्चे को अलग सुलाना उचित है। गो कि इस विषय पर लोगों के विभिन्न मत हैं, लेकिन इस ओर मैं जहाँ तक अनुभव कर सकी हूँ, उसके अनुसार निःसंकोच कह सकती हूँ कि माँ-बाप वाले बिछावन से बच्चे का बिछावन अलग रहना उचित है। यह बिछावन अधिक दूरी पर न रहे, ताकि समयानुसार उस बिछावन पर नजर रखी जा सके। एक ही बिछावन पर सुलाना बहुत अनुचित है। इसमें निष्ठुरता का प्रश्न नहीं, बल्कि यह ढंग आगे चलकर लाभकारी सिद्ध हो सकता है। बच्चा जब

छः महीने का हो जाय तभी से अथवा उसके पहले से उसे अलग सुलाने की आदत डालनी चाहिए और जब बच्चा एक साल का हो जाय, तब उसे अलग कमरे में भी सुलाया जा सकता है। अगर शुरू से यह आदत न डाली गई तो यह निश्चित है कि बड़े होने पर उसे अलग सुलाना मुश्किल हो जायगा। फिर तो बच्चा इतना दुलारू अथवा ऐसी विचित्र प्रकृति का बन जाता है कि मां बाप के बिछावन से अलग सोना पसन्द नहीं करता। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि बच्चे में यह आदत शुरू से ही डाली जाय। अगर बच्चा माँ-बाप के साथ सोता है तो रात के समय माँ-बाप के किसी व्यवहार के कारण वह जाग सकता है। चूँकि वह इस रहस्य से अपरिचित रहता है, इसलिए वह इससे भयभीत भी हो सकता है। अक्सर माँ-बाप कल्पना कर लेते हैं कि बच्चा गहरी नींद में सोया हुआ है, चिन्ता की कोई बात नहीं। लेकिन यह सत्य है कि इस ओर से अधिक सावधान रहना माँ-बाप के लिए हितकर है।

बच्चे को अलग सुलाने की आदत डालने में ज्यादातर माँ को परेशान होना पड़ता है। जब पहले-पहल बच्चे को अलग सुलाया जाता है, तब वह एक तो जल्दी सोना नहीं चाहता, दूसरे साथ सोने के लिए जिद्द करता है और रोता भी है। बच्चे की यह नई जिद्द माँ को धैर्य के साथ सहना आवश्यक है। अक्सर यह देखा गया है कि माँ घर-गृहस्थी के कार्य से जब कभी अवकाश पाती है, तब कहीं यदि बच्चा तंग करने लगता है, तो झल्ला उठती है, फिर उसे पास खींचकर सुला लेती है। अगर इस मामले में थोड़े धैर्य के साथ सख्ती न बरती जाय तो भविष्य में अधिक परेशानी उठानी पड़ेगी।

बच्चा एक तरह से माँ के साथ सोने का आदी हो जाता है। काफी दिनों तक माँ के पास सोते रहने के कारण एक ऐसा वातावरण बच्चे के मन में अपने आप बन जाता है कि उसे माँ के पास से अलग सोना कतई पसन्द नहीं आता। फलस्वरूप वह रोज विरोध करता है, लेकिन अपनी सुविधा और बच्चे के स्वास्थ्य के हित के लिए यह आवश्यक है कि आप बच्चे के सोने के मामले में सख्ती बरतें। हाँ, बच्चे के आपत्ति करने के समय माँ-बाप उसके बिछावन के पास बैठकर उसे बहलाएँ और नाना प्रकार की बातें करें तो बच्चे के हृदय पर कुछ असर हो सकता है और धीरे-धीरे वह निद्रा की गोद में चला जायगा। अगर बच्चे के मन में यह भावना उत्पन्न हो जाय कि वह माँ-बाप के बिछावन पर न रह कर भी निरापद है तो वह दिन व दिन स्वस्थ और अकेले सोने का आदी हो जायगा।
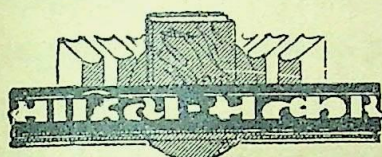
आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर की ग्रन्थसूची और राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की ग्रन्थ सूची—द्वितीय भाग। प्रकाशक—मंत्री, प्रबन्ध कारिणी कमेटी, श्री दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, महावीर पार्क रोड, जयपुर। मूल्य प्रत्येक का ५) रु० तथा ८) रु०

राजस्थान जैनों का मुख्य केन्द्र रहा है। जयपुर, अजमेर, जैसलमेर, बीकानेर आदि स्थानों में बड़े बड़े प्रसिद्ध जैन शास्त्र भण्डार है। एक एक भण्डार में कई कई हजार हस्तलिखित ग्रंथ हैं। जिन पर वर्षों तक काम हो सकता है। उक्त महावीर तीर्थक्षेत्र की कमेटी ने इस ओर विशेष लक्ष्य दिया है। फलस्वरूप वह जैन भण्डारों की सूची संबन्धी दो भाग निकाल चुकी है। उक्त दोनों भाग हमारे सामने हैं। जिनमें हस्तलिखित ग्रन्थों का संक्षेप में पूरा पूरा विवरण दिया है। जैसे कि—"१० चर्चा समाधान--कवि भूधर दास। पत्र सं० १२६। साइज ९½ × ६ इंच। भाषा—हिन्दी। विषय—प्रश्नोत्तर के रूप में धार्मिक एवं सैद्धान्तिक प्रश्नों का समाधान। रचना काल—सं० १८०६। लेखन काल सं० १८३० श्रावण सुदी ११। पूर्ण एवं शुद्ध। दशा—सामान्य। वेष्टन नं० ४१।" भाग २ में से।

विवरण इतने अच्छे ढंग से दिया है कि किसी भी ग्रंथ के बारे में बहुत सी बातों का घर बैठे पता चल जाता है। इसमें सन्देह नहीं, ग्रन्थ तैयार करने में समय, धन और परिश्रम का खूब उपभोग दिया गया है। जिसके लिए संस्था के संचालक अनेकशः धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है वे आगे भी इस सुप्रयत्न को चालू रखेंगे। और शीघ्र ही तीसरे भाग आदि निकाल कर छिपे हुए साहित्य को प्रकाश में लाएँगे।

—कृष्णचन्द्राचार्य

Ancient Jain Hymns (प्राचीन जैन स्तोत्र)

सम्पादक—Charlotte Krause। प्रकाशक—Scindia Oriental Institute, Ujjain, 1952.

प्रस्तुत पुस्तक सिन्धिया ओरियन्टल सिरीज का द्वितीय पुष्प है। सम्पादिका श्रीमती चारलाट क्रौजे अपर नाम सुभद्रा कुमारी ने ८ स्तोत्रों का संपादन किया है। स्तोत्र मध्ययुग के श्वेताम्बर मुनि या आचार्यों की कृतियां हैं। सभी स्तोत्र भक्तिरस से परिपूर्ण हैं। श्रीवरकाणा पार्श्वनाथ स्तोत्र समस्या-पूर्ति को लिए हुए है। इसमें प्रसिद्ध स्तोत्र कल्याणमंदिर तथा भक्तामर के, आदि अन्त के चरण लेकर, समस्या-पूर्ति की गई है। यह कवि के विशेषगुण को प्रकट करती है। सम्पादिका के नोट आरम्भ में उपादेय तथा ज्ञानवर्धक हैं। इस छोटे से सम्पादन में पीछे ४ पेज का शुद्धिपत्र खटकता है। इससे पुस्तक का महत्व कम हो जाता है। फिर भी संग्रह, संग्रह के योग्य है।

—विमल दास कौंदिया जैन

पुरुष का पाप (एकांकी संग्रह) और आजादी के बाद (दृश्य नाटक)

लेखक—विनोद रस्तोगी, प्रकाशक—कमला प्रकाशन ''/१४० स्वरूपनगर, पो० बा० ३८५ कानपुर, पृष्ठ १२४ और ११०, दोनों का मूल्य—डेढ़, डेढ़ रु०। पक्की जिल्द।

'पुरुष का पाप' के सभी एकांकी ऐतिहासिक और पौराणिक विषय वस्तु पर आधारित हैं। पूरी पुस्तक पढ़ जाने के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान समाज व्यवस्था में नारी और पुरुष के बीच जो दीवाल खड़ी हो गई है, लेखक उसे दूर कर नारी को अपने वास्तविक अधिकार दिलाने के लिए प्रयत्नशील है। पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं को एकांकियों का आधार विषय बनाते हुए लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नारी की यह दशा आज नहीं हुई, वरन् युग-युग से नारी पुरुष द्वारा प्रताड़ित और अपमानित होती आई है। प्रत्येक एकांकी में यह बतलाया गया है कि पुरुष चाहे जितने पाप करे, दण्ड नारी को ही मिलता है, पुरुष को नहीं। यद्यपि एकांकियों की विषय वस्तु ऐतिहासिक-पौराणिक है, पर लेखक की कल्पना को भी समुचित विकास प्राप्त हुआ है। और वह अपनी कल्पना में कहीं बहक नहीं पाया है।

वह हर जगह संयत रहा है। पर एक बात में लेखक असफल अवश्य रहा है। वह किसी भी एकांकी में यह नहीं बतला सका कि नारी की यह जो स्थिति है, उसका मूल भूत कारण क्या है। यदि लेखक इसे स्पष्ट कर पाता तो निश्चय ही इन एकांकियों का महत्व बढ़ जाता। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक ने अपने इन एकांकियों में पाठकों का ध्यान एक नए विषय की ओर आकृष्ट किया है और वह अपने लक्ष्य में सफल भी हुआ है। यद्यपि किसी-किसी एकांकी में नारी के पाप को भी लेखक ने स्पष्ट किया है पर इससे पुस्तक के नाम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

'आजादी के बाद' एक-दृश्य नाटक है। जैसा कि हम आज ७ वर्षों के अनुभव से देख चुके हैं "यह आजादी झूठी है", लेखक ने भी अपने इस नाटक में यही बात सिद्ध करने की चेष्टा की है और वह अपने उद्देश्य में सफल भी हुआ है। इसके अतिरिक्त लेखक ने कुछ सामयिक समस्याओं को भी इस नाटक में उठाया है जिनमें मिल मालिक व मजदूर—गरीब-अमीर की समस्या प्रमुख है।

उपरोक्त दोनों पुस्तकों की भाषा जन साधारण के लिए बोधगम्य, सरल और सरस है। शैली मँजी हुई है, पढ़ते पढ़ते कहीं ऊब नहीं आती, प्रत्युत आगे की घटना जानने की उत्कंठा बनी रहती है। एक अन्य विशेषता यह भी है कि नाटक अथवा किसी भी एकांकी को बिना किसी दिक्कत के रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। संवाद भी छोटे-छोटे, चुटीले एवं प्रभावशाली हैं। दोनों पुस्तकों के लिए लेखक व प्रकाशक का हम अभिनंदन करते हैं और आशा है भविष्य में इसी प्रकार के और भी प्रकाशन वे प्रस्तुत करेंगे।

—महेन्द्र राजा
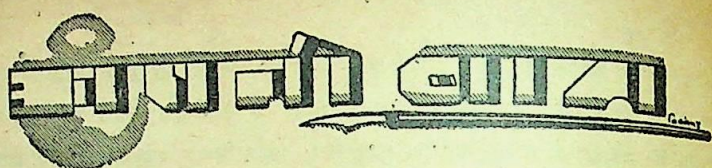
'श्रमण' का संपादन

जुलाई के इसी अंक से 'श्रमण' की व्यवस्था के साथ ही इसका संपादन भी मेरे हाथ में आ रहा है। 'श्रमण' के प्रस्थापक व योग्य संपादक डाक्टर इन्द्रचन्द्र जी बनारस से देहली चले गए हैं। इधर 'श्रमण' के संचालकों के सामने सबसे मुख्य प्रश्न आर्थिक आ खड़ा हुआ। 'श्रमण' को शुरू करते समय आशा की थी कि श्रमण-संस्कृति का संदेश वाहक यह पत्र बहुत जल्द अपने पैरों पर खड़ा हो जाएगा। ऐसा नहीं हुआ। 'श्रमण' के प्रेमी पाठकों का भी जितना सहयोग मिलना चाहिए था, नहीं मिला। संभव है इसके संचालकों की ओर से ही कोई त्रुटि रही हो। पर आज तथ्य यह है कि 'श्रमण' के कृपालु ग्राहकों की संख्या इतनी कम है कि उसके बल पर 'श्रमण' जीवित भी नहीं रह सकता। विद्याश्रम के संचालकों की यह उदारता है कि वे शुरूसे ही इसकी चिन्ता करते रहे हैं और उन्होंने विद्याश्रम के सदस्यों के चन्दे में से प्रत्येक के ४)रु०दे कर 'श्रमण' को बनाए रखा है। इतने पर भी इसकी पितृसंस्था को हर साल दो से तीन हजार तक का घाटा पूरा करना पड़ा है। सचमुच यह स्थिति असह्य थी। प्रश्न था 'श्रमण' को बनाए रखने या बन्द करने का।

मैंने अपने जीवन में कई बार देखा है कि जब जब किसी संबन्धित संस्था के जीवन-मरण का प्रश्न आ खड़ा होता है, तो उसकी जिम्मेवारी मुझे उठानी ही पड़ती है। आज से करीब पाँच साल पहले जब 'श्रमण' शुरू हुआ था, तब मैंने यह कल्पना भी नहीं की थी कि एक दिन 'श्रमण' का संपादक भी बनना पड़ेगा। मैं समझता था मेरा संबन्ध व्यवस्था तक ही रहेगा। सबसे बड़ी बात यह थी कि 'श्रमण' शुरू करते समय पं० इन्द्रचन्द्र जी ने बड़े उत्साह के साथ अपना निश्चय किया था कि वे कहीं भी रहें, 'श्रमण' के संपादन का भारवहन सेवाभाव से हर हालत में करते रहेंगे। इसी आश्वासन पर 'श्रमण' निकला भी था। पर आज हम देख रहे हैं कि परिस्थितियाँ बदल गई हैं। विद्याश्रम के मंत्री, श्री हरजसराय जी के सामने आर्थिक कठिनाई के साथ संपादन की समस्या भी खड़ी हो गई। मैं समझता हूँ 'श्रमण' के प्रेमी पाठक थोड़ा सा भी उत्साह दिखाते तो यह स्थिति पैदा नहीं हो सकती थी। कुछ भी हो, पाठकों के सहयोग और उत्साह का प्रश्न तो आज भी

बना हुआ है। संपादक भले ही बदल जाएँ, पर पाठकों की कृपा बनी रहे, तो पत्र मर नहीं सकता। इसी विश्वास के साथ यह नया प्रयोग हो रहा है। मैं अपने आप को न तो लेखक समझता हूँ और न कवि। पाठकों और लेखकों के भरोसे पर ही मैंने यह इतनी बड़ी जिम्मेवारी उठाई है। मैं अपनी तरफ से 'श्रमण' की नीति के अनुकूल अच्छी से अच्छी सामग्री जुटाने में कमी नहीं रखूंगा। व्यवस्थापक के नाते 'श्रमण' के साथ मेरा घनिष्ठ संबन्ध शुरू से ही रहा है। यह भी मेरे लिए आत्मविश्वास का एक बड़ा कारण है। कृपालु पाठकों से मैं इतना ही चाहता हूँ कि वे अपनी ओर से कम से कम दो २ चार २ नए ग्राहक तो अवश्य ही बनाएँ। इससे 'श्रमण' के संचालकों का उत्साह बढ़ेगा और वे 'श्रमण' को हर तरह से बढ़िया बनाने का प्रयत्न कर सकेंगे।

इसमें संदेह नहीं, 'श्रमण' का अपना स्थान है। इसकी अपनी नीति है। यह पत्र श्रमणसंस्कृति का प्रतीक है। अहिंसा और सत्य इसकी आधार भित्तियाँ हैं। इसको बनाए रखने के लिए जहाँ ग्राहक संख्या का बढ़ना जरूरी है, वहाँ लेखकों की कृपा की भी बड़ी आवश्यकता है। 'श्रमण' अभी इस स्थिति में नहीं है कि वह अपने कृपालु लेखकों को पत्र पुष्प भी भेंट कर सके। हाँ, स्थिति के सुधरते ही वह उनका सत्कार करने से नहीं चूकेगा। आशा है कृपालु लेखक 'श्रमण' पर अपनी पूर्ण कृपादृष्टि बनाए रखेंगे और समय समय पर अपने सुन्दर लेख भेज कर श्रमणसंस्कृति के संदेश वाहक इस पत्र को उत्तरोत्तर उपयोगी बनाने में सहायक बनेंगे।

'श्रमण' के प्रेमी पाठकों से फिर निवेदन है कि वे अपने लेख, विचार, पत्र आदि भेजते रहने के साथ ही 'श्रमण' के बारेमें अपनी जो भी अच्छी-बुरी प्रतिक्रिया हो, अवश्य लिखते रहें। इससे 'श्रमण' को आगे बढ़ाने में बड़ी सहायता मिलेगी।

वीरत्थुई या वीरस्तुति

'श्रमण' के इसी जुलाई अंक से वीरत्थुई या वीरस्तुति का मूल और उसका मूलस्पर्शी भावार्थ सरल हिन्दी में दिया जा रहा है। इससे पाठकों को अहिंसा और शान्ति के अवतार भगवान महावीर के कुछ गुणों की झाँकी मिल सकेगी। यह स्तुति कुछ भक्तिवश नहीं लिखी गई है, बल्कि इसमें यथार्थता को सामने लाया गया है। इसलिए ही इसका अपना स्थान है। सूत्रकृतांग सूत्र जो कि प्राचीनतम जैन आगम साहित्य में अपना मौलिक स्थान रखता

है और जिसका ग्यारह अंग शास्त्रों में दूसरा स्थान है उसके पहले श्रुतस्कन्ध का यह 'वीरत्थुइ अज्झयण' नामका छठा अध्ययन है। इसमें उपजाति छंद की कुल २९ गाथाएँ हैं जिनको सुमधुर स्वर में गाकर पढ़ने से अपूर्व आनन्द का स्रोत बहने लगता है। आशा है 'श्रमण' के पाठक हमारी इस योजना को पसन्द करेंगे।

धर्मबन्धु हर्बर्ट वॉरन

इंगलेन्ड के सबसे पहले अंगरेज जैनधर्म के परम श्रद्धालु और द्वादश व्रतधारी श्रावक धर्मबन्धु हर्बर्ट वॉरन का ८८ वर्ष की आयु में ता० २७-५-५४ को स्वर्गवास हो गया। अन्त समय तक आप स्वाध्याय करते रहते थे और शंका-समाधान करके ज्ञानवृद्धि के लिए सदा तत्पर रहते थे। श्री हर्बर्ट विद्वान होने के साथ ही भावनाशील एवं आचरण करने वाले व्यक्ति थे। उन्हें किसी तरह का लोभ-लालच नहीं था। एकमात्र जीवन शुद्धि की सच्ची लगन होने से धर्म को वे परम कल्याणकारी मानते थे। उनका आदर्श जीवन दूसरों के लिए प्रेरक और प्रोत्साहन देने वाला था। हम उनकी धर्मपत्नी श्रीमती आइ० वी० वॉरन व परिवार के साथ समवेदना प्रकट करते हैं। और उस पुण्यात्मा के कल्याण की भावना करते हैं।

नए कुलपति

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के कुलपति सुप्रसिद्ध विद्वान् व शिक्षा शास्त्री आचार्य नरेन्द्र देव गत मई मास में अपनी अस्वस्थता के कारण त्यागपत्र देकर चिकित्सा के लिए योरोप चले गए। इधर नए कुलपति सर सी. पी. रामस्वामी अय्यर ता० ४-७-५४ को बनारस पहुँच गए। आपका हवाई अड्डेपर और विश्वविद्यालय के मुख्य प्रवेश द्वार पर विश्वविद्यालय के अधिकारियों व निवासियों ने बड़े उत्साह से स्वागत किया। उपकुलपति श्री वी. वी. नारलीकर, रजिस्ट्रार श्री ए. बी. मिश्रा, विभिन्न विभागों के प्रधानाध्यापक, छात्र तथा अन्य विश्व विद्यालय के निवासी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। अय्यर महोदय शासन व व्यवस्था के कार्यों में विशेष रूप से प्रख्यात हैं। आशा है आपकी छत्रछाया में विश्व विद्यालय विशेषरूप से प्रगति करेगा। और स्वर्गीय महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी के सुयश को फैलाने में अधिक समर्थ बनेगा।

—कृष्णचन्द्राचार्य

सर सी. पी. रामस्वामी अय्यर

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का अखिल भारतीय एवं अन्तारा-ष्ट्रिय क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान है। महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी का यह अमर स्मारक देश विदेश के विद्यार्थियों के लिए दिनोंदिन जबरदस्त आकर्षण केन्द्र बनता जा रहा है। अब इसी जुलाई से इस विश्व विद्यालय के कुलपतित्व का भार सर सी. पी. रामस्वामो अय्यर ने संभाला है।

भूतपूर्व कुलपति आचार्य नरेन्द्रदेव जी का काल विश्वविद्यालय के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। वैसे विश्वविद्यालय की यह परंपरा ही रही है कि इसका कुलपतित्व स्वयं मदन मोहन मालवीय जी, आज के उपराष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन् जैसे समर्थ व सुयोग्य व्यक्तियों के हाथों में ही रहा है। फिर भी आचार्य जी का काल अपनी कुछ विशेषताएँ रखता है। आपने एक छोटे से छोटे कर्मचारी तक को भी सुविधाएँ देने का पूरा ध्यान रखा। खासकर निर्धन व असमर्थ विद्यार्थिओं को सहायता पहुँचाने के लिए कई तरह की योजनाएँ चलाईं। अपने वेतन तक में से ८००) रु० की प्रतिमास सहायता देते रहे। आप स्वयं प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हैं, शिक्षा के क्षेत्र में भी आपने अपनी प्रतिभा का कई तरह से उपयोग किया। विश्वविद्यालय में होनेवाले कई खर्चों को कम किया। इस प्रसंग में विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री वी. वा. नारलीकर को भी हम भूल नहीं सकते। आप बड़े ही अध्यवसायी, परिश्रमी एवं सुयोग्य संचालक हैं। आप का सहयोग मिलने से आचार्य जी इतने दिन तक अस्वस्थ रहते हुए भी अपने उत्तरदायित्व को निभाते रहे। प्रो० नारलीकर जहां एक ओर उपकुलपति का कार्यभार योग्यता से संभालते रहे, दूसरी ओर वे उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को नियमित रूप से पढ़ाते भी रहे। यही कारण है कि आचार्य जी के काल में विश्वविद्यालय ने सामाजिक, सांस्कृतिक और शिक्षा आदि के प्रत्येक क्षेत्र में संतोष जनक प्रगति की है।

विश्वविद्यालय के नए कुलपति श्री अय्यर महोदय एक वयोवृद्ध और अनुभवी व्यक्ति हैं। आप अपने अब तक के जीवन में कई महत्वपूर्ण कार्य कर चुके हैं। शासन व शिक्षा के क्षेत्रों में सर्वदा आपका बड़ा हाथ रहा है। मद्रास विश्वविद्यालय के आप फैलो एवं सिन्डीकेट के सदस्य रह चुके हैं। लीग आफ नेशन्स

में आपने भारत का प्रतिनिधित्व किया था। गोलमेज कान्फरेन्स में भी आप गए थे। इन सबके अतिरिक्त आप मद्रास राज्य के एडवोकेट जनरल, कानून के सदस्य, कानून और व्यवस्था तथा सूचना और ब्राडकास्टिंग के इन्चार्ज, वाइसराय की एग्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य, ट्रावनकोर राज्य के दीवान और उसके विश्वविद्यालय के कुलपति भी रह चुके हैं। वर्तमान में भी अन्नामलाई विश्वविद्यालय के आप कुलपति हैं।

हमें विश्वास है कि आप जैसा अनुभवी और सुयोग्य कुलपति पाकर यह विश्वविद्यालय भी सभी क्षेत्रों में सर्वांगीण उन्नति करेगा। नए कुलपति का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

—अधिष्ठाता

रायसाहब टेकचन्द जी का स्वर्गवास!

पंजाब जैन समाज के सुप्रसिद्ध और प्रभावशाली नेता राय साहब टेकचन्द जी का ता० ४-६-५४ की रात में स्वर्गवास हो गया आप पंजाब की एस. एस. जैन सभा के संस्थापकों और कार्यकर्ताओं में अग्रसर थे। वर्षों तक जैन समाज का नेतृत्व किया। आप जैसे अदम्य उत्साही कार्यकर्ताओं के प्रयत्नों का ही यह सुफल है कि पंजाब जैन समाज में कई तरह के सामाजिक व धार्मिक सुधार हुए। बड़ी बड़ी समस्याएँ हल की गई। अमर जैन होस्टल आदि संस्थाएं बनीं। आपका प्रभाव पंजाब से बाहर भी सारे जैन समाज में था। अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन कान्फरेंस के अजमेर के साधु सम्मेलन आदि महत्व के कार्यों में भी पंजाब की ओर से आप प्रमुख भाग लेते रहे।

आप जन्डियाला गुरु (जिला अमृतसर) के रहने वाले थे। आप का घराना संपन्न व बहुत बड़ा है। आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री अमृत लाल जैन बी. ए. एल. एल. बी. आजकल कलकत्ता में व्यापार करते हैं। आपका पुत्र-पौत्रादि परिवार भी विशाल है। रायसाहब के देहान्त से जैन समाज की बड़ी क्षति हुई है। हम आपके परिवार के साथ हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं और आप की आत्मा के कल्याण की कामना करते हैं।

—अधिष्ठाता

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस-५

इस अंक में—

लाला उत्तमचन्द जी का स्वर्गवास !

रावलपिंडी की जैन बिरादरी के शिरोमणि और पंजाब जैन समाज के अग्रगण्य समाज सेवक लाला उत्तमचन्द जी का ता० २-७-५४ को देहली में ७२ साल की उम्र में स्वर्गवास होगया है। आप काकूशाह उत्तमचन्द फर्म के मालिक तथा कपड़े के प्रसिद्ध व्यापारी थे। आपने अपने जीवन में हजारों रुपये का दान किया। रावलपिंडी की जैन बिरादरी के वर्षों तक प्रधान पद पर रहे; और जैन सुमति मित्र मंडल, जैन कन्या पाठशाला आदि संस्थाओं के तो आप प्राण ही थे। स्वभाव से बड़े शान्त और गंभीर थे। अपने बुद्धि बल से बड़ी से बड़ी गुत्थियों को सहज ही में सुलझा देते थे। आप जैन धर्म के श्रद्धालु और जैन शास्त्रों के अच्छे जानकार थे। सभामें शास्त्र वाचन भी करते थे। आपकी भाषण व गाने की शैली भी बड़ी मनोहर थी। हम आपके दिवंगत आत्मा के कल्याण की कामना करते हैं; और आपके समस्त परिवार के साथ समवेदना प्रकट करते हैं।

—अधिष्ठाता

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—कृष्णचन्द्राचार्य,
अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ५ | अगस्त १९५४ | अंक १०

वीरत्थुई—वीरस्तुति

—गतांक से आगे—

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, णेया मुणी कासव आसुपण्णे।
इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता दिविणं विसिट्ठे ॥७॥
से पन्नया अक्खयसागरे वा, महोदही वा वि अणंतपारे।
अणाइले वा अकसायी मुक्के, सक्के व देवाहिवई जुईमं ॥८॥

—वे आशुप्रज्ञ—दिव्यज्ञानी काश्यप मुनि—काश्यप गोत्रवाले भगवान महावीर जिनभगवान के इस अनुत्तर धर्म के महानुभाव—प्रभावशाली नेता हैं। जैसे कि स्वर्ग में सहस्रनेत्र—एक हजार आंखोंवाला इंद्र देवताओं में महानुभाव एवं विशिष्ट होता है।

—वे भगवान अनन्त पार वाले—पार रहित, अनाविल—स्वच्छ जलवाले, महोदधि—स्वयंभूरमण समुद्र की तरह प्रज्ञा—ज्ञान की अपेक्षा से अक्षयसागर—अथाह समुद्र थे। तथा अकषायी—कषायों से रहित थे। मुक्त—जीवन्मुक्त थे। देवाधिपति शक्र—इन्द्र की तरह द्युतिमान्—दीप्तिमान्—चमकीले थे। ॥७-८॥

९वीं गाथा से १४वीं तक सुमेरु पर्वत की उपमा देने के लिए उस की विशेषताओं का वर्णन करते हैं, जिससे भगवान के गौरव का भान हो सके—

से वीरिएणं पडिपुण्ण वीरिए, सुदंसणे वा नग-सव्वसेट्ठे।
सुरालएवासि-मुदागरे से, विराजते णेग-गुणोववेए ॥९॥
सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिकंडगे पंडग-वेजयंते।
से जोयणे णवणवए सहस्से, उद्धुस्सिओ हेट्ठ सहस्समेगं ॥१०॥

—वे भगवान बलवीर्य से प्रतिपूर्ण शक्तिवाले थे। जैसे सुदर्शन—सुमेरु पर्वत पहाड़ों में सर्वश्रेष्ठ है, वैसे भगवान भी सर्वश्रेष्ठ थे। वह सुमेरु स्वर्ग में रहने वाले देवताओं के लिए मुदाकर—हर्ष देने वाला है। भगवान भी प्राणीमात्र के लिए हर्ष के कारण हैं। सुमेरु सुनहरी रंग व चंदन आदि अनेक गुणों से—विशेषताओं से शोभायमान है। भगवान भी ज्ञान आदि अनेक गुणों करके उपपेत होने से विराजमान हैं।

—वह सुमेरु ऊँचाई में एक लाख योजन का है। भौम, जाम्बूनद और वैदूर्य नाम के इसके तीन कांड—भाग हैं। सबसे ऊपर के भाग में पण्डक वन ध्वजा की तरह सुहाता है। निन्यानवे हजार (९९,०००) योजन वह मेरु जमीन के ऊपर ऊँचा है और एक हजार योजन जमीन में उसकी बुनियाद है। ९—१०।

पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए, जं सूरिया अणुपरिवट्टयन्ति।
से हेमवन्ने बहुणंदणे य, जंसि रतिं वेदयती महिंदा ॥११॥
से पव्वए सद्द-महप्पगासे, विराजते कंचण-मट्ठ-वन्ने।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरिवरे से जलिए व भोमे ॥१२॥

—वह सुमेरु ऊँचाई में आकाश को और नीचे भूमि को छूकर ठहरा हुआ है। सूर्य, चाँद और ग्रहगण उसके चारों ओर घूमते रहते हैं। सोने के समान वह चमचमाता है। बहुत से नन्दनवन—भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पण्डक—ये चार वन उसके ऊपर सुहाते हैं। जहाँ महेन्द्र—बड़े बड़े देव, देवेन्द्र आदि आकर मनोरंजन करके रति—आनन्द का अनुभव करते हैं।

—वह सुमेरु पर्वत सुदर्शन, शोभनदर्शन, सुगिरि, गिरिराज, मन्दर, हेमाद्रि आदि सुन्दर सुन्दर शब्दों व नामों से अति प्रसिद्ध हैं। सुनहरी स्वच्छ रंग से शोभायमान है। सब पर्वतों में अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ है। वह पर्वत-मेखला आदि के कारण दुर्गम है—उसपर चढ़ना कठिन है। वह गिरिवर—गिरिराज मणियों और औषधियों के कारण भौम—मंगल ग्रह की तरह ज्वलित—चमकीला है। ११—१२।

[शेष पृष्ठ १९ पर देखिए]

जैनागम राजप्रश्नीय में—

बत्तीस प्रकार की नाट्य-विधि

—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल

प्राचीन भारतीय-जीवन नृत्य, गीत, वाद्य और नाटच के अनेक रुचिर प्रयोगों से भरा हुआ था। मातृभूमि की वंदना करते हुए अथर्ववेद में पृथिवी सूक्त के कवि ने पृथिवी पर होने वाले नृत्य-गीत के इस मनोहर नेत्रोत्सव का इस प्रकार उल्लेख किया है—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः (अथर्व १२-१-४१)

आनन्द भरी किलकारी से अपने कण्ठ को निनादित करने वाले मानव जिस भूमि में उमंग से गाते और नाचते हैं, भारत-भूमि का यही यथार्थ चित्रण है। लगभग पाँच सहस्र वर्षों से भूमि के नदी तट और गिरिकन्दर, अरण्य और क्षेत्र, ग्राम और नगर नृत्य और गीत से भरे हुए थे। स्त्रियों के सुरीले कण्ठ और पुरुषों के घनगात्र शरीर, नृत्य और गीत का जो अपूर्व मंगल रचते थे उनसे यहाँ के जनपदों का वातातपिक जीवन, स्वस्थ विनोद और सुख-सौहार्दों से भरा हुआ था। प्राचीन साहित्य और शिल्प दोनों भारत की इस आनंद विधायिनी जीवन-पद्धति के साक्षी हैं। जिस प्रकार प्रकृति ने अपने सौंदर्य से मातृभूमि के शरीर को चतुरस्रशोभी बनाया उसी प्रकार मनुष्य ने भी चारों खूटों में छाये हुए अपने जीवन को नृत्य और संगीत के आनन्द से सींच दिया। नृत्य और गीत की उस राष्ट्रीय गंगा के तटों पर आज पहले-सा जनमंगल नहीं दिखाई देता। यह सूनापन क्यों है और कबतक बना रहेगा? राजा और ऋषियों के, सती स्त्रियों और वीर पुरुषों के श्लाघ्य चरित्रों को अपने शरीरों की प्रदीप्त प्राणशक्ति से क्या हम नाटच रूप में पुनः प्रत्यक्ष न करेंगे? क्या हमारे बीच प्राचीन समाज नामक उत्सवों के प्रेक्षागारों में होने वाले प्रेक्षणों के, पर्वोत्सवों में होने वाले नृत्य और गीतों के वे रमणीय अध्याय पुनः आरंभ न होंगे? भारतीय रंगमंच कब तक नाटचों के उस विधान से फिर श्री-सम्पन्न न बनेगा, जिसे महाकवि कालिदास ने चाक्षुष-यज्ञ कहा था। गुप्तयुग में लिखते हुए कवि की वाणी थी—

न पुनरस्माकं नाटचं प्रति मिथ्या गौरवम् (मालविकाग्नि०)

अर्थात् नाट्य को जो हम अपने जीवन में इतना गौरव देते हैं उसमें सत्य है, उसके पीछे जीवन की साधना है, कृत्रिमता नहीं। आज नाट्यलक्ष्मी के भवन सूने पड़े हैं। भारतीय आकाश के नीचे नृत्य, गीत और नाट्य के बिना मनुष्य जीवित कैसे है, यही आश्चर्य है। इस देश में यह सुमहान् सत्य है कि जबतक रंगमंच का उद्धार न होगा तब तक साहित्य में जीवन की सचाई न आ सकेगी, जनता से उसका संपर्क न बनेगा और वह शक्तिशाली भी न हो सकेगा।

द्वात्रिंशिक नाट्यविधि

प्राचीन भारत के प्रेक्षागृहों का ध्यान करते हुए हमें जैन-साहित्य के राजप्रश्नीय आगमग्रन्थ के उस प्रकरण का ध्यान आता है जिसमें महावीर के जीवन-चरित को नृत्यप्रधान नाट्य (डांस-ड्रामा) में उतारा गया। इस नाट्य में रंगमंच की पूर्वविधि के रूप में नृत्य के कितने ही भिन्न-भिन्न रूपों का प्रदर्शन किया गया। इसे पढ़ते हुए ऐसा लगता है मानों हम प्राचीन भारत के किसी प्रेक्षागृह में जा बैठे हों जहाँ नाट्य रूपी चाक्षुष-यज्ञ का विस्तार हो रहा हो और जिसमें कला के अनेक चिह्नों को नृत्य के रूप में उतारा जा रहा हो।

जिस समय वेदिका और तोरणों से सुसज्जित एक महान् स्तूप की रचना हो चुकी और उसका दिव्य मंगल आरम्भ हुआ, उस समय सूर्याभ देव की आज्ञा से एक सौ आठ देवकुमार और देवकुमारियों के अभिनेतृ-दल ने बत्तीस प्रकार की नाट्य-विधि (बत्तिसइ बद्ध णट्टविहि) का प्रदर्शन करने के लिए रंग भूमि में प्रवेश किया। इस नाट्य-विधि के अन्तिम बत्तीसवें कार्यक्रम में महावीर के जीवन-चरित्र का अभिनय था। शेष आरम्भ की इकत्तीस प्रविभक्तियों में प्राचीन भारतीय नृत्य का ही उदार प्रदर्शन सम्मिलित था। यह द्वात्रिंशिक नाट्य-विधि कला की पराकाष्ठा सूचित करती है। इसमें कला के अभिप्रायों को नाट्य द्वारा प्रदर्शित करने की मनोहर कल्पना पाई जाती है।

इस कल्पना के मूल का भाव इस प्रकार है। जिस समय समाज में किसी महापुरुष के जन्म की मंगल-वेला आती है उससे पूर्व ही लोक का जीवन शनैः-शनैः अनेक प्रकार के मांगलिक रूपों से उसी प्रकार सुन्दर बनने लगता है, जिस प्रकार प्रभात में सूर्य के उद्गमन से पूर्व उषा के सुनहले सौंदर्य से दिगन्त भर जाते हैं और स्वच्छ जल के सरोवरों में कमल सूर्य का स्वागत

करने के लिए खिल जाते हैं। नील, पीत, श्वेत, रक्त कमलों का यह उल्लास सूर्योदय की ही एक प्रविभक्ति है। इसी प्रकार महापुरुष के आगमन के समय दुखी मानवों के चित्तरूपी कमल किसी नई आशा से प्रमुदित होते और खिल जाते हैं। इसी प्रकार की काव्यमयी कल्पना इस विस्तृत नाटच-विधि के द्वारा व्यक्त की गई है। पन्द्रह से उन्नीस तक की पाँच प्रविभक्तियों में वर्णमाला के अक्षरों का भी अभिनय दिखाया गया है। वस्तुतः ये अक्षर मनुष्य की वाणी के प्रतिनिधि हैं। महापुरुष का आगमन इन वर्णों में अपूर्व तेज भर देता है। इन सीधे-सादे आक्षरों के अनन्त सम्मिलन से लोक का मूक कण्ठ किस प्रकार मुखरित हो उठता है, इसे महापुरुष के व्यक्तित्व का चमत्कार ही कहना चाहिए। राष्ट्र की वाणी महापुरुष की महिमा से किसी उदात्त तेज भर जाती है। उसमें सत्य का विलक्षण भास्वर रूप प्रकट होने लगता है; मानों किसी सारस्वत लोक से सत्य का शतधार और सहस्रधार झरना उन्मुक्त हो गया हो और प्रतिकण्ठ से उसका अमृत जल बरसने लगा हो। राष्ट्र की वाणी का तेज ही साहित्य की वाणी का तेज बनता है; और ऐसा तभी होता है जब महान् पुरुष उसमें सत्य, धर्म, तप, त्याग, संयम, यज्ञ, इत्यादि उदार भावों को भर देता है। धार्मिक विश्वास के अनुसार प्रत्येक मंत्र या धारणी की शक्ति विश्व के सनातन महान् सत्य की ही कोई किरण होती है जो उस मंत्र के अक्षरों में गर्भित रहती है। सत्य की शक्ति से ही जीवन के मुरझाए हुए विटप पल्लवित होते हैं। सत्य के बीज में प्ररोहण की महाशक्ति है। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर विश्वव्यापी सत्य के किसी न किसी पक्ष का संकेत करता है।

इसी प्रकार और भी अनेक अभिप्रायों से इस सुन्दर नाटच-विधि का निर्माण समझना चाहिए। प्राचीन भारतीय कला के अलंकरण ही नाटच के अभिप्राय बनाए गए। कला के अलंकरणों को भी भावों की अभिव्यक्ति की बारह-खड़ी कहना चाहिए। पूर्ण घट, स्वस्तिक, धर्मचक्र, शंख, आदि अभिप्रायों के पीछे अर्थों की गहरी व्यंजना है। अब नीचे उन प्रविभक्तियों का क्रमशः उल्लेख किया जाता है—

(१) पहली प्रविभक्ति में स्वस्तिक, श्रीवत्स नन्द्यावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, पूर्ण कलश, मीन युगल, दर्पण, इन आठ मांगलिक चिह्नों के आकार का नृत्य में प्रदर्शन किया गया। इसे मंगल भक्तिचित्र कहते थे।

(२) दूसरे भक्तिचित्र में आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्यमाणक, वर्धमानक, मत्स्याण्डक, मकराण्डक, पुष्पावली, पद्मपत्र, सागर तरंग, वासन्तीलता, पद्मलता आदि कलात्मक अभिप्रायों का नाट्य के द्वारा रूप खड़ा किया गया। श्रेणि, प्रश्रेणि को प्राकृत में सेढ़ि, पसेढ़ि कहा गया है। हिन्दी का सीढ़ि शब्द इसीसे बना है। नृत्य में सेढ़ि की रचना किस प्रकार की होती होगी इसका एक उदाहरण भरहुत स्तूप से मिले हुए एक शिलापट्ट के दृश्य के रूप में देख सकते हैं। इस समय वह इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें एक प्रस्तार (पिरेमिड) का निर्माण किया गया है। नीचे की पंक्ति में आठ अभिनेता हाथों को कंधों के ऊपर उठाये हुए खड़े हैं। दूसरी पंक्ति में चार व्यक्ति हैं जिनमें से प्रत्येक के पैर नीचे वाले दो व्यक्तियों के हाथों पर रुके हैं। तीसरी पंक्तियों में दो व्यक्ति हैं और सबसे ऊपर उनके हाथों पर केवल एक पुरुष उसी प्रकार अपने दोनों हाथ ऊँचे उठाये हुए खड़ा है। नाट्य के ये प्रकार संप्रदाय विशेष की संपत्ति न हो कर विशाल भारतीय जीवन के अंग थे।

(३) तीसरे भक्तिचित्र में ईहामृग, वृषभ, तुरग, नर, मकर, विहग, व्याल, किन्नर, रुरु, शरभ, चमर, कुंजर, वनलता, पद्मलता का रूप अभिनय में उतारा गया।

(४) चौथी भक्ति में तरह-तरह के चक्रवाल या मण्डलों का अभिनय किया गया। मथुरा के जैन स्तूप से प्राप्त आयाग-पट्टों पर इस प्रकार के चक्रवाल मिले हैं जिनमें दिक्कुमारियाँ मण्डलाकार नृत्य करती हुई दिखाई गई हैं।

(५) पाँचवीं आवलि संज्ञक प्रविभक्ति में चन्द्रावली, सूर्यावली, वलयावली, हंसावली, एकावली, तारावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, इन स्वरूपों का नाट्यात्मक प्रदर्शन किया गया।

(६) छठीं प्रविभक्ति में सूर्योदय और चन्द्रोदय के बहुरूपी उद्गमन-गमनों का चित्रण किया गया। भारतीय आकाश में सूर्य और चन्द्र का उदित होना प्रकृति की नित्य रमणीय घटनाएं हैं। उनके दर्शन के लिए मनुष्य क्या देवों के नेत्र भी उत्सुक रहते हैं। कवि और साहित्यकार उनके लिए अनेक ललित कल्पनाओं से समन्वित सुन्दर शब्दावली का अर्घ्य अर्पित करते हैं। अपने सूर्योद्गम और चन्द्रोद्गम के दिव्य अपरिमित सौंदर्य को हमें जीवन की भाग-दौड़ में भूल न जाना चाहिए। बत्तीस नाट्य-विधि की कल्पना करने वाले नाट्या-

नार्यों के मन उनके प्रति जागरूक थे। विशाल गगनांगण में सुनहले रथ पर बैठे हुए ऊषः कालीन सूर्य समस्त भुवन को आलोक और चैतन्य के नवीन विधान से प्रतिदिन भर देता है। कितने पक्षी अपने कलरव से उनका स्वागत करते हैं, कितने पुष्प उनके दर्शन के लिए अपने नेत्र खोलते हैं, कितने चराचर जीव उनकी प्रेरणा से जीवन के सहस्रमुखी व्यापारों में प्रवृत्त हो उठते हैं—ये कल्पनाएँ सूर्योदय के नाट्याभिनय में मूर्तिमती हो उठती होंगी। चन्द्र-सूर्य के आकाश में उगने, चढ़ने, ढलने और छिपने का पूरा कौतुक नृत्य में उतारा जाता था। आगे की तीन भक्तियों में क्रमशः यही दिखाया गया है।

(७) चन्द्रागमन और सूर्यागमन प्रविभक्ति। इसमें चन्द्र और सूर्य के प्राची दिशा से चलकर आकाश मध्य में उठने के रूप का अभिनय किया जाता था।

(८) सूर्यावरण-चन्द्रावरण। इसमें सूर्य और चन्द्र के ग्रह-गृहीत होने का दृश्य दिखाया जाता था। प्रकाश से आलोकित सूर्य और ज्योत्सना से उद्योतित चन्द्र मनुष्य की बुद्धि और मन के विकास का ही प्रदर्शन करते हैं; किंतु महापुरुष की सात्विक प्रेरणा से विकसित हुए मन बीच में आसुरी अंधकार या तमोगुण की छाया से किस प्रकार हतप्रभ हो जाते हैं और फिर किस प्रकार उस बाधा को हटाकर अंधकार पर प्रकाश की विजय होती है, यही संघर्ष इस नृत्य-विधि में दिखाया जाता था।

(९) सूर्यास्तमन-चन्द्रास्तमन। सूर्य और चन्द्र का स्वाभाविक विधि से अस्त हो जाना यह इस नाट्य-विधि का दृश्य था।

(१०) दशवीं विभक्ति में चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूतमण्डल, राक्षसमण्डल, महोरग मण्डल, गंधर्वमण्डल, इन नाना रूपों का प्रदर्शन किया जाता था। ये देवयोनियाँ नानाविध स्वभाव वाले मानवों की प्रतिरूप हैं।

(११) ग्यारहवें स्थान पर अनेक प्रकार की गतियों का प्रदर्शन किया गया। जैसे ऋषभ-ललित, सिंह-ललित, हयविलंबित, गजबिलंबित, हय विलसित, गजविलसित, मत्त गजविलसित, मत्त हयविलसित, मत्त गजविलंबित, मत्त हयविलंबित आदि आकृतियों से सुशोभित द्रुतविलंबित नामक नाट्य-विधि का प्रदर्शन किया गया।

(१२) बारहवीं प्रविभक्ति में सागर प्रविभक्ति, नागर प्रविभक्ति का प्रदर्शन हुआ।

(१३) तेरहवें स्थान में नन्दा प्रविभक्ति, चम्पा प्रविभक्ति का प्रदर्शन किया गया। यह नन्दा और चम्पा नामक लताओं की अनुकृतिमूलक नाट्य-विधि थी।

(१४) चौदहवें स्थान में मत्स्याण्डक प्रविभक्ति, मकराण्डक प्रविभक्ति, जारप्रविभक्ति और मारप्रविभक्ति की नाट्य-विधि का अभिनय हुआ। इनमें से कई नामों का यथार्थ स्वरूप इस समय स्पष्ट नहीं होता, किंतु नाट्य की प्रतिभा से नाट्याचार्यों को इनकी पुनः कल्पना करनी होगी; अथवा साहित्य के ही किसी अंग से इन पर प्रकाश पड़ना सम्भव है। इसके अनन्तर पाँच प्रतिभक्तियों में वर्णमाला का प्रदर्शन किया गया है।

(१५) क वर्ग प्रविभक्ति।

(१६) च वर्ग प्रविभक्ति।

(१७) ट वर्ग प्रविभक्ति।

(१८) त वर्ग प्रविभक्ति।

(१९) प वर्ग प्रविभक्ति।

(२०) इस विभाग में अशोकपल्लव, आम्रपल्लव, जम्बूपल्लव, कोशाम्ब-पल्लव इन प्रविभक्तियों का प्रदर्शन हुआ।

(२१) तदनन्तर पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चम्पकलता आम्रलता, वासन्तीलता, वनलता, कुन्दलता अतिमुक्तकलता, श्यामलता, इन प्रविभक्तियों के स्वरूप का प्रदर्शन अभिनय द्वारा किया गया, जिसे लता प्रविभक्ति नामक इक्कीसवीं नाट्य-विधि कहते थे।

इसके अनन्तर निम्नलिखित दश नृत्य प्रविभक्तियों का प्रदर्शन हुआ।

(२२) द्रुत नृत्य।

(२३) विलम्बित नृत्य।

(२४) द्रुत विलम्बित नृत्य। दशकुमार चरित में कन्दुकनृत्य के अन्तर्गत इसका भी वर्णन किया गया है।

(२५) अञ्चित नृत्य।

(२६) रिभित नृत्य।

(२७) अञ्चित रिभित नृत्य।

(२८) आरभट नृत्य।

(२९) भसोल नृत्य। इसका ठीक अर्थ स्पष्ट नहीं; संभवतः भसल या भ्रमर नृत्य से इसका संबंध था।

(३०) आरभट भसोल नृत्य।

(३१) उत्पात, निपात, संकुचित, प्रसारित, खेचरित, भ्रान्त, सम्भ्रान्त नामक गतियों का प्रदर्शन हुआ।

(३२) इसके अनन्तर बहुत से देवकुमार और देवकुमारियों ने मिलकर भगवान् महावीर के जीवन चरित की घटनाओं का नाटच-प्रदर्शन किया, जैसे महावीर का देवलोक में चरित, अवतार, गर्भ-परिवर्तन, जन्म, अभिषेक, बालभाव, यौवन, कामभोग, निष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञानोत्पादन (कैवल्य ज्ञान), तीर्थ प्रवर्तन (उपदेश) और परिनिर्वाण आदि लीलाओं का प्रदर्शन किया गया। इस प्रकार यह दिव्य रमणीय तीर्थंकर चरित नामक बत्तीसवीं नाटच-विधि समाप्त हुई। इस नाटच-विधि के अन्तर्गत चार प्रकार के वाद्ययंत्र (तत, वितत, घन, सुषिर), चतुर्विध गीत (उत्क्षिप्त, पादान्त, मन्दाय, रोचित), चतुर्विध नाटच (अञ्चित, रिभित आरभट, भसोल), एवं चतुर्विध अभिनय (दार्ष्टान्तिक, प्रात्यन्तिक, सामान्यतो-विनिपात, लोकमध्यावसानित) द्वारा देवकुमार और देवकुमारियों ने अपूर्व रस-सृजन और कला-प्रदर्शन से दर्शकों को मुग्ध कर दिया।

अवश्य ही सुन्दर कलात्मक अभिप्रायों के अभिनय से उज्जीवित इस नृत्य-नाट्य में धार्मिक भेदों के लिए अवकाश न था। महावीर के जीवन-चरित का अभिनय हो, राम और कृष्ण चरित हो, या बुद्ध का दिव्य चरित हो—वह तो नाटक की अन्तिम कड़ी थी। प्रत्येक महापुरुष का चरित एक ही अलौकिक शाश्वत सर्वत्र व्यापक महान् सृष्टि-सत्य और चैतन्य तत्व की व्याख्या करता है। चरित के अन्तर्गत नीति और धर्म के अनेक गुण प्रकट होते हैं। उनका प्रदर्शन मानव मात्र के हृदय को प्रेरणा देनेवाला होता है। अतएव द्वात्रिंशिक नाटच-विधि को सच्चे अर्थों में प्राचीन भारत रंगमंच की सार्वजनिक विधि कह सकते हैं। इसके अभिनेताओं में स्त्री पुरुष समान रूप से भाग लेते थे। उनकी १०८ संख्या से ही इसका बृहत् रूप और संभार सूचित होता है।

आ अपने लोकन में

क्या ढूँढ़े तू भव लोकन में ?
क्यों बँधा बंधन में ?
उड़ रे पँछी ऊँचे ऊँचे,
आ अपने लोकन में

स्वच्छ लोक का वासी तू है,
अमर लोक का वासी,
ऊर्ध्व गमन है सम्पत तेरी,
तू असीम का वासी

रम्य आलोक भरे हैं तुझ में,
मधु उन्माद भरे हैं,
काम कल्प अद्‌भुत हैं तुझ में,
सुन्दर राग भरे हैं

यह जगति तुच्छ वैभव तेरा,
धाम तेरा है ऊँचा,
तू जगति में रहता रहता,
ऊपर ऊपर रहता

उड़ता उड़ता नित तू गाता,
गाता गाता उड़ता,
आभाओं में लीलाओं में,
मुक्त बंधन तू उड़ता

स्फुर ज्योति के पंख हैं तेरे,
सकल जगत रंग भूमी,
निर्बाध गति है तेरी हर दम,
तू स्वराज्य की भूमी

—श्री जय भगवान जैन
(एडवोकेट, पानीपत)

श्री आत्माराम जी और हिन्दी भाषा

—प्रोफेसर पृथ्वीराज जैन एम० ए०, शास्त्री

लेखक ने १९ वीं शताब्दी के महान् क्रांतिकारी जैनाचार्य श्रीमद् विजयानन्द सूरि, प्रसिद्ध नाम श्री आत्माराम जी के जीवन व कार्यों के विषय में एक शोध-पूर्ण पुस्तक लिखी है। उसके प्रकाशन की व्यवस्था विचाराधीन है। प्रस्तुत लेख उसी अप्रकाशित पुस्तक का एक अध्याय है। —संपादक

हिन्दी में आधुनिक गद्य के जन्मदाता चार व्यक्ति समझे जाते हैं १—लल्लू लालजी (१७६३--१८२५ ई०) 'प्रेम सागर' और 'राजनीति' इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

२—सदल मिश्र (१७७३—१८४८ ई०) इन्होंने 'चन्द्रवती' नामक पुस्तक लिखी। ये दोनों कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज में काम करते थे। इस कालेज की स्थापना लार्ड वैल्ज़ली ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों के विरोध करने पर भी १८०० ई० में की थी। उपर्युक्त दोनों व्यक्ति एक अंग्रेज अधिकारी गिलक्राइस्ट के अधीन काम करते थे। भारतीय भाषाओं के अंग्रेज अध्यक्ष चाहते थे कि हिन्दुस्तानी में भी पाठचपुस्तकों की रचना हो। लल्लू लालजी और सदल मिश्र ने नौकरी करते हुए ही हिन्दी में पुस्तकें लिखीं।

किन्तु इन दोनों से कुछ वर्ष पूर्व दो और गद्य लेखक स्वतंत्र रूप से हिन्दी गद्य साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश कर चुके थे। उनके नाम ये हैं:—

३—सदासुखलाल 'नियाज़' (१७४६—१८२४ ई०) इनकी प्रसिद्ध रचना 'सुखसागर' है।

४—सय्या इंशा अल्लाखां (१७९८—१९०३ ई०) इन्होंने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी है।

इन चारों ने आधुनिक गद्य साहित्य का आरंभ कथासाहित्य से किया है। परन्तु धीरे धीरे गद्य साहित्य की उन्नति होने लगी और ईसाई मिशनरियों ने अपनी धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित करनी शुरू कीं। एक लेखक ने लिखा है, "फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हो जाने के बाद गद्य साहित्य की जो

उन्नति होने लगी, उसका सबसे अधिक लाभ ईसाई प्रचारकों ने उठाया। किन्तु ईसाई प्रचारकों का एक मात्र उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना था। हिन्दी गद्य की उन्नति की भावना उनमें लेशमात्र भी नहीं थी।" (जिज्ञासु, हिन्दी गद्य का विकास पृ० ५५)

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में देश में अनेक धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, जिनका उद्देश्य भारतीय शिक्षित युवकों को भारतीय सभ्यता, धर्म, दर्शन, संस्कृति और साहित्य की ओर आकृष्ट करना था। इन आन्दोलनों के प्रवर्त्तकों ने विभिन्न विचार धाराओं के प्रचार और समर्थन के लिए हिन्दी गद्य को अपना विशेष वाहन बनाया। अंग्रेजी सरकार के विरोध से भी यह प्रचार रुक न सका। राजा हरिश्चन्द्र गद्य के इस आधुनिक राष्ट्रीय युग के प्रवर्तक समझे जाते हैं। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द जी ने गुजराती होते हुए भी हिन्दीभाषा को अपनाया। वे इसे आर्यभाषा कहा करते थे। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने भी हिन्दी में कुछ पुस्तकें लिखीं; किन्तु उनकी भाषा में उर्दू का पर्याप्त मिश्रण था। इसके विपरीत राजा लक्ष्मण सिंह की हिन्दी शुद्ध संस्कृतनिष्ठ थी। आर्य समाज के कारण हिन्दी गद्य ने पंजाब में भी प्रवेश किया और ब्रह्म समाजी नवीनचन्द्र राय पंजाबी ने भी समाज सुधार पर विशुद्ध हिन्दी में पुस्तकें लिखीं।

लगभग इसी समय जैनाचार्य श्री आत्माराम जी ने भी हिन्दी गद्य के निर्माण तथा प्रचार में विशिष्ट सहयोग दिया। किन्तु यह खेद और आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रायः लेखकों ने श्री आत्माराम जी द्वारा की गई हिन्दीभाषा की सेवा की उपेक्षा की है। जैन समाज अपने क्रांतिकारी और युग निर्माता आचार्य के साहित्य का सीमित क्षेत्र से बाहर प्रचार नहीं कर सका। इस उपेक्षा का यही एक कारण प्रतीत होता है। अन्यथा यह संभव न था कि उनका तथा उनकी रचनाओं का हिन्दी साहित्य के इतिहास संबंधी पुस्तकों में निर्देश न होता। तथापि कई लेखक और विद्वान् ऐसे हैं जो यह अनुभव करते हैं कि आधुनिक युग में भी हिन्दी के प्रचार में जैन समाज ने यथेष्ट भाग लिया है और उसका सर्वोपरि श्रेय श्री आत्माराम जी को है। जैन श्वेताम्बर परंपरा में हिन्दी गद्य में धार्मिक और दार्शनिक साहित्य लिखने वाले सर्व प्रथम व्यक्ति आचार्य आत्माराम जी ही हैं। श्री रघुनन्दन शास्त्री ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में एक बार लिखा था, "पंजाब में हिन्दी के प्रसार में जैनधर्म का कार्य भी विशेष

रूप से श्लाघनीय है। आचार्यों ने जैनधर्म का प्रचार विशेषतः हिन्दी द्वारा ही किया है। जैनधर्म के पचासों जीवन चरित्र, धार्मिक उपदेश, गीत, कविता, भजन आदि हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं। इनके आचार्य श्री विजयानन्द सूरि अथवा श्री आत्मानन्द जी ने बीसों ग्रंथ हिन्दी में लिखे हैं।"

जैन संस्कृति की यह विशेषता रही है कि इस ने लोकभाषा को सदैव संमान और आदर प्रदान किया है। जैन सूत्रों में जैन तीर्थंकरों की वाणी के ३५ अतिशय बताए गए हैं; जिनमें कुछ ये हैं--सरलता, हृदयंगमता, प्रस्ताव-औचित्य अर्थात् वाणी का देशकाल के अनुसार होना। जैन साधुओं से यह आशा की जाती थी कि वे उन सब स्थानों की भाषा से सुपरिचित हों, जिनमें विहार कर उन्हें धर्म प्रचार करना है—(औपपातिक सूत्र-१६)। यही कारण है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती, तामिल, कन्नड़ आदि सभी भाषाओं में जैन आचार्यों और विद्वानों ने उच्चकोटि के साहित्य की रचना की है।

श्री आत्माराम जी दूरदर्शी थे। वे जानते थे कि तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार भगवान् महावीर को अर्धमागधी में तथा भगवान् बुद्ध को पाली में अपने उपदेशामृत की धारा को सर्वत्र प्रवाहित करना पड़ा था। उसी प्रकार इस युग की मांग यह है कि लोकभाषा या राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा जनसाधारण में धार्मिक और दार्शनिक ज्ञान का प्रचार किया जाए। श्री आत्माराम जी का संस्कृत और प्राकृत भाषा पर पूरा पूरा अधिकार था। इन भाषाओं में साहित्य की रचना कर वे विद्वानों के शिरोमणि बन सकते थे। किंतु लोक कल्याण के उपासक जैन श्रमण लोक भाषा की उपेक्षा नहीं कर सकते। अतः उन्होंने अपने उद्गार हिन्दी में ही प्रगट कर समाज और राष्ट्र की महान् सेवा की। उन्होंने स्वयं उन कारणों पर प्रकाश डाला है जिनके आधार पर उन्होंने हिन्दी में पुस्तकें लिखीं। वे लिखते हैं:—"· · · ·पूर्वाचार्य रचित सर्व (जैन) ग्रंथ प्राकृत वा संस्कृत भाषा में हैं। सो अब जैन लोगों के पढ़ने व उद्यम के न करने से उन अति उत्तम अद्भुत ग्रंथों का आशय लुप्तप्राय हो रहा है। सो कितनेक भव्य जीवों की प्रेरणा से तथा स्वकर्म निर्जरा के आशय से, जिनको प्राकृत व संस्कृत पढ़नी कठिन है, तिनों के उपकारार्थ देव, गुरु और धर्म का स्वरूप किंचित्मात्र इस भाषा ग्रंथ में लिखते हैं।" (जैन तत्त्वादर्श-पूर्वार्ध-पृ० २)

'तत्त्वनिर्णय प्रासाद' के अन्त में ग्रंथ की समाप्ति पर वे पुनः लिखते हैं:—

"यद्यपि बहुभिः पूर्वाचार्यैः रचितानि विविधशास्त्राणि ।
प्राकृत-संस्कृतभाषामयाणि नय-तर्कयुक्तानि ॥
तदपि मयेदं शास्त्रं पूर्वमुनेः पद्धतिं समाश्रित्य ।
भव्यजन-बोधनार्थं रचितं सम्यक् स्वदेश-गिरा ॥"

इससे प्रगट है कि वे हिन्दी को 'अपने देश की गिरा-वाणी' अर्थात् राष्ट्रभाषा समझते थे।

यद्यपि आप ने गूढ़ व विवादग्रस्त धार्मिक और दार्शनिक विषयों का अपने ग्रंथों में प्रतिपादन किया है, तथापि भाषा पद्य के समान रमणीय है। आपकी हिन्दी भाषा में सरलता, मधुरता, प्रसाद आदि गुण स्थान स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं। स्वामी दयानन्द जी की भाषा में संस्कृतनिष्ठ व तत्सम शब्दों की प्रचुरता है परन्तु श्री आत्माराम जी की भाषा में लौकिक प्रचलित भाषाओं का समावेश है। उसमें संस्कृत, प्राकृत, पंजाबी, गुजराती, मारवाड़ी का मिश्रण है। वह मिश्रण भिन्न भिन्न फूलों के रससे संचित मधु के समान मधुर है। यही कारण है कि किसी भी प्रान्त के लोग उनकी भाषा को सरलता से समझ सकते हैं। आप चाहते थे कि जैनधर्म का सन्देश घर घर पहुंचे, जैनधर्म की वास्तविकता, श्रेष्ठता, प्राचीनता, लोकोपकार वृत्ति का सब को ज्ञान हो। अतः आपने अपनी भाषा को रोचकता, नवीनता और स्फूर्ति का पुट देकर उसे मनोहर, कोमल और प्रभावशाली बनाया।

श्री आत्माराम जी की भाषा आजकल की परिष्कृत अथवा छटी हुई हिन्दी भाषा से भिन्न भी है और उसके समान भी है। आज से साठ सत्तर वर्ष पहले बोलचाल की भाषा में अन्तर था। अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के समान भाषा और लिपि में भी परिवर्तन होता रहता है। भारत के स्वतंत्र हो जाने और हिन्दी के राजभाषा के पद पर आसीन हो जाने के उपरांत आज यह मांग हो रही है कि हिन्दी के गर्भ को विशाल बनाया जाए और लिपि में भी सुधार किया जाए। निकट भविष्य में यह हो कर ही रहेगा। अतः श्री आत्माराम जी ने समय और परिस्थिति के अनुसार मारवाड़ी, पंजाबी, गुजराती, आदि का हिन्दी में समावेश किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इससे उनकी पुस्तकों का महत्त्व कम नहीं होता। विद्वानों का मत है कि श्री आत्माराम जी के ग्रंथों की समकालीन रचनाओं से तुलना करने पर कई समानताएँ भी

दृष्टिगोचर होती हैं। "प्रस्तुत ग्रंथ (जैन तत्त्वादर्श) की भाषा के साथ यदि निश्चलदास जी के विचारसागर और वृत्तिप्रभाकर की भाषा का मिलान करें तो दोनों में बहुत समानता नजर आएगी। प्रस्तुत ग्रंथ की रचनाशैली के लिए भी उपर्युक्त विचारसागर और वृत्तिप्रभाकर तथा स्वामी चिद्घनानन्द जी कृत भगवद्गीता और आत्मपुराण की रचनाशैली को देखें। इनमें वाक्य रचना और विषयनिरूपण में एक ही प्रकार की पद्धति का अनुसरण किया गया है।" (जैन तत्त्वादर्श--पूर्वार्ध--प्रासंगिक वक्तव्य--पृ. ञ--८)

जैनतत्त्वादर्श (पूर्वार्ध) की भूमिका में डाक्टर बनारसी दास जी एम.ए, पीएच. डी. ने 'महाराज साहिब की भाषा' पर एक खोज पूर्ण लेख लिखा है। उसमें उन्होंने उन कारणों पर प्रकाश डाला है जिनसे उनकी भाषा एक प्रकार की मिश्रित हिन्दी थी। वे कारण ये हैं:—

१. उस समय हिन्दी का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। नहीं इसने कोई निश्चित रूप धारण किया था। यद्यपि खड़ी बोली का जन्म १५० वर्ष पहले हुआ, परन्तु उसने निश्चित और परिच्छिन्न रूप बीसवीं सदी में ही धारण किया।

२. तीस चालीस वर्ष पूर्व यू० पी०, पंजाब और मारवाड़ में साधु-महात्मा अपना उपदेश हिन्दुस्तानी भाषा में देते थे। उसमें वे अपनी रुचि, परिस्थिति, शिक्षा के अनुसार दूसरी भाषाओं का मिश्रण कर देते थे। वे गद्य लिखते समय इसी भाषा का व्यवहार करते थे।

३. महाराज साहिब ने प्रारंभिक शिक्षा पंजाब में पाई थी, परन्तु उच्च शिक्षा के लिए उन्हें जयपुर, आगरा, अजमेर, जोधपुर आदि नगरों में देर तक रहना पड़ा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का ज़ोर मारवाड़ गुजरात में होने से अन्य देशों में रहने वाले श्वेताम्बर जैनों की भाषा में भी गुजराती, मारवाड़ी के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं।

इन सब बातों के होने पर भी डाक्टर साहिब का मत है कि "उनकी भाषा में साहित्यिक भाषा के सब गुण विद्यमान हैं। इसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और गूढ़ से गूढ़ शास्त्रीय अर्थ प्रगट करने की पूर्ण क्षमता है। महाराज जी की गद्य लिखने की शैली अति गम्भीर और परिपक्व है। यह शिथिलता, विषमता आदि दोषोंसे रहित है।"

वर्षा ऋतु का आहार विहार

—वैद्यराज पं० सुन्दरलाल जैन

ग्रीष्म काल के बाद ही वर्षा ऋतु प्रारम्भ होती है। यद्यपि वर्षा में बादलों के कारण सूर्य की तेजी न रहने से लू लगना बन्द हो जाता है, इस से लोग समझने लगते हैं कि गर्मी बीत गई, परन्तु विचार पूर्वक देखा जावे तो असली गर्मी वर्षा में ही होती है। जिस समय वायु चलना बंद हो जाती है, उस समय पसीना बहाने वाली और शरीर में दुर्बलता पैदा करने वाली अति कष्ट दायक गर्मी पड़ती है। इस ऋतु में ग्रीष्म ऋतु का संचित वायु कुपित होता है, इस कारण इस मौसम में वायु नाशक आहार विहार आदि का सेवन करना चाहिए। वर्षा में मनुष्यों के शरीर में गीलापन, सीली हवा के कारण वातादि दोष कुपित हो कर अग्नि मंद हो जाती है। चरकाचार्य जी ने लिखा है कि वर्षाकाल में वर्षा होने से जल का अम्ल पाक होता है और पृथ्वी से सील के बुखारात उठते हैं, इस कारण इस मौसम में प्राणियों का अग्निबल क्षीण हो जाता है। अतएव इस मौसम में कभी सर्दी, कभी गर्मी और कभी कभी वसन्त का सा अनुभव मालूम होने लगता है। इस वास्ते इस मौसम में लघुपाकी हलका भोजन करना अति लाभदायक तथा खाना पीना और कपड़े आदि समयानुसार धारण करना अच्छा होता है।

इस ऋतु में कड़वे, कसैले और चरपरे रस का सेवन करना, गर्मागर्म और अग्निदीपन करने वाले भोजन करना चाहिए तथा विशेषकर पतले, रूखे और अधिक चिकने पदार्थों को नहीं खाना चाहिए। इस ऋतु में हवा और पानी एवं बादलों का जोर होने के कारण शाक फल आदि पित्त और जलन को पैदा करते हैं, इसलिए इस मौसम में नई आनेवाली तरकारियों का सेवन वर्जित है। अधिक परिश्रम भी नहीं करना चाहिए, लेकिन परिश्रम बिलकुल छोड़ देना भी ठीक नहीं, थोड़ा परिश्रम करना श्रेष्ठ है। जमीन से जो भू-बाष्प निकलती है, उससे शरीर अवश्य बचाना चाहिए। जहां तक बन सके इस मौसम में जमीन पर नहीं सोना चाहिए।

पथ्य—इस ऋतु में स्वास्थ्य सुख चाहने वालों को निम्न प्रकार पथ्य से रहना चाहिए। गुरु, विष्टम्भी, और वात प्रकोपके आहार का त्याग कर

अन्नपान के साथ थोड़ा शहद का सेवन हितकारक है। खट्टे मीठे फल, नमक, घृत, तैल, जौ, गेहूँ, पुराना शाली चावल, मूँग का यूष, कुलथी का यूष, गर्म करके शीतल किया हुआ जल, तैल का मर्दन, स्नान, पुष्प आदि की माला धारण, पतले स्वच्छ सुगंधित वस्त्र, व्रत, उपवास आदि करना श्रेष्ठ है। ऐसे स्थान में शयन करना चाहिए, जहां पर पानी की बौछार न जाती हो। परवल, सहंजना, मरसा, चूका, गलका, तोरई, पका हुआ तरबूज, राई, बथुवा, क्षीर, खिचड़ी आदि और ब्रह्मचर्य से रहना ये सब हितकारी है।

अपथ्य—पूर्व की हवा का सेवन करना, वर्षा में भीगना, धूप में घूमना, नदी के किनारे सोना, दिन में सोना, प्रतिकूल पदार्थों का सेवन, प्रतिदिन मैथुन करना, सीलवाले स्थान में रहना, नदी में स्नान करना, नदी का जल पीना, नंगे पैर वर्षा में घूमना इत्यादि बातें वर्जित हैं। मल मूत्रावरोध, गीले वस्त्र पहनना, खट्टा दही, मोंठ, मसूर, ज्वार, मटर, चना, नया चावल, आलू, शकरकन्द, सिघाड़ा, पक्का भोजन, बाजारू मिठाई, कसेरू, पालक, करेला, कच्चा खीरा, कच्ची ककड़ी, दिन में कई बार खाना, अधिक व्यायाम, भागकर चलना, शरीर को कष्ट हो ऐसा काम करना, जल में तैरना, बोझा का ढोना, वेगों का रोकना, ये सब अहितकारी अपथ्य हैं।

मलेरिया से बचाव

मलेरिया की रोक थाम के लिए प्रति वर्ष बड़ी बड़ी स्कीमें बनाई जाती हैं पर यह ऐसा भयानक रोग है कि अपने आक्रमण को नहीं छोड़ता, और प्रति वर्ष लाखों की तादाद में मानवसमाज को काल के ग्रासमें पहुँचा देता है। मलेरिया के कारण बतलाते हुए सुश्रुताचार्य जी ने लिखा है कि वमन, विरेचन अधिक होने या इसके बिगड़ जाने, चोट आदि के लगने, किसी भयंकर बीमारी के उठने, किसी तीव्र औषधि के परिपाक, अधिक परिश्रम करने, अजीर्ण, विषादि के उपद्रव, ऋतुओं के विपरीत होने, तेज हवा के सेवन, जहरीले फूलों की गंध, शोक, क्रोध, भय, नक्षत्रपीड़ा, शाप लगने, मन की शंका, मन में ग्लानि पैदा होने, प्रेत बाधा आदि कारणों से मलेरिया ज्वर की उत्पत्ति होती है। कई आचार्यों का मत है कि मिथ्या आहार-विहार ही इसकी उत्पत्ति का मुख्य कारण है। देश, काल, प्रकृति प्रभृति के विपरीत खाना पीना, चलना, फिरना, काम करना, संयोग विरुद्ध भोजन करना, (दूध मछली, दही-मूली, आदि एक साथ खाना) अनियमित समय पर भोजन करना,

कभी ज्यादह, कभी कम भोजन करना, पाचन शक्ति से अधिक भोजन करना, बिना भूख लगे भोजन करना, भूख लगने पर भोजन नहीं करना, अजीर्ण होने पर भी भोजन करना, अति स्त्री प्रसंग करना, तेज धूप में घूमना, विषैली हवा, या बदबूदार जगह में घूमना या रहना, वर्षाजल से भींगना, नंगे पैर वर्षा ऋतु में चलना, अधिक समय तक गीले कपड़े पहनना, अधिक परिश्रम, या स्त्री प्रसंग करके तत्काल स्नान करना—ये सब मिथ्या आहार विहार हैं, तथा घर में जूठन, गंदी वस्तुएं पड़ी रखना, नालियों में पानी का भरा रहना, गीले स्थान में रहना, वर्षा के नवीन गंदले पानी का सेवन करना, वर्षा में नदी, तालाबों का जल पीना, हरी सब्जी—जो वर्षा में नवीन पैदा होती है, का सेवन, वर्षाऋतु में बाहर सोना, सड़ी, गली चीजों का खाना आदि कारणों से वात, पित्त, और कफ ये तीनों दोष कुपित होकर ज्वर पैदा करते हैं।

मिथ्या आहार विहार से शरीर की कार्य प्रणाली, यहां तक कि अन्न को पचाने वाली क्रिया जिस पर हमारे शरीर का दारोमदार है, बिगड़ जाती है। ऐसा होने से अनेक बीमारियाँ आ घुसती हैं यानी उनके आने का रास्ता साफ हो जाता है। प्रधानतः मलावरोध (कब्जी) हो जाता है। यह मल का दोष समस्त शरीर में अपना असर पहुंचाता है। आंतों का बिगड़ा हुआ रस खून में प्रवेश करता है। तब वह वायु से प्रेरित होकर सिर से पैर तक अपना असर करता है। इसी से समस्त बीमारियां पैदा होती हैं। इसलिए आंतों को साफ रखना चाहिए, तथा कब्जी न होने पावे, इसका पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

मलेरिया में सब बीमारियों से अधिक संख्या मरने वालों की है। मलेरिया के आक्रमणसे मनुष्यों की रोग प्रतिरोधक क्षमता कमजोर पड़ जाती है और इसका परिणाम मनुष्यों के आर्थिक और सामाजिक जीवन पर गहरा असर होता है। मलेरिया का प्रकोप प्रायः उसी समय होता है, जब कि किसान लोगों को खेती करने का अवसर आता है, मलेरिया ज्यादहतर ग्रामवासियों में होता है। भारत में मलेरिया के उत्पादक मच्छरों की संख्या ३०–३५ जातियों से भी अधिक है। परंतु इनमें से ४–६ ही जातियां ऐसी हैं जो अधिकतर मलेरिया फैलाती हैं। वैसे तो ये जातियां सर्वत्र पायी जाती हैं, परंतु खास तौर से जहाँ वर्षा अधिक होती है वहां इनकी उत्पत्ति अधिक होती है।

प्रतिबंधक उपाय (१) प्रतिदिन तुलसी पत्र ७, काली मिर्च ७, कालानमक माशा १।।, इन तीनों चीजों को प्रातः काल १० तोले पानी में पीस कर छान लें

और ठंडाई के तौर पर निहार मुँह (खाने-पीने से पहले) पीएं। (२) नीम की कोमल पत्तियाँ ११, काली मिर्च ७, कालानमक १।। माशा, १० तोले पानी में पीसकर प्रतिदिन सबेरे पीएं या इनकी गोली बनाकर यों ही चबाकर खाएं। (३) भोजन के साथ नींबू का सेवन नित्य करें। या नींबू के ४ टुकड़े कर बीज निकाल कर, एक एक टुकड़े में पृथक पृथक सेंधा नमक, कालीमिर्च, जीरा और शक्कर भरकर कुछ गर्म करें। पश्चात् प्रातः काल क्रमशः जीरा, शक्कर, काली मिर्च और सेंधानमक वाला टुकड़ा चूसें। इस क्रिया से मलेरिया के आक्रमण से शत प्रतिशत बचाव होता है। (४) शरीर, वस्त्र, भोजन, और स्थानादि की सफाई का पूर्ण ध्यान रखें। (५) मकान में सूर्य का प्रकाश कुछ समय के लिए अवश्य ही पहुँचने दें। (६) आहार विहार में पथ्य पालन का पूर्ण ध्यान रखें। बाजारू चीजें मिठाई आदि पदार्थ, तैल, मिर्च, खटाई तथा बासी व गरिष्ठ पदार्थों का सेवन न करें। (७) यदि कोष्ठबद्धता हो तो मल शुद्धि के लिए—पंचसकार चूर्ण, त्रिफलादि चूर्ण, प्रतिदिन रात्रि को सोते समय गर्म जल के साथ ३ माशा से ६ माशा तक सेवन करें। वास्तव में पेट की सफाई सबसे मुख्य है।

[पृष्ठ २ के आगे]

महीइ मज्झंमि ठिए णगिंदे, पन्नाएते सूरिय-सुद्धलेस्से।
एवं सिरीए उ स भूरिवण्णे, मनोरमे जोयइ अच्चिमाली ।।१३।।

सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स, पवुच्चई महतो पव्वयस्स।
एतोवमे समणे नायपुत्ते, जाई-जसो-दंसण-नाण-सीले ।।१४।।

—वह सुमेरु पृथ्वी के मध्य—केन्द्र में स्थित नगेन्द्र—पर्वतों में प्रधान, और सूर्य जैसा शुद्ध तेजवाला लोक में उत्कृष्ट रूप से जाना जाता है। इसी तरह वह विचित्र रत्नों के विविध रंगों वाला श्री—शोभा के कारण मनोरम-मन को मोहित करने वाला सूर्य की तरह प्रकाशित है।

—महान पर्वत सुदर्शन गिरि का जैसा यश कहा जाता है। ठीक यही उपमा श्रमण, ज्ञातपुत्र, भगवान महावीर की है, जो जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील—चारित्र वाले थे। —क्रमशः

हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास की रूपरेखा

'श्रमण' के पाठकों को मालूम है कि बनारस में 'जैन साहित्य निर्माण योजना' के अन्तर्गत 'जैन साहित्य का इतिहास' के लेखन की योजना चालू हो चुकी है। जिसकी विशद रूपरेखा 'श्रमण' के वर्ष ५ अंक १ में निकल चुकी है। इसी तरह की एक रूपरेखा थोड़े दिन हुए दैनिक 'आज' में बनारस की नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से 'हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास की रूपरेखा' के नाम से प्रकाशित हुई है। 'जैन साहित्य का इतिहास' की रूपरेखा और इस रूपरेखा में कितना दृष्टि-साम्य है, इसी विचार से इसको यहाँ दे रहे हैं।

—संपादक

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी साहित्य का जो बृहत् इतिहास तैयार किया जा रहा है, उसके सम्पादक मण्डल की प्रथम बैठक में 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' के सामान्य सिद्धांत निरूपित हुए और उसके लेखन की सामान्य पद्धति का स्थिरीकरण हुआ। निम्नलिखित सामान्य सिद्धांत निरूपित हुए। हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर होगा। मुख्य काल निम्नलिखित होंगे—

१—हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका

२—हिन्दी साहित्य का उदय और प्रारम्भिक विकास १४०० वि०।

३—भक्तिकाल—निर्गुण भक्ति—१४००–१७०० वि०।

४—भक्तिकाल—सगुण भक्ति—१४००–१७०० वि०।

५—शृंगारकाल—रीतिबद्ध—१४००–१९०० वि०।

६—शृंगारकाल—रीतिमुक्त—१७००–१९०० वि०।

७—हिन्दी साहित्य का अभ्युत्थान–हरिश्चन्द्रकाल—१९००–१९५० वि०।

८—हिन्दी साहित्य का परिष्कार—द्विवेदीकाल—१९५०–१९७५ वि०।

९—हिन्दी साहित्य का उत्कर्ष काल—(काव्य) १९७५–१९९५ वि०।

१०—हिन्दी साहित्य का उत्कर्ष काल (नाटक) १९७५–१९९५ वि०।

११—हिन्दी साहित्य का उत्कर्ष काल (उपन्यास, कथा, आख्यायिका) १९७५–१९९५ वि०।

१२—हिन्दी साहित्य का उत्कर्ष काल (समालोचना, निबन्ध) १९७५–१९९५ वि०।

१३—हिन्दी साहित्य का अद्यतन काल—१९९५–२०१० वि०।

१४—हिन्दी में शास्त्र तथा विज्ञान।

१५—हिन्दी का उन्नयन।

२—व्यापक सर्वांगीण दृष्टि—साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश और जीवन की सभी दृष्टियों से उन पर विचार।

३—साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा ह्रास का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जाय। अर्थात् तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्यकारण सम्बन्ध, पारस्परिक सम्पर्क, संघर्ष, समन्वय, प्रभाव, ग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, अन्तर्भाव, तिरोभाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जायगा।

४—संतुलन और समन्वय—ऐसा ध्यान रखा जाय कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके। ऐसा न हो कि किसी पक्षकी उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरंजन। साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से सम्बन्ध और सामंजस्य किस प्रकार से विकसित हुआ इसे स्पष्ट किया जाय। उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमातक किया जाय, जहां तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हुए हों।

५—हिन्दी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्य शास्त्रीय होगा। इसके अन्तर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जायगा। विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों में निम्नलिखित मुख्यता होगी—

१—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि।

२—दार्शनिक।

३—सांस्कृतिक।

४—समाजशास्त्रीय ।

५—मानववादी आदि ।

६—विभिन्न राजनीतिक मतवादों और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा । जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक हो ।

७—साहित्य के विभिन्न कालों में उसके विविध रूपों में परिवर्तन और विकास के आधारभूत तत्वों का संकलन और समीक्षण होना चाहिए ।

८—विभिन्न मतोंकी समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा । सबसे अधिक सन्तुलित और बहुमान्य सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धान्तों का निर्माण सम्भव होगा ।

९—उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक भाग के सम्पादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे । पर सम्पादक मण्डल इतिहास की व्यापक एकरूपता और आन्तरिक सामंजस्य बनाये रखने का प्रयास करता रहेगा ।

पद्धति

१—प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उनके साहित्य क्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनकी जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निदर्शन किया जायगा ।

२—तथ्यों के आधार पर ही सिद्धान्तों का निर्धारण होगा । केवल कल्पना और सम्मतियों पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं होगी ।

३—प्रत्येक निष्कर्ष के लिए प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे ।

४—लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग किया जायगा—संकलन, वर्गीकरण, समीकरण, (संतुलन) आगमन आदि ।

५—भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होनी चाहिए ।

जैन इतिहास के भाग्य पुरुष

कालकाचार्य

—श्री इलाचन्द्र जोशी

आधुनिकतम ऐतिहासिक साक्ष्यों और अनुश्रुतियों को शोध कर श्री इलाचंद्र जोशी ने इस लेख में कालकाचार्य के व्यक्तित्व की विभिन्न रेखाओं को अपने प्रकृत महत्व में स्पष्ट किया है। अतीत की अंधकारा में विजड़ित एवं धर्म तथा राजनीति के जटिल वैभिन्न्य में उलझी इस जीवनी को विवेचन के ऐसे संतुलित ऐतिहासिक स्तर पर शायद यहाँ प्रथम बार प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व एक दिन उज्जयिनी के निवासी बड़े कुतूहल से एक साधु को देख रहे थे, जो उद्भ्रांत-सा गली-गली भटकता हुआ प्रत्येक नाके और चौराहे पर खड़ा होकर बड़बड़ा रहा था—"यदि गर्दभिल्ल राजा है, तो इससे क्या ? यदि उसका देश रमणीय है, तो इससे क्या ? यदि उसकी नारी सुन्दर है, तो इससे क्या ? यदि यहाँ के लोग मनोरम वस्त्र और मूल्यवान गहने पहनते हैं, तो इससे क्या ? यदि मैं दर-दर भिक्षा मांगता फिरता हूं, तो इससे क्या ? और मैं यदि रात में किसी सूने देवल में सोता हूँ, तो इससे क्या ?"

जो लोग उस साधु को जानते थे, वे उसकी मानसिक दशा देखकर अत्यंत दुःखित हो रहे थे और जो नहीं जानते थे, वे कौतुक का अनुभव कर रहे थे। बच्चे उसके पीछे-पीछे दौड़ते तथा तालियाँ पीटते हुए किलकारियां भर रहे थे। पर वह साधु वास्तव में पागल नहीं था। वह प्रचंड प्रतिभाशाली विद्वान और महातपस्वी योगाचार्य आर्य कालक थे, जो एक विशेष घटना के कारण छद्म पागल का रूप धारण किये हुए थे। उनकी कथा इस प्रकार है—

मालव-प्रदेश के अन्तर्गत धारावास नामक नगर में वैरिसिंह नाम का एक प्रबल प्रतापी राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम सुरसुंदरी था। उनके एक सर्वगुण-सम्पन्न पुत्र था, जिसका नाम था कालककुमार। कालककुमार की एक बहन थी। नाम था सरस्वती। सरस्वती अपने नाम के अनुरूप ही अपूर्व सुन्दरी और अद्वितीय पंडिता थी।

एक दिन युवक कालककुमार अश्वक्रीड़ा के बाद जब घर को लौट रहे थे, तब रास्ते में पानी बरसने वाले बादलों की गम्भीर गर्जना सुनकर वह आम्रवन नामक उद्यान में ठहर गए। वहां गुणाकर सूरि नामक एक महान् जैन आचार्य अपने शिष्यों को धर्मतत्व समझा रहे थे। जब आर्य गुणाकर ने कालककुमार को देखा, तब वह विशेष रूप से उन्हें लक्ष्य करके धर्मोपदेश देने लगे। वह कहने लगे—"सोने की परीक्षा जिस प्रकार घर्षण, छेदन, ताप और ताड़न इन चार प्रकारों से होती है, उसी प्रकार ज्ञानी लोग धर्म की परीक्षा चार प्रकार से करते हैं—श्रुत, शील, तप और दया के विवेचन द्वारा। जीव अनादि काल से मृत्यु के गहन अंध-गह्वर की ओर लुढ़कता चला जा रहा है और अनादि कर्मों के प्रवाह में बहता हुआ वह कूल-किनारा नहीं पाता। कर्म-चक्र में फँसकर वह पाप के अनंत बंधनों द्वारा बंधकर दुखी होता है और धर्म का ठीक-ठीक स्वरूप समझने और उसके अनुसार आचरण करने से वह उन बंधनों से छुटकारा पाकर सुखी होता है। धर्म नियमतः तीन प्रकार का होता है—चारित्र धर्म, श्रुत धर्म और तप। प्राणिहिंसा आदि पापों का निवारण चारित्र धर्म के अंतर्गत आता है, व्रत आदि नियमों के अनुष्ठान द्वारा आत्मशुद्धि श्रुतधर्म के अंतर्गत आता है और कर्मबंधनों से मुक्ति दिलाने वाला धर्म तप कहलाता है। इन तीनों प्रकार की साधना द्वारा जो धर्म शुद्ध होता है, वही सच्चा धर्म है और उसी का अनुसरण करना पंडितों का ध्येय होता है।"

इस प्रकार उपदिष्ट होने पर कालककुमार के अंतर में ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न हुआ। और अनंत कर्मचक्र से मुक्त होने की प्रेरणा प्राप्त हुई। माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करके वह गुणाकर सूरि से दीक्षा लेकर प्रव्रजित हुए। सरस्वती ने जब देखा कि, उसके भाई ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली, तब वह भी न रह सकी और प्रव्रजित हो गई।

गुरु से विविध ज्ञान-विज्ञान सीखकर आचार्य-पद को प्राप्त होने के बाद वह एक बार पांच सौ साधुओं को साथ लेकर उज्जयिनी चले गए। वहां नगर की उत्तर दिशा में स्थित एक उद्यान में जाकर बस गए और पाप-ताप से ग्रस्त प्राणियों को धर्म का मर्म समझाने लगे। नगरवासी कालकाचार्य का ब्रह्मचर्य-जनित तेज देखकर और उनके अगाध ज्ञान से परिचित होकर चकित थे।

एक दिन उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल की सवारी उद्यान में होकर चली जा रही थी। उसने अनुपम रूपवती साध्वी सरस्वती को देखा और देखते ही

कामोहित हो गया तथा उसने अपने प्रचंड पुरुषों (उद्धत सैनिकों या गुंडों) द्वारा उसका अपहरण किया। असहाया नारी आर्त स्वर में कहने लगी—"हे सुग्रह भाई, इस अनार्य राजा और उसके गुंडों के पाप-पंकिल हाथों से मेरे चरित्र की रक्षा करो।"

उस समय वह उद्यान के बाहर विहार भूमि गई हुई थी, इसलिए आर्य कालक और उनके शिष्यों के कानों तक उसकी करुण पुकार नहीं पहुँच पाई। बाद में जब कालकाचार्य के कानों तक वह समाचार पहुँचा, तब वे अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। राजा गर्दभिल्ल के पास जाकर उन्होंने शांत भाव से उसे समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा—"राजन्, धर्म की मर्यादा और न्याय-नीति का इस तरह उल्लंघन करके अपने विनाश का कारण स्वयं न बनो। प्राचीनतम काल से तपोवन राजाओं की छत्रछाया में सुरक्षित रहते आए हैं। राजाओं के भुज-विक्रम के आसरे रहकर आश्रमवासी सुख और शान्ति से धर्म-कर्म में रत रहते हैं। पर जब स्वयं रक्षक ही भक्षक बन जाय, तब राजा-सहित प्रजा के विनाश के अतिरिक्त और किस बात की आशा की जा सकती है? इसलिए सदुपदेश सुनो और मेरी साध्वी बहन को छोड़ दो।"

पर कामांध राजा ने उनकी एक भी बात न सुनी। तब आर्य कालक चतुर्विध संघ के पास गए। संघ ने भी हर तरह से राजा को समझाया, पर कोई फल न हुआ। अंत में आर्य कालक ने आवेश में आकर यह भीष्म-प्रतिज्ञा की—"संघ के शत्रु, प्रवचन-संयमोपघातक, स्त्री-हत्या और बाल हत्या करने वाले व्यक्ति की जो दशा होती है, मैं भी उसी दशा को प्राप्त होऊँ, यदि गर्दभिल्ल राजा का मूलोच्छेदन न कर पाऊँ।"

यह प्रतिज्ञा करने के बाद वह कुछ दिनों तक हैमलेट की तरह छद्म पागल का रूप धारण कर उज्जयिनी में निरुद्देश्य विचरते रहे। जब वह नगर की विभिन्न वीथियों (सड़कों और गलियों), सिंघाटकों और चत्वरों (चौराहों) में होकर चलते थे, तब लोग उन्हें पूर्वोक्त प्रकार से स्वगत भाषण करते हुए सुनते थे।

जो नगरवासी उन्हें जानते थे, वे उनका वह रूप देखकर अत्यंत दुःखित होकर आपस में कहते—"राजा ने आर्य कालक की बहन को बलपूर्वक अंतःपुर में रखकर घोर अन्याय किया है। हाय! अनेक विद्याओं और गुणों को जानकर आर्य कालक पागलों की तरह नगर में घूम रहे हैं। इस घोर पाप

का फल आततायी राजा को अवश्य मिलेगा, पर उनलोगों की इस तरह की मौखिक सहानुभूति का कोई फल नहीं हो सकता था। कुछ प्रमुख नागरिकों और नगर-जेट्ठकों (ज्येष्ठ पुरुषों) ने राजा से मिलने का साहस किया और सरस्वती को मुक्त कर देने की प्रार्थना की, पर उसका कोई प्रभाव मोहभ्रमित राजा पर न पड़ा।

कुछ समय बाद एक दिन कालकाचार्य चुपचाप नगर से बाहर निकल गए। कई दिनों तक भ्रमण करते रहने के बाद वह शककूल या पार्श्वकूल अथवा पारसकूल पहुंचे। (कुछ इतिहासज्ञों का अनुमान है कि पार्श्वकूल से आशय फारस की खाड़ी के तट पर बसे हुए देश से है। कुछ दूसरे इतिहासकारों की धारणा है कि, वर्तमान सिंध प्रदेश का जो सार-तट है, वहां पहले ही से कुछ शक सामंत बस गए थे और कालकाचार्य वहीं गए थे।) वहाँ ९६ शक-सामंत रहते थे, जो साहि या शाखि कहलाते थे। (ये दोनों शब्द फारसी शाह के प्राकृत तथा संस्कृत रूप हैं।) उनका राजाधिराज साहाणुसाहि (शाहंशाह) कहलाता था। उन साहियों ने जब यह जाना कि, कालकाचार्य अगाध ज्ञान के भंडार हैं, तो स्वभावतया वे उनका बड़ा आदर-सम्मान करने लगे।

जिस साहि के यहां कालकाचार्य रहते थे, वह एक दिन उनके मुख से विविध मंत्रों-तंत्रों से सम्बन्धित आश्चर्य-जनक ज्ञान की बातें सुनता हुआ एकाग्र-चित्त होकर बैठा था। सहसा उसके प्रतिहार ने आकर सूचित किया—"स्वामी, साहाणुसाहि का दूत बाहर खड़ा है।" साहि ने उसे भीतर लिवा आने की आज्ञा की।

जब दूत ने प्रवेश किया, तब साहि ने उसे उपयुक्त आसन पर बिठाया। इसके बाद दूत ने साहाणुसाहि द्वारा भेजी गई भेंट उसे सौंप दी। भेंट देखकर साहि के मुख पर वर्षाकाल के कजरारे बादलों की तरह अंधेरा छा गया। साही की उद्विग्नता देख आचार्य ने पूछा—"स्वामी का प्रसाद पाने से प्रसन्नता के बजाय तुम्हारे मुख पर उदासी कैसे छा गई?"

साहि बोला—"भगवन्, यह प्रसाद नहीं साकार कोप आया है। हमारा स्वामी जिसपर रुष्ट होता है, उसके पास एक कटारी और उसके द्वारा आत्महत्या करने का आदेश भेजता है।"

"वह क्या केवल तुम्हारे ही प्रति असंतुष्ट है या दूसरों पर भी ?" आचार्य ने प्रश्न किया।

"मेरे अतिरिक्त ९५ दूसरे साहियों के पास भी उसने इसी तरह कटारी भेजी है। वह उन सबसे असंतुष्ट है।"

"यदि ऐसा है, तो तुम लोग अपने हाथ से अपना नाश न करो।"

"आप को हमारे साहाणुसाहि के कोप का वास्तविक रूप ज्ञात नहीं है। यदि हम लोग उसकी भेजी हुई कटारी से आत्महत्या नहीं करेंगे, तो वह हमारे सम्पूर्ण कुलों का ही विनाश कर देगा।"

"तुम सब लोग मेरे साथ हिंदुक देश (भारत) में चलो। वहां वह तुम लोगों का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकेगा।"

कालकाचार्य की यह बात साहि के मन में पैठ गई, उसने दूसरे साहियों से परामर्श करके यह निश्चय किया कि कालकाचार्य के साथ हिंदुक देश चला जाय। यह निश्चय करके वे लोग अपने समस्त सैन्य वाहनों के साथ सिंधु पार करके सौराष्ट्र पहुंचे। उनके पहुंचते ही वर्षा-काल आ गया और उन्हें बरसात समाप्त होने तक वहीं रह जाना पड़ा।

जब शरद् ऋतु आई और पृथ्वी तथा आकाश निर्मल होकर एक अपूर्व शोभा का विस्तार करने लगे, तब कालकसूरि ने साहियों से कहा—"अरे, तुम लोग इस तरह निरुद्यम क्यों बैठे हो ?"

"आज्ञा कीजिए, अब हम लोगों को क्या करना चाहिए ?" प्रधानसाहि ने विनम्रता के साथ कहा।

"उज्जयिनी पर चढ़ाई करके मालवा देश पर अपना अधिकार स्थापित करो।"

"ठीक है, हम लोग ऐसा ही करेंगे। पर हम लोगों के पास आर्थिक सम्बल कुछ भी शेष नहीं रह गया है। बिना आर्थिक व्यवस्था के हम लोग कैसे आगे बढ़ें ?"

तब कालकाचार्य ने बहुत से ईंटे इकट्ठा किये और योगचूर्ण द्वारा उन सब को सोने के ईंटों में परिणत कर दिया। तब साहि लोग प्रसन्न होकर बलबल

सहित उज्जयिनी की तरफ बढ़े। रास्ते में लाट देश के राजा भी अपनी सेना लिये उनकी सहायता के लिए आ पहुंचे।

उन लोगों ने सम्मिलित रूप से उज्जयिनी की सीमा के बाहर वाले गढ़ पर चढ़ाई की। गर्दभिल्ल की सेना उन लोगों के नए नए ढंग के शस्त्रास्त्रों से पीड़ित और उनकी युद्ध-कला से पराजित होकर नगर के भीतर प्रविष्ट हो गई। कालकाचार्य की आज्ञा से उज्जयिनी के चारों ओर घेरा डाल दिया गया।

कुछ दिनों बाद जब शक साहि नगर के गढ़ पर धावा बोलने के लिए बढ़े, तब देखा कि, सारा गढ़ सूना पड़ा हुआ है। उन्होंने कालकाचार्य से पूछा—"भगवन्, आज गढ़ सूना क्यों है ?"

सूरि ने कहा—"आज कृष्णाष्टमी है। गर्दभिल्ल उपवास करके गर्दभी-विद्या की साधना कर रहा है। इसलिए तुम लोग उस विशेष गर्दभी की खोज करो, जिसके बल पर वह तुम लोगों पर विजय पाना चाहता है। साधना द्वारा सिद्ध यह गर्दभी जब विकट शब्द मुंह से निकालेगी तब शत्रु-सेना का जो कोई भी आदमी उसे सुनेगा, वह रक्त वमन करना आरम्भ कर देगा। इस लिए उसके मुंह खोलने के पहले ही तुम लोग बाणों द्वारा उसका मुंह चारों ओर से बंद कर दो। गर्दभिल्ल की सारी साधना भ्रष्ट हो जायगी।

शक-सैन्यों ने वैसा ही किया। मुंह बंद होने पर गर्दभी गर्दभिल्ल को लात मार कर भाग गई। गर्दभिल्ल की साधना नष्ट होने पर शकों ने गढ़ तोड़कर उज्जयिनी में प्रवेश किया। गर्दभिल्ल को जीवित पकड़ लिया गया और उसे कालकाचार्य के चरणों में सौंप दिया गया। तब आर्य कालक ने उसे धिक्कारते हुए कहा—"अरे पापिष्ठ, परम सती साध्वी सरस्वती का चरित्र बलपूर्वक नष्ट करने की जो दुर्गति तेरे पापी मन में समायी थी, उसका परिणाम भुगत। सम्यक् फल तो तुझे घोर नरक में गिरने पर ही मिलेगा। तूने जो अत्यन्त गर्हित कार्य किया है, उसके लिए यद्यपि कोई क्षमा नहीं है, फिर भी मेरे हृदय में तेरे प्रति करुणा जग रही है। अब भी तू संभल सकता है। आत्म-निंदा करता हुआ तू आत्मालोचना द्वारा प्रायश्चित्त कर और दुष्कर तप और साधना में लग जा, जिससे दुःख-सागर से पार पा सके।......"

यह कहकर कालकसूरि ने उसे छोड़ देने और सीमा-पार चले जाने की

आज्ञा दी। वह आत्मग्लानि की अग्नि में जलता हुआ जंगल में भटकने लगा। वहां एक बाघ का शिकार बनकर उसने इहलीला समाप्त की।

उसके बाद साध्वी सरस्वती को आलोचना (प्रायश्चित्त), तप आदि से शुद्ध करके फिर से संयम में प्रतिष्ठित कर लिया गया। साथ ही यह बात भी संघ द्वारा मान ली गई कि, सीता की तरह बलपूर्वक अपहरण किये जाने से देवी सरस्वती का चरित्र और आचार नष्ट नहीं हुआ और बिना आलोचना के भी वह शुद्ध है।

उसके बाद आर्य कालक ने उक्त शक साहि को राज-सिंहासन पर बिठा दिया, जिसके यहां वह ठहरे थे। शेष ९५ साहियों में मालव देश की भूमि बांट दी गयी।

शक लोगों का राज्य उस बार उज्जयिनी में केवल चार वर्ष तक रहा। जैन जनश्रुति से ज्ञात होता है कि, बाद में स्वयं कालकाचार्य उन साहियों के आचरण से असंतुष्ट हो गये तथा शकों के उज्जयिनी-प्रवेश के चार वर्ष बाद विक्रमादित्य के आधिपत्य में मालवों ने शकों को युद्ध में हराकर भगा दिया।

—'नवनीत' से साभार

यह अपव्यय और युग का प्रभाव !

श्री नाथद्वारा स्थित श्रीनाथ जी का मंदिर भारत का एक प्रसिद्ध मंदिर है और धर्म-श्रद्धालु जनता के लिए आकर्षण का केन्द्र है। प्रति वर्ष वहाँ दूर-दूर से लाखों यात्री दर्शनार्थ आया करते हैं। श्रीनाथ जी के इस मंदिर के महत्व का अनुमान केवल इस बात से लगाया जा सकता है कि प्रतिदिन वहाँ लगभग तीन हजार रु० का प्रसाद चढ़ता है जो बेच दिया जाता अथवा दूर दूर पार्सलों द्वारा भेजा जाता है। पर आजकल इस मंदिर की आय घट रही है। कहा जाता है कि श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ आने वाले यात्रियों की संख्या अब बहुत कम रह गई है, परिणामतः हजारों रु० का स्वादिष्ठ पदार्थ रोज बच जाता है, जो कभी कभी इतना सड़ जाता है कि जानवर भी खाना पसंद नहीं करते।

एक दृष्टि से देश की खाद्यान्न स्थिति और गरीबी को देखते हुए राष्ट्र के हित में यह अपव्यय तो है ही पर दूसरी ओर इससे यह भी पता चलता है कि जनता की श्रद्धा इस ओर से क्रमशः हट रही है और अंधविश्वास तथा रूढ़ियों का युग धीरे धीरे अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रहा है। यह जानकर हमें हर्ष ही होना चाहिए।

—महेन्द्र 'राजा'

'अगस्त' की ऐतिहासिकता

—श्री शरच्चन्द्र मुखर्जी

जिस प्रकार सम्राट् जूलियस सीजर के नाम के आधार पर अंग्रेजी साल के सातवें महीने का नाम जुलाई रखा गया, ठीक उसी प्रकार जब सीजर का भांजा आगस्टस रोम का सम्राट् हुआ तब अगस्त महीने का पूव नाम बदलकर 'अगस्त' रखा गया। इसके पूर्व ईस्वी साल के महीनों के नाम देवताओं के नाम पर रखे गए थे। फिर इन महीनों के नाम क्यों और कब बदले गए, यह एक अलग लेख का विषय है।

चूंकि भारत को करीब एक हजार वर्ष बाद इसी महीने स्वतंत्रता मिली है, इसलिए इस महीने को काफी महत्व दिया जाता है। यदि हम निम्न तालिका पर गौर करें तो इसकी ऐतिहासिकता स्पष्ट हो जाती है।

१ अगस्त—१९२० को महात्मा गांधी ने 'केसरे हिन्द' का पदक सरकार को लौटाते हुए इसी दिन से 'अहिंसात्मक आन्दोलन' प्रारंभ किया था। इसी १ अगस्त १९३३ को सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी सूर्यसेन तारकेश्वर को फांसी पर लटकाया गया था। १ अगस्त १९२० को भारतीय राजनीतिक असन्तोष के स्रष्टा लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का निधन हुआ था।

२ अगस्त—सन् १८५८ को भारत का शासन सूत्र ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से अंग्रेज सरकार के हाथ में आया। इसी २ अगस्त १९३५ को गवर्मेंट आफ इण्डिया ऐक्ट के विरोध में कांग्रेस ने अपना मत प्रदर्शन किया और उसे आठ प्रान्तों के चुनाव में सफलता प्राप्त हुई।

३ अगस्त—सन् १७४९ को कर्नाटक में हिन्दू राजा चांदा साहब विदेशियों की मदद से राजा बना और अंग्रेजों की सहायता से राज्य करने लगा।

४ अगस्त—सन् १८४५ को सर फिरोज शाह मेहता का जन्म हुआ। सन् १८५७ में इसी दिन गदर का प्रारंभ हुआ और कानपुर में नाना साहब तथा जनरल हैवलाक में भीषण संघर्ष हुआ। इसी दिन अन्दमान के भारतीय राजनीतिज्ञों ने महात्मा जी के कहने पर उपवास त्याग दिया और भारत चले आए।

५ अगस्त—सन् १७७५ को भारत के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन

हेस्टिंग्ज पर घूस लेने का आरोप लगाने के कारण महाराज नन्दकुमार को फांसी की सजा दी गई।

६ अगस्त—सन् १९४५ को हिरोशिमा पर एटम बम गिराया गया। सन् १९२४ में कालीकट में भीषण बाढ़ आई।

७ अगस्त—सन् १९०५ से स्वदेशी आन्दोलन और बहिष्कार नीति प्रारंभ। इसी दिन सन् १९४१ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का निधन हुआ।

८ अगस्त—सन् १९४२ में बम्बई में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का नारा लगाया गया।

९ अगस्त—सन् १९४२ को कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी और ४२ का आन्दोलन प्रारंभ हुआ।

१० अगस्त—सन् १९४९ को हिन्द सरकार के शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कांग्रेस असेम्बली की पार्टी में कहा कि हिन्द की राष्ट्र भाषा की लिपि केवल नागरी हो सकती है।

११ अगस्त—सन् १८८५ को राष्ट्र कवि श्री मैथिली शरण का जन्म हुआ।

१२ अगस्त—सन् १७९५ को बंगाल-बिहार और उड़िसा का शासन भार अंग्रेजों के हाथ में आया।

१३ अगस्त—सन् १८४८ को भारत के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री तथा कांग्रेस के पन्द्रहवें अधिवेशन के अध्यक्ष श्री रमेशचन्द्र का जन्म हुआ।

१४ अगस्त—सन् १९४९ से चन्द्रनगर का सत्ता हस्तांतरण होगा—यह घोषणा श्री जीन जार्ज चम्बन ने की।

१५ अगस्त—१९४७ भारत का मुक्तिपर्व दिवस, सन् १८७२ को योगीराज अरविन्द का जन्म दिवस। सन् १८३०में पेशावर में सैनिक शासन प्रारंभ हुआ। सन् १९४२ में महादेव देशाई का निधन हुआ।

१६ अगस्त—सन् १९०८ को जोहान्सबर्ग दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह प्रारंभ हुआ। सन् १९०९ को क्रान्तिवीर मदनलाल धींगरा को फांसी की सजा दी गई। सन् १९४६ को कलकत्ते में 'डायरेक्ट एक्शन डे' मुस्लिम लीग ने शुरू किया।

१७ अगस्त—सन् १९३२ को ब्रिटिश प्रधान मंत्री रेम्डो मैक्डोनल्ड ने पृथक जाति निर्णय की घोषणा की।

१८ अगस्त—सन् १९२१ को इटावा की एक सार्वजनिक सभा में उत्तेजक भाषण के अपराध में स्वामी शिवानन्द गिरफ्तार किए गए।

१९ अगस्त—सन् १८३२ को पहिली बार मजिस्ट्रेट और ज्यूरर के लिए भारतीय नियुक्त किए गए। सन् १९०८ में सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी खुदीराम बोस को फांसी दी गई।

२० अगस्त—सन् १९१७ को मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार भारत में लागू हुआ।

२१ अगस्त—सन् १९३३ को बिना किसी शर्त के महात्मा जी जेल से रिहा किये गए।

२२ अगस्त—सन् १८६९ को देश भक्त केशवचन्द्र सेन ने कलकत्ते में ब्राह्ममन्दिर की स्थापना की।

२३ अगस्त—सन् १८०९ को श्री रंगपट्टम में विद्रोह हुआ। सन् १९३३ को सत्याग्रह स्थगित किया गया।

२४ अगस्त—सन् १६९० को अंग्रेजों को भारत से बाहर निकाल देने की आज्ञा जारी की गई। सन् १८०४ को यशवन्त राव होल्कर ने अंग्रेज सेनापति को युद्ध में मार भगाया।

२५ अगस्त—सन् १४९८ में भारत में प्रथम योरोपीय वणिक वास्को डी गामा का पदार्पण और भारत की गुलामी की शुरुआत हुई। सन् १९४३ को नेता जी द्वारा आजाद हिन्द फौज का नेतृत्व प्रारंभ।

२६ अगस्त—सन् १७६६ को अंग्रेजों ने शुजाउद्दौलाको कर्नाटक का नवाब बनाया।

२७ अगस्त—सन् १९२१ को सर्व सम्मति से देशबन्धु चित्तरंजन दास गया में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के सभापति चुने गए।

२८ अगस्त—सन् १८३३ को भारत से व्यापार करने के लिए फ्री ट्रेड कानून पार्लमेंट में स्वीकृत और भारत के व्यापार का ह्रास प्रारंभ हुआ।

२९ अगस्त—सन् १९२१ को सूरत में म्युनिसिपल टैक्स न देने की घोषणा जनता की ओर से की गई।

३० अगस्त—सन् १८५८ को गदर के कारण भारत में काफी अन्धेर चलता रहा। सन् १९३० में मेरठ जेल में राजनीतिक बन्दियों का विद्रोह। सन् १९३१ को राष्ट्रध्वज दिवस।

३१ अगस्त—सन् १८८७ को कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के अध्यक्ष श्री सैयद हसन इमाम का जन्म दिवस।

काश्मीर की सैर

—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, बनारस

---

२४ मई को बनारस से प्रस्थान करते समय काश्मीर जाने का विचार स्वप्न में भी न था। हां, पृथ्वी के स्वर्ग कहे जाने वाले उस प्रदेश को जीवन में एक बार देखने की कामना अवश्य थी। और वह कामना गत जून में अचानक ही पूर्ण हो गई।

संघ की कार्य समिति की बैठक से निवृत्त होकर देहली से लौटने की सब तैयारी हो चुकी थी कि भाई राजकृष्ण जी ने रोक लिया और मूड़बिद्री से आने वाले सिद्धान्त ग्रन्थों की प्राचीन प्रतियों के दर्शन के लोभने मुझे भी देहली में ही रुक जाने के लिए प्रेरित किया।

देहली में मैं सिद्धान्त ग्रन्थों के शुभागमन की प्रतीक्षा में ठहरा हुआ था कि एक दिन मटन (काश्मीर) से पं० दरबारीलाल जी कोठिया का पत्र मिला कि यदि अवकाश हो तो आप भी काश्मीर चले आओ। मैंने भाई राजकृष्ण जी से चर्चा की तो उन्होंने भी प्रोत्साहन दिया। भाई हरिश्चन्द्र जी का कुटुम्ब काश्मीर की सैर के लिए गया हुआ था और वे स्वयं जाने वाले थे। अतः साथ भी बढ़िया था और खान-पान की कठिनाई का भी प्रश्न न था, फलतः जाने का निर्णय हो गया और हम लोग १५ जून को काश्मीर मेल से पठानकोट की ओर रवाना हो गए।

काश्मीर का मार्ग

भारत के विभाजन से पहले रावलपिण्डी होकर भी काश्मीर जाने का मार्ग था। वह मार्ग पाकिस्तान में चले जाने से भारत सरकार ने पठानकोट होकर नए मार्ग को चालू किया है। विभाजन से पहले अमृतसर से पठानकोट के लिए रेल पथ था। अब जालन्धर से एक नई रेल लाईन बिछाई गई है और काश्मीर मेल इसी लाईन से पठानकोट जाती है। १२-१३ घंटे में देहली से पठानकोट पहुंच जाते हैं। अर्थात् पहले दिन सन्ध्या को चलकर दूसरे दिन प्रातः काश्मीर मेल पठानकोट पहुंच जाती है।

पठानकोट में सरकारी बसें तैयार मिलती हैं और रेल से उतरते ही वे यात्रियों को लेकर श्रीनगर की ओर रवाना हो जाती हैं। रास्ते में जम्मू पड़ता है जो पठानकोट से करीब ६७ मील है और जम्मू से श्रीनगर दो सौ मील है।

किराये में रियायत

इस वर्ष भारत सरकार और काश्मीर सरकार ने यात्रियों को अधिक संख्या में आकृष्ट करने के लिए रेल और बसों के किराये में कुछ छूट दी है। देहली से तीसरे दर्जे का किराया इकतालीस रुपये कुछ आना हैं। यह किराया देहली से श्रीनगर तक जाने और श्रीनगर से देहली तक वापिस आने का है। यहां यह बतलाना अनुचित न होगा कि थर्ड-इन्टर या सेकिन्ड क्लास का अन्तर केवल रेल्वे तक ही सीमित है; बसों में यह अन्तर नहीं है। उक्त क्लासों से आने जाने वालों को प्रथम श्रेणी की बसें मिलती हैं, जो बहुत ही आराम देह हैं और यात्री इतनी लम्बी यात्रा सुखपूर्वक कर सकता है।

श्रीनगर की ओर

पठानकोट पहुँचते ही हम लोगों ने अपने २ टिकट दिखाकर सीटें रिजर्व कराईं और न्हा धोकर और भोजन से निश्चिन्त होकर सुबह के १० बजे के लगभग श्रीनगर की ओर रवाना हो गए। श्रीनगर का मार्ग जम्मू तक तो सीधा है और उतराई-चढ़ाई भी नहीं है। किन्तु जम्मू से आगे तो एकदम पहाड़ी मार्ग है; अतः यात्रियों को चक्कर आने और वमन होने का भय रहता है। इससे बहुत से यात्री यात्रा करने से पहले भरपेट भोजन नहीं करते।

पठानकोट में भी यद्यपि गर्मी थी किन्तु फिर भी मौसम सुहावना था और शीतल जल की बहार थी। पठानकोट से आगे बढ़ते ही मार्ग के दाहिनी ओर एक विशाल नहर बहती हुई मिलती है, जिसके दोनों ओर हरे भरे वृक्षों की बहार है। यह विशाल नहर रावी नदी से निकाली गई है। आगे बढ़ने पर बस रावी के पुल से पार होती है। पाकिस्तान के आक्रमण के समय हमारी सेना ने कुछ ही दिनों में इस पुल को तैयार किया था।

पासपोर्ट

पठानकोट से १२-१३ मील पर लखनपुर गाँव है। यहाँ काश्मीरी सरकार की ओर से पुलिस अधिकारी आने जाने वाले यात्रियों के पासपोर्ट (आज्ञापत्र)

की देखभाल करते हैं। बिना पासपोर्ट के न तो कोई व्यक्ति काश्मीर जा सकता है और न काश्मीर से आ सकता है। यात्रियों की भीड़ अधिक होने से कभी २ यहाँ बहुत समय लग जाता है फिर भी कर्मचारियों का व्यवहार अच्छा है और वे अनावश्यक विलम्ब नहीं लगाते।

जम्मू

लखनपुर से चलकर हम लोग करीब दोपहर के एक बजे जम्मू पहुँचे। जम्मू काश्मीर की शीतकालीन राजधानी है। मन्दिरों की बहुतायत है। गर्मी तेज थी और पानी सुलभ नहीं था। कुछ लोग गन्दे घड़ों में पानी लिए बैठे थे—परन्तु नलों में पानी नहीं था। बहुत दूर जाकर एक मन्दिर में गर्मपानी पीने को मिला।

जम्मू से आगे बढ़ने पर काश्मीर का पहाड़ी मार्ग प्रारम्भ हो जाता है और हरियाली के भी दर्शन होने लगते हैं। ज्यों ज्यों बस आगे बढ़ती जाती है त्यों त्यों हरीतिमा भी बढ़ती जाती है और हवा में सुखदता का अनुभव होता जाता है। नवागन्तुक यात्री बड़ी उत्सुकता से बाहर की ओर अपनी आँखें बिछायें हुए इस भूखण्ड का मन ही मन स्वागत करता जाता है। और मोटर नागन की तरह बल-खाती हुई कभी ऊपर से नीचे की ओर और कभी नीचे से ऊपर की ओर भागी जाती है। सन्ध्या होने से पूर्व एक बहुत ही मनोरम पथ आता है, जिसके नीचे बराबर बराबर वितस्ता (ब्यास) महानद कलकल करता हुआ उछलता कूदता चला जाता है। कहीं तो वह दो संकीर्ण पहाड़ियों के बीच में पड़कर एक शान्त नाले का रूप धारण करता है, मानों कोई नटखट बालक अपने अभिभावकों के बीच पड़कर शान्त बन गया हो। किन्तु संकीर्ण पथ के बीतते ही उसकी किलकारियां और उछलना कूदना पुनः प्रारम्भ हो जाता है। कई मील तक इसकी क्रीड़ाओं का आनन्द उठाते २ दर्शक उसमें इतना मग्न हो जाता है कि जब वह बिछुड़ने लगता है, तो उसे उसका वियोग खटके बिना नहीं रहता।

मार्ग संकीर्ण और कहीं २ विकट भी है और मोटर यातायात बहुत अधिक है। काश्मीर जाने का यही एक मार्ग होने से और यातायात का साधन केवल मोटरें होने से—मोटर ट्रकों की भी बहुतायत है जो भारत से खाने पीने का सामान और पेट्रोल वगैरह लेकर काश्मीर जाती हैं, तथा सैनिक यातायात भी कम नहीं है। फलतः मार्ग में ट्रकों और सैनिक बसों की मीलों लम्बी

कर्तार का मिल जाना साधारण बात है। ऐसी स्थिति में ड्राइवर को बड़ी सावधानी से अपना मार्ग बनाना पड़ता है और वह धीरे २ आगे बढ़ाता हुआ अवसर की खोज में रहता है और जैसे ही उसे स्थान मिलता है वह आगे बढ़ता जाता है।

सन्ध्या के समय हमारी बस ऊधम पुर पहुँची। यहां का जलवायु बहुत उत्तम है। यहां एक पहाड़ी झरना है, पानी बहुत ही ठंडा और मीठा है। सेना के लिए भी इसी से पानी भर कर जाता है। बहुत से लोग यहां भी जलवायु सेवन करने के लिए आते हैं। हम लोगों ने यहाँ सन्ध्या का भोजन किया और यहाँ से चलकर रात्रि के ९ बजे बनिहाल पहुंच कर रात्री व्यतीत की। यहाँ एक बाजार और होटल भी है। कुछ व्यक्तिगत निवास स्थान भी हैं। २॥) में रात भर के लिए एक कोठरी में विश्राम किया। यहां सर्दी थी और रात्री को गद्दा बिछाकर रजाई ओढ़नी पड़ी। कहां देहली की आग बरसाने वाली गर्मी और कहाँ यह गुलाबी जाड़ा। एक ही दिन में हम ज्येष्ठ से मार्गशीर्ष में आ पहुँचे।

—क्रमशः

साहित्य-स्वीकार

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामन्डी, आगरा—

प्रतियाँ	पुस्तक	मूल्य	लेखक
२	जीवन-दर्शन	४)	—कविवर श्री अमरचन्द जी महाराज
२	सत्य-दर्शन	२॥)	—,, ,,
२	सन्मति महावीर	१।)	—श्री सुरेशमुनि जी महाराज

सोहनलाल जुगल किशोर जैन, तालाब मन्डी, लुधियाना—

२ हम सुशील कैसे बनें ? ।)—श्री त्रिलोकचन्द जी महाराज

२-८-५४ जैन शास्त्र माला कार्यालय, जैन स्थानक, लुधियाना—

१ श्री विपाकसूत्र (विस्तृत हिन्दी टीका सहित) ६)—श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
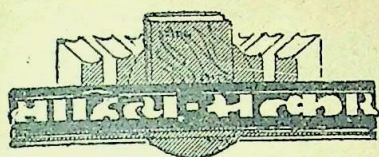
जैनदृष्टिए योग

लेखक—स्व० श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया। प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय, गोवालिया टैंक रोड, बंबई २६। आवृत्ति दूसरी, मूल्य २॥)

श्री मोतीचन्द भाई के नाम से जैन समाज अपरिचित नहीं। विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहते हुए भी उन्होंने जो लेखन कार्य किया है वह संभव नहीं था, यदि उन्होंने थोड़ा भी योग का अभ्यास न किया होता। उन्होंने श्री मद् आनन्दघन जी के पदों का विवेचन लिखा था। उसी विवेचन के प्रवेशक रूप से यह पुस्तक लिखी गई है।

'योग' शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करके आचार्य हरिभद्र के योगदृष्टि समुच्चय के आधार पर आठ दृष्टियों का सुन्दर विवेचन किया है। और उसके बाद अध्यात्मयोग आदि विविध योगों का तथा योग के यम आदि समाधिपर्यन्त आठ अंगों का सुविशद विवेचन किया है। इसमें खासकर आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र, आ० शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव और उपा० यशोविजय जी की द्वात्रिंशिकाओं का उपयोग किया है। आत्मा की उत्क्रान्ति क्रमशः किस प्रकार होती है उसका विशद विवेचन इस छोटे से ग्रन्थ में लेखक ने किया है। पुस्तक गुजराती भाषा में है। आत्मोन्नति के मार्ग के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी है।

—दलसुख मालवणिया

धर्मशर्माभ्युदय

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, बनारस। सुन्दर पक्की जिल्द, पृ० २५७। मूल्य ३) रु०

सुरुचि पूर्ण प्रकाशनों के लिए बनारस का 'भारतीय ज्ञान पीठ' अपना स्थान रखता है। इसके प्रकाशनों की छपाई, सफाई और सुन्दरता एक बार अपनी ओर खींच ही लेती है। सांस्कृतिक प्रकाशनों के साथ सर्व साधारण की रुचि के सुन्दर सुन्दर प्रकाशन भी निकलते रहते हैं। ज्ञानपीठ के प्रकाशनों की सर्वप्रियता का यही कुछ रहस्य है।

इसी ज्ञानपीठ की ओर से प्रकाशित महाकवि हरिचन्द रचित 'धर्मशर्माभ्युदय' का सुवाच्य हिन्दी अनुवाद हमारे सामने है। अनुवादक हैं—साहित्याचार्य पं० पन्नालाल जैन। इस महाकाव्य के २१ सर्ग हैं। जिनमें १५ वें तीर्थंकर धर्मनाथ का पवित्र चरित्र चित्रण किया गया है। हिन्दी अनुवाद काव्य की अनुरूप भाषा में ही हुआ है। जिससे पाठकों को केवल अनुवाद में भी काव्य का रसास्वाद हो आता है। पुस्तक सुन्दर और पढ़ने योग्य है।

—कृष्णचन्द्राचार्य।

द्विवेदी-पत्रावली

श्री बैजनाथ सिंह विनोद; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ २२८, सुन्दर पक्की जिल्द, मूल्य २॥)

प्रस्तुत प्रकाशन द्वारा भारतीय ज्ञानपीठ ने हिन्दी साहित्य के एक ऐसे अंग की कमी की पूर्ति की है, जो अब तक बहुत कुछ अधूरा ही रहा है। हिन्दी में संस्मरण और पत्र साहित्य नाममात्र को ही है। संस्मरण-साहित्य की ओर तो पिछले दो-तीन वर्षों में कुछ ध्यान दिया भी गया है पर पत्र-साहित्य की ओर से प्रकाशक (और लेखक भी) उदासीन जान पड़ते हैं।

विनोद जी ने द्विवेदी-पत्रावली के संकलन करने और ज्ञानपीठ ने उसे प्रकाशित करने में जो परिश्रम किया है और उत्साह दिखलाया है, वह स्तुत्य है। विश्वास है कि दोनों का ही यह प्रयत्न फलवान सिद्ध होगा।

द्विवेदी-पत्रावली में हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग के द्विवेदी-काल के पिता आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के कुछ पत्रों का संकलन है। 'कुछ' इसलिए कि ९ अध्यायों में ९ प्रमुख व्यक्तियों, एवं एक स्वतंत्र अध्याय में कुछ अन्य व्यक्तियों के पत्रों का संग्रह है। यद्यपि 'पत्रावली' में द्विवेदी जी के लिखे सभी पत्र नहीं आ सके हैं, फिर भी जितने पत्र इसमें संगृहीत किये गए हैं, वे सभी स्थायी महत्व के हैं। हिन्दी साहित्य पर शीघ्र कार्य करने वालों और हिन्दी प्रेमियों के लिए भी वे संग्रहणीय हैं। इन पत्रों से द्विवेदी जी की विचार धारा को समझने में भी काफी सहायता मिलेगी। आशा है 'विनोद' जी द्विवेदी जी के अन्य पत्रों का संग्रह भी इसी उत्साह से शीघ्र ही करेंगे और ज्ञानपीठ भी उसे जनसाधारण तक पहुंचाने में पीछे नहीं हटेगा।

—महेन्द्र 'राजा'
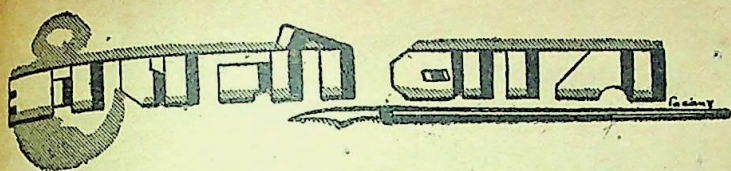
स्वतंत्रता की सातवीं वर्षगांठ

हमारे देश का मुक्ति पर्व दिवस १५ अगस्त को इस वर्ष फिर आ गया। इन सात सालों में देश को बड़ी विकट घाटियाँ पार करनी पड़ी हैं। भारत के बंटवारे से जो समस्याएँ पैदा हुई थीं, वे किसी हदतक काश्मीर और नहरों के पानी के रूप में आज भी परेशान कर रही हैं। सबसे भयंकर खाद्य समस्या को देश ने काफी अच्छे ढंग से हल कर लिया है। शुरू में कुछ वर्षों तक खाद्य के लिए जो करोड़ों रुपया बाहर चला जा रहा था, उससे देश बच सा गया है। यही बची शक्ति अब उन्नति में लग सकेगी। भारत का सबसे बड़ा सौभाग्य यह है कि उसे गाँधी जी के बाद जवाहरलाल जैसा समर्थ और प्रभावशाली नेता मिला है। एक इसी बात से देश नई से नई पैदा होने वाली बहुत सी समस्याओं से बच गया है। सुलझे हुए नेतृत्व का ही यह फल है कि देश हर क्षेत्र में आगे बढ़ रहा है। इसकी अहिंसा और शान्ति की नीति बल पकड़ती जा रही है। जो देश पहले सशंक थे, वे भी आज भारत की बात सुनने को तैयार दिखते हैं। इससे भारत की प्रतिष्ठा विश्व में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। यह बात भारत के घरेलू मामलों के लिए तो हितकर है ही; विश्व के कल्याण में भी इसका सदुपयोग होगा। भारत एक दिन विश्व की जटिल से जटिल गुत्थियों को सुलझाने में सहायक बन सकेगा, इसका यह सबसे बड़ा शुभ परिणाम होगा।

यह सब कुछ होते हुए भी कुछ घरेलू प्रश्न ऐसे हैं, जिनपर अभी तक भी भारत काबू नहीं पा सका। सबसे मुख्य प्रश्न है—गरीबी का। स्वतंत्रता के सात साल पूरे हो जाने के बाद भी देश में करोड़ों प्राणी ऐसे हैं, जिनको भरपेट खाना और तन ढकने के लिए कपड़ा नहीं मिल रहा है। देश के लिए यह कम लज्जा की बात नहीं है। इन बातों को देख कर दिल में आता है कि क्या देश अब भी स्वतंत्र नहीं हुआ? किसी भी देश के स्वतंत्र होने की यह पहली पहचान है कि सब यह अनुभव करने लगें कि पहले से कुछ अन्तर पड़ा है। गरीबी कम हुई है। साधारण जनता की स्थिति सुधरी है। आज भी हम ऐसा नहीं देख रहे हैं। स्वतंत्रता का मधुर फल कुछ ही लोग चख सके हैं। लोग कहते हैं कि पहले अंगरेज थे, जो गरीबों का हिस्सा छीन लेते थे, अब

हमारे भाई हैं। अन्तर कुछ भी नहीं। जनता की यह शिकायत झूठी नहीं है। वह सच कहती है। देश के तपे हुए सेवक भी आज बटोरने में लगे हुए हैं। यह स्थिति बड़ी ही भयंकर है।

देश के सामने दूसरी समस्या शिक्षा की है। वह भी हल नहीं हो रही है। आज भी स्कूलों और कालेजों का वही ढाँचा है, जो गुलामी के युग में था। इस क्षेत्र में देश ने कोई क्रांति का क़दम नहीं उठाया। हालांकि जो शिक्षा क्लर्क पैदा करने के लिए ही चालू की गई थी वह सबसे पहले बदल जानी चाहिए थी। गुलामी के समय की गली-सड़ी शिक्षा की ही यह देन है कि आज पढ़े लिखे बेकार घूम रहे हैं। पचीस-तीस की नौकरी के लिए बी० ए०, एम० ए० तक टूट कर पड़ते हैं। एक तरफ हमारे राष्ट्रनेता देश की रचना के लिए इंजिनियरों और ओवरसियरों की माँग कर रहे हैं। दूसरी तरफ पढ़े लिखों को कहीं काम नहीं मिलता है। यह अजीब स्थिति है हमारे देशकी। हमारे विचार से इन पढ़े लिखों के लिए ६ मास या १ साल के लिए ट्रेनिंग कोर्स चलाए जाएँ जिससे वे ट्रेनिंग पाकर बहुत जल्द रचना के कामों में लग सकें। हमारा आशय ऐसे स्कूलों से हैं, जहाँ पढ़े लिखों को टेकनिकल शिक्षण दे कर बहुत जल्द काम के लिए तैयार किया जा सके। इससे पढ़े लिखों की बेकारी कम होगी, और रचना के काम बढ़ जाने से अनपढ़ों को भी काम मिल सकेगा। इस तरह से विश्व की समस्याओं की चिन्ता करते रहने के साथ आज देश को घरेलू समस्यों को भी हल करना है। हम समझते हैं १५ अगस्त के मुक्ति पर्व दिवस का आज की स्थिति में यह सबसे बड़ा संदेश हो सकता है।

कालकाचार्य

'श्रमण' के इसी अंक में हम हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक श्री इलाचन्द्र जोशी का लिखा हुआ "जैन इतिहास के भाग्य पुरुष—कालकाचार्य" का ऐतिहासिक कथानक दे रहे हैं। यह कथानक दिलचस्प तो है ही, साथ में इतिहास के तथ्यों को भी लिये हुए है। कथानक इतने अच्छे ढंग से लिखा गया है कि कालकाचार्य को देशद्रोही कहने वाले सज्जनों की भ्रान्तियाँ अपने आप दूर हो सकेंगी। वस्तुस्थिति पर प्रकाश डालने वाला एक लेख 'श्रमण' के वर्ष २, अंक १, पृष्ठ ३९ पर श्री पृथ्वीराज जैन का छपा था। वह लेख आज भी फिर से पढ़ने योग्य है।

—कृष्णचन्द्राचार्य

विद्याश्रम-समाचार

समिति की बैठक

श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति की वार्षिक बैठक ता० २२ अगस्त १९५४ रविवार को अमृतसर में हो रही है। समिति का प्रधान कार्यक्षेत्र बनारस में श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम है। जिसकी ओर से लायब्रेरी, जैन दर्शन के लिए छात्रवृत्तियाँ, जैन दर्शन में शोध कार्य के लिए फैलोशिप्स और मासिक पत्र 'श्रमण' आदि प्रवृत्तियाँ तो पहले से चल रही हैं। गत वर्ष से 'जैन साहित्य निर्माण योजना' का कार्य विद्याश्रम ने अपने हाथ में लिया है। उक्त योजना के अन्तर्गत सबसे पहले 'जैन साहित्य का इतिहास' के लेखन का कार्य शुरू हो गया है। जिसकी विशद रूपरेखा 'श्रमण' में निकल चुकी है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम की प्रवृत्तियों का ठीक विकास हो सके, इसके लिए विस्तृत भूमि की आवश्यकता समिति वर्षों से अनुभव कर रही थी। दो साल हुए उत्तर प्रदेश सरकार के द्वारा जमीन प्राप्त करने के लिए प्रार्थनापत्र दिया था। पचीस हजार रुपया सरकारी खजाने में जमा करा दिया था। सरकार की ओर से सब विधि विधानों के बाद अब ता० १९ जून के सरकारी गजट में जमीन प्राप्त कर लेने की घोषणा हो, चुकी है। आशा है अब एक दो मास में ही करीब ६ बीघा जमीन का कब्जा समिति को मिल जाएगा। जिससे विद्याश्रम के विकास में बड़ी सहायता पहुँचेगी। बनारस में विद्याश्रम की प्रवृत्तियों की वृद्धि के साथ साथ समिति और जैन समाज की जिम्मेवारियाँ भी बढ़ती जा रही हैं। हमें विश्वास है कि समिति के माननीय सभी सदस्य दुगुने उत्साह से समिति के सभी कार्यों में भाग लेंगे और समाज भी सहयोग देने के लिए तैयार रहेगा। आज समूचे जैन समाज में श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम ही संभवतः एक ऐसी संस्था है, जो जैन धर्म और जैन समाज की मौलिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है। समिति के सदस्यों से हमारा विशेष अनुरोध है कि वे समिति की उक्त मीटिंग के अवसर पर उपस्थित होकर या अपनी सूचनाएँ भेज कर कार्यकर्ताओं का उत्साह बढ़ाएँ।

जैन साहित्य-निर्माण-योजना

इस योजना के अन्तर्गत 'साहित्य का इतिहास' सर्व प्रथम प्रकाशित होने वाला है। यह बहुत प्रसन्नता की बात है कि इस ग्रन्थ का लेखन कार्य प्रारम्भ हो गया है। अपने अपने विभाग के विद्वान सम्पादक इस कार्य को शीघ्र ही मूर्तरूप देने के लिए उत्सुक हैं। वे किसी भी भांति इस कार्य को निश्चित अवधि अर्थात् दिसम्बर १९५५ तक इसका लेखन-कार्य पूर्ण कर देना चाहते हैं। लेखकों की भी यही भावना है। इस कार्य को और अधिक वेग मिले, इस दृष्टि से जैन साहित्य-निर्माण-योजना-समिति की सिफारिश पर श्री सोहन लाल जैन धर्म प्रचारक समिति के मानद मंत्री ने श्री मोहनलाल मेहता एम. ए. की इस कार्य की व्यवस्था करने के हेतु इसी जुलाई मास से नियुक्ति कर दी है और श्री मेहता ने अपना कार्यभार संभाल लिया है। वे इस समय कार्यालय की व्यवस्था करने के अलावा निर्युक्तियों का इतिहास एवं परिचय लिख रहे हैं, और समस्त प्रकाशित तथा अप्रकाशित जैन ग्रन्थों की विषयानुसार एक सूची बना रहे हैं, जिससे जैन साहित्य के इतिहास के लेखन, शोधन, संपादन आदि कार्यों में बहुत सहायता मिलेगी। यह सूची लगभग दस हजार ग्रन्थों की होगी। जिसमें ग्रन्थ के लेखक, समय, प्रकाशक, संस्करण, टीका, स्थल आदि सभी बातों का परिचय रहेगा। इसकी तैयारी में काफी समय लगने की संभावना है, फिर भी प्रयत्न यही रहेगा कि यह कार्य शीघ्र ही पूरा हो जाय। जिससे जैन साहित्य के इतिहास के लेखन आदि में सहायता मिल सके।

परीक्षा परिणाम

इस वर्ष श्री मोहन लाल मेहता एम० ए० जैन शास्त्राचार्य ने पी० एच० डी० के लिए अपना महानिबन्ध तैयार कर लिया है। श्री महेन्द्र राजा ने अपभ्रंश लेकर हिन्दी में द्वितीय श्रेणी में एम० ए० पास किया है। श्री सूर्यनारायण उपाध्याय और श्री दुलीचन्द जैन ने जैन दर्शनाचार्य के प्रथम खण्ड में सफलता प्राप्त की है और अब द्वितीय खण्ड की पढ़ाई कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त नीचे लिखे विद्यार्थियों ने जैन दर्शनशास्त्री के विविध खण्ड पास किए हैं:—

श्री श्रीनन्दन जैन और भिक्षु शीलाचार ने जैन दर्शन शास्त्री का अन्तिम खण्ड, श्री बिहारीलाल जैन ने—द्वितीय खण्ड तथा श्री नन्दकिशोर और श्री मोहनलाल जैन ने—प्रथम खण्ड।

—अधिष्ठाता

श्रमण

सम्पादक	अंक
पं० कृष्णचन्द्राचार्य	११

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

इस अंक में—

क्षमापणा

इस वर्ष विक्रम २०११ भाद्रपद शुक्ला ऋषिपंचमी गुरुवार तदनुसार सन् १९५४ सितम्बर २ की शाम को सांवत्सरिक प्रतिक्रमण बाद—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई॥

इस पवित्र पाठ के द्वारा प्राणीमात्र से क्षमापणा (क्षमायाचना) की गई। इसी सांवत्सरिक महापर्व के अवसर पर हम अपने श्रमण के पाठकों से विशेषरूप से क्षमा चाहते हैं। संभव है हमारी किसी त्रुटि के कारण उन्हें कष्ट पहुंचा हो। आशा है श्रमण के प्रेमी पाठक उदार हृदय से क्षमाप्रदान करेंगे। और श्रमण जैसे सांस्कृतिक पत्र के प्रचार में सहायक बनेंगे। हम चाहते हैं, यह पत्र समूचे जैन समाज और जैनधर्म का प्रतिनिधि बन कर रहे। इसके लिए श्रमण के प्रेमी पाठकों और लेखकों के सहयोग की बड़ी आवश्यकता है।

निवेदक,
व्यवस्थापक, 'श्रमण'

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—कृष्णचन्द्राचार्य,
अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ५ | सितम्बर १९५४ | अंक ११

वीरत्थुई—वीरस्तुति

—गतांक से आगे—

गिरिवरे वा निसहायताणं, रुयए व सेट्ठे वलयायताणं ।
तओवमे से जगभूइपन्ने, मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥१५॥
अणुत्तरं धम्ममुदीरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाई ।
सुसुक्क-सुक्कं अपगंड-सुक्कं, संखिंदु-एगंत-वदातसुक्कं ॥१६॥

—जैसे लंबे पर्वतों में गिरिवर—गिरिराज निषध लंबाई में और गोल पर्वतों में रुचक पर्वत गोलाई में बढ़ कर हैं। वैसे ही जगद्-भूतिप्रज्ञ—जगत् के कल्याण की बुद्धि रखने वाले भगवान् महावीर को भी प्राज्ञ—विद्वान लोग मुनियों के बीच सर्व श्रेष्ठ कहते हैं।

—वे भगवान् अनुत्तर धर्म का उपदेश करने के बाद शंख और चन्द्रमा की तरह एकान्त स्वच्छ और शुभ्र अपगंड—सर्वथा निष्कलंक ऐसे परम शुक्ल ध्यान में लीन हो जाते थे।१५-१६।

अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गते सादिमणंतपत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥१७॥
रुक्खेसु णाए जह सामली वा, जस्सिं रतिं वेदयती सुवण्णा ।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं, नाणेण सीलेण य भूइपन्ने ॥१८॥

—वे महर्षि भगवान् ज्ञान, चारित्र और दर्शन के द्वारा सारे कर्मों को हटाकर अनुत्तर और अग्र्य—लोक के अग्र भाग में सादि-अनन्त—जिसकी आदि—प्रारंभ होने पर भी अन्त नहीं है—ऐसी परम सिद्धि—मोक्ष को प्राप्त हुए।

—जैसे वृक्षों में शाल्मली—सेमल (सिंबल) वृक्ष ज्ञात—प्रसिद्ध है, वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ है, क्योंकि दोनों जगह सुपर्ण नाम के भवनवासी देवगण आकर आनन्द का अनुभव करते हैं। इसी तरह भगवान महावीर भी ज्ञान और चारित्र के द्वारा भूतिप्रज्ञ—लोकका कल्याण व मंगल करने वाले थे।१७—१८।

थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ, चंदो व ताराण महाणुभावे।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥१९॥
जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे।
खोओदए वा रसवेजयंते, तवोवहाणे मुणि वेजयन्ते ॥२०॥

—जैसे शब्दों में मेघ का गर्जन अनुत्तर है, तारागणों में चन्द्रमा महानुभाव है, सुगंधों में चन्दन की श्रेष्ठता है, वैसे ही अप्रतिज्ञ—सब कामनाओं से रहित भगवान महावीर को भी मुनियों में सर्व श्रेष्ठ कहा है।

—जैसे समुद्रों में स्वयंभूरमण श्रेष्ठ है, नागकुमार भवनवासी देवों में धरणेन्द्र को श्रेष्ठ कहा है, जैसे सब रसों में इक्षुरस वैजयन्त—सब का शिरोमणि है, वैसे ही मुनि—भगवान महावीर भी उपधान तप से—विशिष्ट तपस्या करके वैजयन्त—विजयशील थे। १९-२०।

हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे, णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥२१॥
जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविन्दमाहु।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥२२॥

—जैसे हाथियों में इन्द्र का ऐरावत हाथी, मृगों में केसरी सिंह, जलाशयों में गंगा महानदी, पक्षियोंमें वेणुदेव नाम का गरुड पक्षी ज्ञात—प्रसिद्ध हैं, वैसे ही निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र—भगवान महावीर भी सब के अग्रणी थे।

—जैसे योद्धाओं में विष्वक्सेन—वासुदेव प्रसिद्ध थे। फूलों में अरविन्द—सहस्रदल वाला श्वेत कमल सुगंधित होता है। क्षत्रियों में दान्तवाक्य—चक्रवर्ती श्रेष्ठ कहलाता है। वैसे ही वर्धमान महावीर भी ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ थे। २१-२२।

—क्रमशः

उपशमन का आध्यात्मिक पर्व

प्रो० दलसुख मालवणिया

पर्युषण के लिए प्राकृत शब्द है पज्जुसणा या पज्जोसवणा। इसका यथार्थ संस्कृत शब्द पर्युपशमन होना चाहिए। इसे पं० बेचरदास जी ने भाषाशास्त्र और आगमशास्त्र के आधार से सिद्ध किया है। यह ठीक ही है। इस पर्व की यदि कोई विशेषता है तो यही कि कषायों का शमन किया जाय। शास्त्र और अनुभव इस बात के साक्षी हैं कि मनुष्य या जीव का जीवन जितने प्रमाण में सामाजिक बनता है उतने प्रमाण में कषायों की वृद्धि को अवकाश मिलता है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि जीवन की सामाजिकता से कषाय वृद्धिगत होते ही हैं। तात्पर्य इतना ही है कि सामाजिकता में संघर्ष को अवकाश है, अतएव कषायवृद्धि को अवकाश है। जीवन सामाजिक हो किन्तु संघर्ष के स्थान में समन्वय हो तो कषायवृद्धि के स्थान में कषायहानि भी होती है। इसी सत्य का साक्षात्कार भगवान महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पहले किया था; अतएव उन्होंने तीर्थ या संघ रूप में एक नए प्रकार के समाज की स्थापना की थी, जिससे लोगों ने उनको तीर्थंकर की पदवी प्रदान की थी।

उनके समय में वैदिक धर्मशास्त्र के अनुसार जो समाज रचना थी वह चतुर्वर्ण मूलक थी। मूलतः ये वर्ण जन्मतः नहीं माने जाते थे किन्तु गुण-कर्मानुसार थे। किन्तु भगवान महावीर के समय में आकर वह व्यवस्था जन्ममूलक हो चुकी थी। साथ ही वह इतनी दृढमूल हो चुकी थी कि उसमें परिवर्तन लाना संभव नहीं रह गया था। यही कारण है भगवान महावीर को एक नए धार्मिक समाज की रचना करनी पड़ी। वस्तुतः देखा जाय तो धार्मिक दृष्टि से महाव्रती साधु और अणुव्रती श्रावक ये ही दो घटक धार्मिक समाज के होने चाहिए थे। किन्तु उधर उनके सामने चतुर्वर्ण समाज थी। जिससे उन्होंने भी चतुर्वर्ण संघकी रचना की। जाति की दृष्टि से मनुष्यों की एकता है। इसलिए उनमें जातिगत ब्राह्मण, क्षत्रियादि भेद करना असंगत है, यह तो उन्होंने स्पष्ट देख लिया था। किन्तु भेद करना ही हो तो स्त्री पुरुष की दृष्टि से किया जा सकता है, अतएव उनके संघ में साधु-साध्वी,

श्रावक श्राविका ये चार वर्ण निश्चित हुए ऐसा प्रतीत होता है। यही दृष्टि भगवान बुद्ध की भी थी, यही कारण है कि दोनों श्रमण संघों में श्रमणी का स्थान श्रमण की अपेक्षा से नीचा ही माना गया है। बौद्धों के मत से स्त्री के बुद्धत्व की प्राप्ति में विवाद है और जैनों में भी स्त्री के तीर्थंकरत्व की प्राप्ति में आगे चलकर विवाद हो गया है।

इस प्रकार के धार्मिक संघ के अनुकूल पर्वों की रचना करना भी आवश्यक था। यही कारण है कि जैनों के पर्व वैदिकों की अपेक्षा भिन्न प्रकार के मिलते हैं। और लौकिक पर्व की अपेक्षा आध्यात्मिक पर्व का ही जैन समाज में महत्त्व है। उन आध्यात्मिक पर्वों में भी पर्युषण पर्व का सर्वाधिक महत्त्व होने से वह पर्वाधिराज कहलाता है।

कषायविजय के ध्येय को लेकर समस्त जैन संघका प्रस्थान है। और वार्षिक पर्युषण पर्व की योजना उस विजय यात्रा के पर्यवेक्षण और प्रमार्जन के लिए की गई है। कषायविजय का मार्ग सरल नहीं। प्रत्येक क्षण में साधक को जागृत रहना पड़ता है किन्तु जीवन में प्रमाद भी है। अतएव प्रमाद के क्षणों में पतन होना अनिवार्य है। ऐसे पतन का पर्यवेक्षण और प्रमार्जन जरूरी है, अन्यथा विजय संदिग्ध हो जाती है। वस्तुतः कषाय का प्रमार्जन तत्क्षण हो जाना जरूरी है किन्तु यह वास्तविक जीवन में होता नहीं। यही कारण है कि भगवान महावीर ने प्रतिदिन के प्रतिक्रमण की योजना साधक जीवन में की है। किन्तु प्रतिदिन का वह कृत्य यांत्रिक हो जाना संभव है। पर्व के नाम पर समस्त समाज में विशेष प्रकार का उत्साह और उमंग होता है। अतएव वार्षिक पर्व के अवसर पर जीवन की यांत्रिकता से ऊपर उठ कर अपनी छोटी-मोटी त्रुटियों का पर्यवेक्षण और प्रमार्जन हो इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति तत्पर हो जाता है। मानस शास्त्र की दृष्टि से सोचा जाय तो कषायोद्रेक का शमन तत्कालिक नहीं किन्तु समय की अवधि देकर करना सहज होता है। प्रतिदिन के प्रतिक्रमण में कषायोद्रेक के प्रसंग ताजे रहते हैं। वैर-प्रतिवैर के घाव ताजे होते हैं। प्रयत्न करके भी शमन किया जाय तब भी दोनों पक्ष समानरूप से शमन करने की भूमिका में हों यह कम संभव होता है। किन्तु समय बीतने पर कषायोद्रेक मंद हो जाता है। वैर-प्रतिवैर के घाव भी भर जाने की अवस्था में होते हैं। ऐसे समय में पर्व आ जाय और समस्त समाज में कषायोपशमन की नई लहर दौड़ जाय इसका

अधिक संभव है। अतएव ऐसे पर्वों के अवसर पर पुराना वैरभाव निर्मूल न हो, तो भी मंद तो हो ही सकता है। यही विशेषता पर्युषण पर्व की है।

इस पर्व का महत्त्व हमारे छोटे दायरे के लिए ही नहीं किन्तु समस्त समाज और राष्ट्र के जीवन के लिए भी है। कषायोद्रेक सिर्फ व्यक्तिगत हो यह बात नहीं। समाज और राष्ट्र के जीवन में भी वैर-प्रतिवैर की प्रबल भावना देखी जाती है। दोनों देशों के कुछ व्यक्तियों में मित्रता होने पर भी जब दो राष्ट्रों में किसी कारण से मनमुटाव हो जाता है तब एक देश के व्यक्तियों का दूसरे देश के व्यक्तियों से द्वेष होना स्वाभाविक हो जाता है। राजनैतिक लोग पार्टीबन्दी करके लड़ें इतना ही तो नहीं होता। एक देश की सारी शक्ति दूसरे देश को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए लग जाती है। दोनों की सेनाएं वहां के निवासियों की ओर से लड़ती हैं। और अपने को ही नहीं किन्तु दोनों देशों को नष्ट कर डालती हैं। परिणामतः राष्ट्र के जीवन में भी कषायोद्रेक और वैर-प्रतिवैर की भावना उत्पन्न और पुष्ट होती रहती है। इसीलिए वैयक्तिक जीवन की तरह राष्ट्र के जीवन के लिए भी ऐसे पर्वाधिराज की आवश्यकता है। इसी दृष्टि से इस पर्व के दिन की यह भावना है कि :—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई॥

इस दिन हम अपने आसपास के परिचितों के साथ ही मैत्री भावना पुष्ट नहीं करते परन्तु जाने-अनजाने अपरिचितों से जो वैर हो गया होता है उसका भी निवारण करना इस दिन का परम कर्तव्य है। यही इस पर्व की राष्ट्र के लिए भी सार्थकता है।

सनातन धर्म

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचन।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥

वैर करने से वैर कभी शान्त नहीं होते। अवैर—मित्रता करने से ही वैर शान्त होते हैं। यही सदा का नियम है।

—महात्मा बुद्ध

छ....ल....ना

–मुनि श्री कीर्तिचन्द्र जी 'यश'

आज एक पथिक,
उपस्थित था समुद्र के तीर पर।
आस-पास, चहुँओर,
मनोहारी दृश्य था,
शस्य और श्यामला
सुन्दर वसुमति,
आच्छादित थी-हरी-हरी
मखमल की चाँदनी सी।
औ' सन्मुख उदधि था,
जिसमें अपार जलराशि,
दृष्टि से अगोचर,
दूर अति दूर तक थी विस्तृत।
क्षितिज, व्योम का छोर यह
मानो निमग्न हो,
इस जलधि में ही,
समय था सायंकाल,
संध्या रानी भी
होकर प्रमुदित,
पहन रक्ताभ वस्त्र,
मानो कर रही थी स्वागत,
निज प्राणनाथ दिवानाथ का।
औ' दिनकर देव भी
कर निज लीला को संवरण,
संध्या प्रिया के साथ,
श्वेत हो, पीत हो, अन्त में रक्त हो,
जा रहे थे उदधि में, शयनार्थ।

किन्तु–
पथिक निराश सा, खड़ा हुआ
तीर पर समुद्र के–
सोच रहा;
ओह ·······?
अब मैं क्या करूँ?····?
कैसे औ' कहाँ जाऊँ!····?
अभी तो-
लक्ष्य है, साध्य है,
मम अति दूर ही;
क्षितिज के उस पार,
औ' पार इस उदधि के,
पहुँच मैं सकूँगा कैसे
निज गन्तव्य पर।
पार यह, कर मैं सकूँगा उदधि
कैसे!

अरे ····?
साधन भी प्रस्तुत नहीं,
कोई साथ में।
परन्तु फिर भी,
धार कर साहस औ'
ग्रहण कर दृढ़ता,
आस-पास देखा,
ढूँढा और खोजा,
तो पाई एक,
छोटी सी, जीर्ण शीर्ण,

तावड़ी पड़ी हुई।
सोचा–
अपार जलराशि यह,
औ' साधन है अति तुच्छ,
महान उदधि यह,
छोटी से डोंगी से,
टूटी-फूटी नाव से,
पार होना शक्य है ?
खड़ा था पथिक ऐसे,
सोच में, विचार में,
होकर उन्मना, उदास सा।
सहसा तभी समीप से,
'आई प्रिय, आती हूं मैं शीघ्र ही'
ऐसा अति ही मृदुल,
मिश्री सी घोलता,
नारी का, कोमल कण्ठ स्वर,
पथिक ने किया श्रवण।
और-
देखा जो, पार्श्व में, दृष्टि डाल,
रह गया, आश्चर्य से, चकित वह
देवांगना सी, रूपसी,
मानो विधाता ने,
विश्व का सौंदर्य सब,
ला किया एकत्र यहीं।
या कवि की कल्पना का,
मानो साकार रूप,
नारी एक,
खड़ी हुई पार्श्व में।
देखते ही, बोली वह, पथिक से,
प्रिय–
आप क्यों ऐसे घबराये हो ?
पार ही तो होना है आपको··।

तो बस,
बैठिएगा नाव पर.
औ' दीजिए यह डाँड मुझे,
पतवार मुझे,
देखिए फिर दासी की करामात,
पहुँचा यह देगी,
उदधि के पार तुम्हें,
एक क्षण में,
पल में,
मिनिट में,
चुटकी बजाते ही।
अब तो,
पथिक था नाव पर,
औ' वह देवांगना,
निज कर पल्लवों से,
खेती जाती नाव थी !
पहुँच चुके अब तो,
मध्य में समुद्र के,
पथिक था अब,
हर्ष से उन्मत्त,
उल्लसित,
कर रहा दृष्टि से ही–
रूपसी के,
सौन्दर्य का पान वह !
इधर जब इस बाला ने भी,
देखा जो पथिक को,
मद भरे चक्षुओं से,
तब तो पथिक की.
परिस्थिति ही और थी !
होते ही चार नेत्र,
रूपसी तो,
भार से लज्जा के, रक्ताभ हो;

मंद मंद मुस्करा,
हो गई नतमुख।
पड़ते ही मोहिनी के,
पथिक से न रहा गया
शीघ्र ही,
उठा, वह, निज स्थान से,
बाला को आलिंगनार्थ,
करने को पाशबद्ध,
उसे निज बाहुओं में ·· ?
पर–
अरे ········· ?
अचानक यह क्या हुआ ·· ?
कहां गई सुन्दरी ?
स्वप्नों की रानी वह;
और अब,
डांड भी तो वह गया समुद्र में;

रह गया, आधारहीन,
मार्ग से अनभिज्ञ,
पथिक यह।
लौट भी न जा सके,
वापिस यह तीर पर।
एक दम-
दुःखित हो
पंखकटे पक्षी सा,
गिर पड़ा मूर्छा खा,
नाव पर,
कर उठा आर्तनाद !
पयोधि की,
ऊर्मियों से–
उसका अस्फुट स्वर,
ओ ····· ह ····· ?
छ ··· ल ····· ना !

महिलाएँ सोचे और समझें !

रोम में सेण्टपीटर्स गिरजे के क्षेत्र में भ्रमणार्थ आने वाली उन महिलाओं को रोकने के लिए फाटक पर कुछ सिपाही तैनात किए गए जो भाँत-भाँत के अंग प्रदर्शक कपड़े पहन कर आती हैं। गिरजे का आदेश है कि स्त्रियाँ केहुनी तक बाँह और गले तक का भाग ढँका रखें।

यह समाचार शिक्षित भारतीय नारियों को कुछ सोचने और समझने के लिए विवश करता है जो पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की दुहाई देकर अधिक से अधिक अंग प्रदर्शक वस्त्रों को पहन कर घर से बाहर जाती हैं तथा उनकी देखा देखी क्रमशः देहाती महिलाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा है। अक्सर देखा जाता है कि महिलाएँ घरों में तो मोटे वस्त्र पहनती हैं पर जब कहीं बाहर, सभा-सोसायटी, सफर आदि में जाना होता है तो पतले से पतले वस्त्र पहन कर जाती हैं। स्कूलों, कालेजों में पढ़ने वाली बहिनें इस विषय में और भी कदम आगे हैं। वे जिस पाश्चात्य संस्कृति का आदर्श एवं उदाहरण लेकर यह सब करती हैं, क्या इस समाचार को पढ़ कर अब भी उनकी आँखें न खुलेंगी ?

निर्युक्तियां और निर्युक्तिकार

—श्री मोहन लाल मेहता एम. ए., शास्त्राचार्य

निर्युक्तियां

मूल ग्रन्थों के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए उन पर व्याख्यात्मक साहित्य लिखना भारतीय साहित्यकारों की बहुत प्राचीन परिपाटी है। वे मूल ग्रन्थ के प्रत्येक शब्द की विवेचना एवं आलोचना करते तथा उस ग्रन्थ पर एक बड़ी या छोटी टीका लिखते। विशेषकर पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की ओर अधिक ध्यान देते। जिस प्रकार वैदिक पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत व्याख्या करने के लिए यास्क महर्षि ने निघण्टु-भाष्यरूप निरुक्त लिखा उसी प्रकार जैन आगमों के पारिभाषिक शब्दों की समुचित व्याख्या करने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य में निर्युक्तियों की रचना की। सम्भवतः आचार्य भद्रबाहु के पूर्व भी कुछ निर्युक्तियां रही हों जैसा कि अनुयोगद्वारसूत्र को देखने से प्रतीत होता है। यास्क महर्षि के निरुक्त में जिस पकार सर्व प्रथम निरुक्त का उपोद्घात है उसी प्रकार जैन निर्युक्तियों में भी प्रारंभ में उपोद्घात मिलता है।

आचार्य भद्रबाहु ने निम्नाङ्कित ग्रन्थों पर दस नियुक्तियां लिखी हैं—

१ आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचारांग, ५ सूत्रकृतांग, ६ दशाश्रुतस्कन्ध, ७ बृहत्कल्प, ८ व्यवहार, ९ सूर्यप्रज्ञप्ति, और १० ऋषिभाषित।

इनमें से अन्तिम दो निर्युक्तियां उपलब्ध नहीं हैं। शेष आठ उपलब्ध हैं। इन निर्युक्तियों में आचार्य ने जैन न्यायसम्मत निक्षेप-पद्धति का आधार लिया है। निक्षेप-पद्धति में किसी एक शब्द के संभवित अनेक अर्थों का निर्देश किया जाता है और उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्तियों में प्रस्तुत अर्थ के निश्चय के साथ ही साथ तत्संबद्ध अन्य बातों का निर्देश भी किया है। 'निर्युक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए वे स्वयं कहते हैं—"एक शब्द के अनेक

अर्थ होते हैं किन्तु कौन सा अर्थ किस प्रसंग के लिए उपयुक्त होता है, भगवान के उपदेश के समय कौन सा अर्थ किस शब्द से संबद्ध था, इत्यादि बातों को ध्यान में रखते हुए ठीक ठीक अर्थ का निर्णय करना और उस अर्थ का सूत्र के शब्दों से संबन्ध स्थापित करना—यही निर्युक्ति का प्रयोजन है।"[1]

निर्युक्तियों की रचना करने के पूर्व आचार्य भद्रबाहु ने सर्व प्रथम पांच प्रकार के ज्ञान का विवेचन किया है। पीछे के टीकाकारों ने ज्ञान को मंगल-रूप मान कर यह सिद्ध किया है कि इन गाथाओं से मंगल का प्रयोजन भी सिद्ध होता है। आगे आचार्य ने यह बताया है कि इन पांच ज्ञानों में से प्रस्तुत अधिकार श्रुतज्ञान का ही है; क्योंकि यही ज्ञान ऐसा है जो प्रदीपवत् स्वपर-प्रकाशक है। यही कारण है कि श्रुतज्ञान के आधार से ही मति आदि अन्य ज्ञानों का एवं स्वयं श्रुत का भी निरूपण हो सकता है। इसके बाद सामान्य-रूप से सभी तीर्थंकरों को नमस्कार किया है। फिर वर्तमान तीर्थ के प्रणेता—प्रवर्त्तक भगवान् महावीर को नमस्कार किया है। तदुपरान्त महावीर के प्रमुख शिष्य एकादश गणधरों को नमस्कार करके गुरु-परंपरा रूप आचार्यवंश और अध्यापक-परंपरा रूप उपाध्यायवंश को नमस्कार किया है। इतना करने के बाद आचार्य ने यह प्रतिज्ञा की है कि इन सब ने श्रुत का जो अर्थ बताया है उसकी मैं निर्युक्ति अर्थात् श्रुत के साथ अर्थ की योजना करता हूँ। निर्युक्ति के लिए निम्नाङ्कित श्रुतग्रन्थों को लेता हूँ—१ आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचारांग, ५ सूत्रकृतांग, ६ दशाश्रुतस्कन्ध, ७ कल्प (बृहत्कल्प) ८ व्यवहार, ९ सूर्यप्रज्ञप्ति और १० ऋषिभाषित।[2]

आचार्य भद्रबाहु की इन दस निर्युक्तियों का रचना-क्रम भी वही होना चाहिए जिस क्रमसे उन्होंने निर्युक्ति-रचना की प्रतिज्ञा की है। इस कथन की पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण नीचे दिए जाते हैं।[3]

१—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति में विनय की निर्युक्ति के प्रसङ्ग में लिखा है कि इसके विषय में पहले कह दिया गया है।[4] यह कथन दशवैकालिक के 'विनय समाधि' नामक अध्ययन की निर्युक्ति को लक्ष्य में रखकर किया गया है।

[1] आवश्यक निर्युक्ति, ८८.

[2] वही ७९—८६

[3] गणधरवाद : प्रस्तावना, पृ० १५–१६.

[4] उत्तराध्ययन-निर्युक्ति, २९.

इससे यह सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन-निर्युक्ति के पूर्व दशवैकालिक-निर्युक्ति की रचना हुई थी।

२–"कामा पुव्वुद्दिट्ठा" उत्तराध्ययन-निर्युक्ति गा० २०८ से यह सूचित किया गया है कि काम के विषय में पहले विवेचन हो चुका है। यह विवेचन दशवैकालिक-निर्युक्ति गाथा १६१ में है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है।

३—आवश्यक-निर्युक्ति के प्रारम्भ में दस निर्युक्तियों की रचना करने की प्रतिज्ञा की गई है। इससे यह स्वतःसिद्ध है कि सर्व प्रथम आवश्यक-निर्युक्ति लिखी गई। आवश्यक-निर्युक्ति की निह्नववाद से संबन्धित प्रायः सभी गाथाएं ज्यों की त्यों उत्तराध्ययन-निर्युक्ति में ली गई हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन-निर्युक्ति की रचना आवश्यक-निर्युक्ति के बाद में हुई।

४—आचारांग-निर्युक्ति गाथा ५ में कहा गया है कि 'आचार' और 'अंग' के निक्षेप का कथन पहले हो चुका है। इससे दशवैकालिक और उत्तराध्ययन की निर्युक्तियों की रचना आचारांग-निर्युक्ति के पूर्व सिद्ध होती हैं क्योंकि दशवैकालिक के 'क्षुल्लकाचार' अध्ययन की निर्युक्ति के प्रसङ्ग में 'आचार' की तथा उत्तराध्ययन के 'चतुरङ्ग' अध्ययन की निर्युक्ति में 'अंग' शब्द की जो निर्युक्ति की गई है उसी का उपरोक्त उल्लेख है।

५—आचारांग-निर्युक्ति गा० ३४६ में लिखा है कि उत्तराध्ययन के 'मोक्ष' शब्द की निर्युक्ति के अनुसार ही 'विभक्ति' शब्द की व्याख्या समझ लेना चाहिए। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचारांग-निर्युक्ति से पहले उत्तराध्ययन-निर्युक्ति की रचना हुई।

६—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति में कहा गया है कि 'धर्म' शब्द का निक्षेप पहले हो चुका है। यह कथन दशवैकालिक-निर्युक्ति गा० ३९ को लक्ष्य करके है। इससे यह सिद्ध होता है कि दशवैकालिक-निर्युक्ति की रचना सूत्रकृतांग-निर्युक्ति के पूर्व हुई

७—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति गा० १२७ में कहा गया है कि 'ग्रंथ' का निक्षेप पहले हो गया है। यह कथन उत्तराध्ययन-निर्युक्ति गा० २४० को अनुलक्षित करके है। इससे यही सिद्ध होता है कि सूत्रकृतांग-निर्युक्ति के पूर्व उत्तराध्ययन-निर्युक्ति की रचना हुई।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु

भद्रबाहु नाम के एक से अधिक आचार्य हुए हैं, ऐसा विद्वानों का अनुमान

है। श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु नेपाल में योगसाधना के लिए गए थे, जब कि दिगम्बर-मान्यता के अनुसार यही भद्रबाहु नेपाल में न जाकर दक्षिण में गए थे। इन दो घटनाओं से संशोधक विद्वान् ऐसा अनुमान करते हैं कि ये दोनों भद्रबाहु भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु इन दोनों से भिन्न एक तीसरे ही व्यक्ति हैं। ये चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु न होकर विक्रम की छठी शताब्दी में विद्यमान एक अन्य ही भद्रबाहु हैं। ये भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के संसारी अवस्था के सहोदर भाई थे।

जैन सम्प्रदाय की सामान्यतया यही धारणा है कि छेदसूत्रकार तथा नियुक्तिकार दोनों भद्रबाहु एक ही हैं। ये चतुर्दश पूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के विद्वानों की मान्यता यह है कि छेदसूत्रकार चतुर्दश पूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु और निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु दो भिन्न व्यक्ति हैं।[1]

दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति के प्रारम्भ में आचार्य कहते हैं कि प्राचीन गोत्रीय, अंतिम श्रुतकेवली और दशाश्रुतस्कन्ध आदि सूत्रोंके प्रणेता महर्षि भद्रबाहु को मैं नमस्कार करता हूँ।[2] इसी प्रकार का उल्लेख पंचकल्प के प्रारम्भ में भी है। इन उल्लेखों से यह बात सिद्ध होती है कि छेदसूत्रों के कर्ता चतुर्दश पूर्वधर अंतिम श्रुतकेवली स्थविर आर्य भद्रबाहु स्वामी हैं।

छेदसूत्र तथा निर्युक्तियां एक ही भद्रबाहु की कृतियां हैं, इस मान्यता के समर्थन के लिए भी कुछ प्रमाण मिलते हैं। इनमें सबसे प्राचीन प्रमाण आचार्य शीलांककृत आचारांगसूत्र की टीका में मिलता है[3] जिसका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा नववीं शताब्दी का प्रारंभ है। इसमें यही बताया गया है कि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वविद् भद्रबाहु स्वामी हैं।

'निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वविद् भद्रबाहु स्वामी हैं' इस मान्यता को बाधित करने वाले प्रमाण अधिक सबल एवं तर्कपूर्ण हैं। इन प्रमाणों की प्रामाणिकता

[1] महावीर जैन विद्यालय : रजत महोत्सव ग्रंथ, पृ० १८५

[2] वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरियसगलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥

[3] निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान्......
आचारांग टीका, पृ० ४

का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि स्वयं निर्युक्तिकार अपने को चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी से भिन्न बताते हैं। दूसरी बात यह है कि ये प्रमाण पूर्वोक्त प्रमाण से अधिक प्राचीन एवं विचारणीय हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी ही यदि चतुर्दश पूर्वविद् भद्रबाहु स्वामी हों तो उनकी बनाई हुई निर्युक्तियों में निम्नलिखित बातें नहीं मिलनी चाहिए जो कि आज हमें प्रत्यक्ष रूप में देखने को मिलती हैं :—

१—आवश्यक निर्युक्ति की ७६४ से ७७६ तक की गाथाओं में स्थविर भद्रगुप्त, आर्य सिंहगिरि, वज्रस्वामी, तोसलिपुत्राचार्य, आर्यरक्षित, फल्गुरक्षित आदि अर्वाचीन आचार्यों से सम्बन्धित प्रसङ्गों का वर्णन।

२—पिण्डनिर्युक्ति गाथा ४९८ में पादलिप्ताचार्य का प्रसंग तथा ५०३ से ५०५ तक की गाथाओं में वज्रस्वामी के मामा आर्य समितसूरि का संबन्ध, ब्रह्मद्वीपिक तापसों की प्रव्रज्या और ब्रह्मद्वीपिक शाखा की उत्पत्ति का वर्णन।

३—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति गाथा १२० में कालकाचार्य की कथा।

४—आवश्यक-निर्युक्ति की ७६४ से ७६९ तक की गाथाओं में दशपूर्वधर वज्रस्वामी को नमस्कार।

५—उत्तराध्ययनसूत्र के अकाममरणीय नामक अध्ययन में एक निर्युक्ति गाथा है जिसका अर्थ है—"हमने मरण विभक्ति से सम्बन्धित सभी द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया। पदार्थों का सम्पूर्ण एवं विशद वर्णन तो जिन अर्थात् केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वविद् ही कह सकते हैं[१]।" यदि निर्युक्तिकार स्वयं चतुर्दश पूर्वविद् होते तो अपने मुख से ऐसी बात न कहते।

६—इन सब प्रमाणों से अधिक सबल प्रमाण है दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति में। ग्रंथ के प्रारंभ में ही आचार्य लिखते हैं—"प्राचीन गोत्रीय, अंतिम श्रुत केवली और दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प तथा व्यवहार सूत्र के प्रणेता महर्षि भद्रबाहु को मैं नमस्कार करता हूं" इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि निर्युक्तिकार स्वयं चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहुस्वामी होते तो इस प्रकार छेदसूत्रकार को नमस्कार न करते। दूसरे शब्दों में यदि छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार एक ही भद्रबाहु होते तो दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति के प्रारंभ में

[१] सव्वे एए दारा, मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो।
सगलणिउणे पयत्थे, जिण चउद्दसपुव्वि भासंति ॥२३३॥

छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार न किया जाता क्योंकि कोई भी समझदार ग्रंथकार अपने आपको नमस्कार नहीं करता।

उपरोक्त उल्लेखों से यही बात सिद्ध होती है कि छेदसूत्रकार चतुर्दश पूर्वधर श्रुतकेवली आर्य भद्रबाहु और निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु एक ही व्यक्ति न होकर भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। अब हम निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु के जीवन के सम्बन्ध में थोड़ा सा प्रकाश डालेंगे।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु वाराहीसंहिता के प्रणेता ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के पूर्वाश्रम के सहोदर भाई के रूप में जैन सम्प्रदाय में प्रसिद्ध हैं। ये अष्टांगनिमित्त और मंत्रविद्या के पारगामी अर्थात् नैमित्तिक के रूपमें भी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने भाई के साथ धार्मिक स्पर्धा करते हुए भद्रबाहुसंहिता तथा उपसर्गहरस्तोत्र की रचना की। अथवा यों भी कह सकते हैं कि इन्हें इन ग्रंथों की रचना अनिवार्य प्रतीत हुई। निर्युक्तिकार तथा उपसर्गहरस्तोत्रादि के प्रणेता एक ही भद्रबाहु हैं और वे भी नैमित्तिक भद्रबाहु हैं, इस कल्पना की पुष्टि के लिए मुनि श्री पुण्यविजय जी[1] ने यह प्रमाण दिया है कि आवश्यक-निर्युक्ति की १२५२ से १२७० तक की गाथाओं में गंधर्व नागदत्त का कथानक है। इस कथानक में नाग का विष उतारने की क्रिया बताई गई है। उपसर्गहरस्तोत्र में भी 'विसहर फुलिंगमंत' इत्यादि से नाग का विष उतारने की क्रिया का ही वर्णन किया गया है। निर्युक्तिग्रंथ में मंत्रक्रिया के प्रयोग के साथ 'स्वाहा' पद का निर्देश भी मिलता है जो रचयिता के तत्सम्बन्धी प्रेम अथवा ज्ञान की ओर संकेत करता है। दूसरी बात यह है कि अष्टांगनिमित्त तथा मंत्रविद्या के पारगामी नैमित्तिक भद्रबाहु ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भाई के सिवाय अन्य कोई प्रसिद्ध नहीं हैं; इससे सहज ही में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उपसर्गहरस्तोत्रादि ग्रंथों के रचयिता और आवश्यकादि नियुक्तियों के प्रणेता एक ही भद्रबाहु हैं।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु की नैमित्तिकता सिद्ध करने वाला एक और प्रमाण भी है। उन्होंने आवश्यक सूत्र आदि दस ग्रंथों पर जो निर्युक्तियां लिखी हैं उनमें सूर्यप्रज्ञप्ति का भी समावेश है। इससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि वे निमित्तविद्या में कुशल एवं रुचि रखने वाले थे। निमित्तविद्या के प्रति प्रेम एवं कुशलता के अभाव में यह कार्य वे हाथमें न लेते।

[1] महावीर जैन विद्यालय: रजत महोत्सव ग्रंथ, पृ० १९७-८.

'पंचसिद्धान्तिका' के अन्त में शक संवत् ४२७ अर्थात् विक्रम संवत् ५६२ का निर्देश है। यह समय वराहमिहिर का समय है। जब हम यह मान लेते हैं कि निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु वराहमिहिर के सहोदर थे तब यह स्वतः सिद्ध है कि आचार्य भद्रबाहु विक्रम की छठी शताब्दी में विद्यमान थे और निर्युक्तियों का रचनाकाल विक्रम संवत् ५००–६०० के बीच में है।

आचार्य भद्रबाहु ने दस निर्युक्तियां, उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहु-संहिता, इन बारह ग्रंथों की रचना की। भद्रबाहु-संहिता अनुपलब्ध है तथा आज जो भद्रबाहु-संहिता मिलती है वह कृत्रिम है, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। ओघनियुक्ति, पिंडनिर्युक्ति और पंचकल्पनिर्युक्ति क्रमशः आवश्यक निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति और कल्प निर्युक्ति के ही अंशरूप हैं। संसक्त निर्युक्ति ग्रहशान्ति स्तोत्र, सपादलक्ष-वसुदेवहिंडी आदि ग्रंथ आचार्य भद्रबाहु की कृतियाँ हैं, इसमें अभी विवाद है।

ये महत्वपूर्ण वस्तुएँ !

सभी व्यक्ति अपनी अपनी रुचि के अनुसार अलग अलग क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा प्रकट करते हैं। कवि अपनी कविता, कलाकार अपनी कृति, योद्धा अपनी शस्त्र-प्रवीणता तथा इसी प्रकार और भी व्यक्ति विभिन्न कार्यों द्वारा लोगों की प्रशंसा के पात्र तो बनते ही है पर राष्ट्रीय गौरव की वृद्धि भी करते हैं।

कुछ माह पहले का समाचार है कि मेरठ कालेज के प्रोफेसर श्री मदन गोपाल गोयल द्वारा लिखा गया एक पोस्टकार्ड मेरठ की अन्ताराष्ट्रीय प्रदर्शनी में रखा गया था। इस पोस्टकार्ड की विशेषता यह है कि इसमें केवल एक ओर सुप्रसिद्ध अंग्रेज कवि टेनीसन की 'मोर्टे डि आर्थर' कविता की ३२५ पक्तियाँ लिखी गई हैं। ये पक्तियां लाल और नीली स्याही से लिखी हैं और आतशी शीशा (Magnifying glass) की सहायता से पढ़ी जा सकती है। इस कार्ड ने दर्शकों को काफी आकर्षित किया।

भारतीय पत्रों में इस प्रकार के देश का गौरव बढ़ाने एवं भारतीय प्रतिभा का दर्शन कराने वाले समाचार अक्सर निकलते रहते हैं पर एक बार अखबार में समाचार निकल चुकने के पश्चात् उसका फिर कुछ पता नहीं चलता कि क्या हुआ?

राष्ट्रीय सरकार को चाहिए कि इस प्रकार की महत्वपूर्ण वस्तुएँ जो विदेशों में हमारे देश का गौरव बढ़ाती हैं, उचित पारिश्रमिक देकर खरीद ली जाएँ और उन्हें राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित रखा जाए।

धर्मबन्धु हर्बर्ट वारन

स्वर्गीय हर्बर्ट वॉरन का जीवन आदर्श व प्रेरक है। यह जीवन स्वयं उनके मित्र धर्मपरायण पं० लालन जी ने कुछ वर्ष पहले लिखा था। यहाँ भावनगर के गुजराती 'जैन' से साभार अनुवाद करके दिया गया है। आशा है 'श्रमण' के पाठकों को इससे धर्मबन्धु हर्बर्ट वॉरन के विषय में कई बातों का ठीक पता चल सकेगा।

योरोप और अमेरिका के जैनधर्मी विद्वानों में बन्धु वॉरन का स्थान बहुत ऊँचा है। जैन धर्म का गहरा अभ्यास और उसमें अनन्य श्रद्धा होने से उनकी सर्वत्र बड़ी प्रतिष्ठा थी। हृदय में सच्ची धर्म वृत्ति होने से अपूर्व गौरव प्राप्त था। अपने लेखों या रचनाओं के कारण भारत के जैनों में वे आज भी सुपरिचित हैं। उनके श्रद्धालु जीवन की उज्ज्वल कीर्ति की सुगंध चारों तरफ महक रही थी। उनकी जीवनचर्या को देख कर बहुतों के दिलोंमें धर्म श्रद्धा पैदा होती थी और कइयों के जीवन पर अपूर्व प्रभाव पड़ा था। बहुतों को सत्य धर्म की झाँकी दिखाई दी।

स्वर्गीय वीरचन्द गांधी का समागम

श्री वॉरन को जैन धर्म का अनुयायी बनाने और उसका सुबोध देकर जैन धर्म का दृढ श्रद्धालु बनाने का सारा श्रेय स्व० श्री वीरचन्द राघव जी गांधी को है। श्री वीरचन्द भाई के साथ बन्धु वॉरन का समागम सोने में सुगन्ध सा सिद्ध हुआ। श्री वॉरन का धार्मिक विकास श्री वीरचन्द गांधी की देन है, इसमें संदेह नहीं।

ईस्वी सन् १८९३ में शिकागो (अमेरिका) में विश्व धर्म परिषद का सम्मेलन हुआ। जिसमें जैन धर्म की ओर से श्री वीरचन्द गांधी प्रतिनिधि थे, उनके प्रभावशाली व्याख्यानों की बड़ी प्रशंसा हुई थी। अमेरिका के बाद जब वे लन्दन पहुँचे, तो उनसे श्री वॉरन का पहली बार मिलना हुआ। श्री वीरचन्द भाई जैन योग, कर्म योग, जैन धर्म आदि तत्त्वज्ञान संबन्धी विषयों पर नियमित भाषण दिया करते थे। भाषणों को सुनने के लिए जो लोग इकट्ठे होते थे, उनमें श्री वॉरन सबसे अधिक दिलचस्पी लेने वाले व उत्साही श्रोता थे। बन्धु वॉरन को भाषणों में इतना रस आता था कि वे उन्हें शीघ्र-

लिपि (Short hand) द्वारा अक्षरशः लिख लेते थे। भाषणों के सुनने से उन्हें जैन धर्म के प्रति विशेष भाव या प्रेम पैदा हो गया था। फलतः अक्षरशः लिखे हुए भाषणों का वे गहराई से अभ्यास करने लगे। जिससे जैन धर्म में उनकी अटल श्रद्धा हो गई और दिनोंदिन उसके प्रति प्रेम व भक्ति बढ़ती चली गई।

दूसरे जैन विद्वानों का समागम

जैन धर्म का निरन्तर अभ्यास करते रहने से उनके दिल पर उसका पूरा प्रभाव पड़ गया था। श्री वीरचन्द भाई के बाद बन्धु वॉरन की धर्म वृत्ति और जिज्ञासा ने दूसरे जैन विद्वानों से भी उनका मेल कराया। श्रीयुत सुरचन्द भाई बदामी, स्व० केशवलाल प्रेमचन्द मोदी और स्व० जुगमन्दिर लाल जैनी, इनके प्रत्यक्ष व परोक्ष समागम से उनकी बहुत सी शंकाओं का समाधान हुआ। लगातार सत्संग मिलते रहने से धर्म के सम्बन्ध में उनके महत्व के प्रश्नों का समाधान धर्मप्रेमी विद्वानों द्वारा होता रहा। इससे बन्धु वॉरन की धर्म श्रद्धा व भावना बढ़ती चली गई।

श्रीयुत सुरचन्द भाई बदामी और स्व० केशवलाल मोदी के समागम के कुछ ही वर्षों बाद स्व० जुगमंदिर लाल जैनी के साथ श्री वॉरन का विलायत में प्रत्यक्ष परिचय हुआ। श्री जुगमंदिर लाल जी आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के एम०ए० और बैरिस्टर थे। वे दिगम्बर जैन समाज के सुप्रसिद्ध गृहस्थ विद्वान् थे। वे धर्म के भी विशिष्ट जानकार थे। उनके परिचय से बन्धु वॉरन की धार्मिक मान्यताएँ और भी दृढ़ हो गईं। वीरचन्द भाई के द्वारा सींचा हुआ धर्मबीज प्रखर विद्वानों के संपर्क के मिलने से उत्तरोत्तर विकसित होता चला गया। वीरचन्द भाई ने जो बन्धु वॉरन में धर्म बीज बोया था, वह एक सुन्दर वृक्ष के रूप में खूब फूलाफला। सचमुच श्री वॉरन में धर्मभावना का एक तरह से अद्भुत सींचन हुआ।

अपने परिचय में आने के बाद श्री जुगमंदिर लाल जैनी ने बंधु वॉरन का परिचय पं० लालन से भी कराया। पं० लालन के परिचय में आने के बाद श्री वॉरन जैनधर्म में और भी दृढ़ बन गए थे। अपने में धर्म की दृढ़ता की प्रतीति होने पर एक बार उनको यह जानने की उत्कण्ठा हुई कि निश्चय और व्यवहार से उनमें सम्यक्त्व है या नहीं। बन्धु वॉरन की यह जिज्ञासा देख कर पं० लालन ने अपने क्षयोपशम के अनुसार उनकी परीक्षा भी ली। पूछे गए प्रश्नों का संतोष जनक जवाब देने पर उन्हें अपने में सम्यक्त्व की प्रतीति

हो गई। इस योग्यता के प्राप्त होने पर ही वे बारह व्रतों को धारण करने के लिए भी तैयार हो गए।

बारह व्रतों को धारण करना—

श्रावक के बारह व्रतों को धारण करने की बंधु वॉरन में पूरी योग्यता व पात्रता थी। श्री वीरचन्द भाई के पास उनने श्रावक के व्रतों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया था। व्रतों का ठीक ठीक स्वरूप उनने पं० लालन के सामने रखा। बारह व्रतों में से पहले सात व्रत उनने इंगलैन्ड के देश-काल के अनुसार धारण किए। इस प्रकार सात व्रत धारण करने के कुछ महीने बाद ही इंगलैन्ड में पं० लालन ने पं० हीराचन्द लीलाधर झवेरी से परिचय कराया। श्री हीराचन्द भाई पढ़ने के लिए लन्दन गए थे। वे बड़े अच्छे अभ्यासी थे, इसीलिए उनसे परिचय कराना आवश्यक भी था। यह परिचय जल्द ही घनिष्ठ हो गया। जिसका सुन्दर परिणाम यह हुआ कि बन्धु वॉरन को बाकी के पाँच व्रत लेने की भी इच्छा हुई और अन्त में वे ये व्रत लेकर बारह व्रतधारी श्रावक बन सके।

बन्धु वॉरन का आचार-विचार—

जैनधर्म का अनुयायी बनने से पहले श्री वॉरन मांसाहारी थे। वीरचंद भाई के उपदेश से उनने मांसाहार बिलकुल त्याग दिया था। वे धूम्रपान करते अवश्य थे, किन्तु उसे अच्छा नहीं मानते थे। वे बार बार भाव सामायिक करते रहते थे। भाव-सामायिक में वे समाधिशतक का स्वाध्याय किया करते थे। अंगरेजी भाषा में प्रकाशित जैनधर्म संबन्धी साहित्य का वाचन व मनन भी करते रहते थे। इस तरह वे स्वाध्याय और चिन्तन-मनन में निमग्न रहते थे।

धर्म में अनन्य श्रद्धा

उनकी धार्मिक श्रद्धा भी अनन्य थी। धर्म श्रद्धा की दृष्टि से उनका स्थान अजोड़ था। 'Jainism is not Atheism' नामक पुस्तक में उनने प्रसिद्ध शास्त्रीय प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि जैन धर्म नास्तिक नहीं है। इन बातों से उनकी धर्म पर अविचल श्रद्धा का भान होता है। वे वास्तव में परम श्रद्धा वाले जैन थे। इसीलिए वे अत्यन्त श्रद्धेय थे और समाज में उनका अपूर्व आदर था।

सुन्दर धर्मबोध

बन्धु वॉरन का धर्मबोध उतना उत्कृष्ट नहीं था, जितनी कि उनकी धर्म श्रद्धा। फिर भी बोध सुंदर प्रकार का था। उन्होंने धर्म का यथासंभव सूक्ष्म और गंभीर ज्ञान प्राप्त किया था। धार्मिक प्रश्नों को लेकर जो भी शंकाएँ उठती थीं, उनका ठीक समाधान करने और धर्मज्ञान की वृद्धि के लिए बन्धु वॉरन का सुपरिचित जैन विद्वानों के साथ वर्षों तक लगातार पत्र व्यवहार चलता रहा। इससे उनकी शंकाओं का समाधान हो जाता था, और धर्मबोध भी बढ़ता गया। निरन्तर पत्र व्यवहार करते रहने से उनकी धर्मज्ञान की वृद्धि हुई और उन्हें बड़ा लाभ मिला।

समाज सेवा

बन्धु वॉरन समाज सेवा के क्षेत्र में भी पीछे नहीं थे। नाना प्रकार की सभा-सोसायटियाँ बना कर वे सेवा करते रहते थे। स्व० जुगमन्दिर लाल जैनी और पं० लालन के सहयोग से इन्होंने सन् १९०९ में एक 'जैन लिटरेचर सोसायटी' बनाई थी। इस सोसायटी के सदस्य योरोप, अमेरिका तथा पूर्वीय देशों के बहुत से विद्वान सज्जन थे। इन्डिया आफिस के भूतपूर्व लायब्रेरियन एवं आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के प्रिन्सिपल प्रोफेसर एस. डबल्यु. थामस उक्त सोसायटी के अध्यक्ष थे। श्री वॉरन स्वयं मंत्री के रूप में काम करते थे। विशेष उल्लेखनीय यह है कि हर्मन जेकोबी और ग्लेजनप जैसे समर्थ विद्वान भी उक्त जैन लिटरेचर सोसायटी के सभासद थे। सोसायटी की ओर से Outlines of Jainism नाम की सुन्दर पुस्तक भी प्रकाशित हुई थी।

बन्धु वॉरन की अध्यक्षता में 'महावीर ब्रदरहुड' नाम की एक संस्था भी लन्दन में बनी थी। जिसका लक्ष्य Universal Fraternity of All Beings (विश्वबन्धु समाज) था। बन्धु अलेग्जेन्डर गार्डन जो कि जैन बनने से पहले प्रख्यात साहित्यकार जेम्स एलन के शिष्य थे, उक्त मण्डल के मंत्री थे। महावीर ब्रदरहुड के सभी सदस्यों—भाइओं व बहनों को मांस भक्षण का सर्वथा त्याग करना पड़ता था। देश काल के अनुसार वे लोग जैन व्रतों को भी ग्रहण करते थे। श्री गार्डन ही जैन धर्म के अनुयायी थे, ऐसा नहीं, बल्कि उनकी धर्मपत्नी व अन्य कुटुम्बीजन भी जैन मन्तव्यों का पालन करते थे।

साहित्य सेवा

बन्धु वॉरन ने Six Dravyas (षड्द्रव्य) Jainism (जैन धर्म) और Jainism is not Atheism (जैन धर्म नास्तिक धर्म नहीं अर्थात् जैन धर्म की आस्तिकता) ये पुस्तकें लिखकर अनुपम साहित्य सेवा की है। दिगम्बर जैन आदि मासिक पत्रों में इनके अनेकशः मननीय लेख निकलते रहे हैं। इस तरह इनने काफी साहित्य सेवा की है। लेख प्रायः धर्म विषयक होते थे।

धर्म प्रचार

बन्धु वॉरन की दृष्टि से धर्म प्रचार का महत्व भी ओझल नहीं था। जब जब जैसे जैसे आवश्यकता देखी, तब तब ये धर्म प्रचार करने से भी नहीं चूके। इनकी व्यापक धर्म प्रचार की भावना दिनोंदिन बढ़ती ही रही। यह सभी के लिए हर्ष का कारण था। इनकी सत्य धर्म के प्रचार की लगन भी अनुकरणीय थी। बन्धु वॉरन के विषय (papers) धर्म प्रचार की दृष्टि से बड़े ही महत्व के होते थे। एक बार उन्होंने Society for the study of worlds Religion के सामने जैन धर्म पर एक निबन्ध पढ़ा था, जिसको श्रोताओं ने खूब पसन्द किया। श्री वॉरन के धर्म बोध को देखकर सभी श्रोता मंत्रमुग्ध थे।

जीवदया का प्रशंसनीय कार्य

बन्धु वॉरन जीवदया के अनेक कार्यों में भी दिलचस्पी लेते रहते थे। उनका एक प्रशंसनीय कार्य यहां विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। जीवदया संबन्धी इस कार्य की घटना इस प्रकार है—

ईस्वी सन् १९०९ की बात है। इंगलैन्ड में जो घोड़े बूढ़े ठेरे हो जाते थे। हॉलेन्ड के लोग उन्हें मार कर भक्षण करते थे। इस प्रकार अशक्त घोड़ों को दूसरे देश से लाना और उनका मार कर भक्षण करना बन्धु वॉरन को अच्छा नहीं लगा। इस क्रूरता को देखकर उनका आत्मा बेचैन हो उठा। वे स्वयं Dumb Friend Society के स्वयंसेवक बने। उनके और उनके साथी स्वयंसेवकों के बारह मास तक सतत प्रचार का परिणाम यह हुआ कि पार्लियामेंट का ध्यान इस तरफ खिंचा। और अन्त में पार्लियामेन्ट ने हिंसा के इस प्रकरण को बंद कर दिया। श्री वॉरन ने अशक्त घोड़ों को बचाने के लिए अथक प्रयत्न किया। उनके जीवन की यह एक विशिष्ट कीर्तिगाथा है। बन्धु वॉरन सचमुच ही दया और सौजन्य की मूर्ति थे। अनु० कृष्ण

संसार की सबसे अधिक बिकनेवाली पुस्तक

भूमिका बांधने के फेर में न पड़कर सीधे और स्पष्ट शब्दों में पहले ही यह बतला देना अनुचित नहीं होगा कि ईसाइयों की धर्म पुस्तक बाईबिल के साथ इस लेख का शीर्षक जोड़ा जा सकता है, और शायद अगले कई वर्षों तक बाईबिल के साथ यह शीर्षक जोड़ा जाता रहेगा।

बाईबिल प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में छपती है और फिर भी 'ब्लैकमार्केट' में बिकती है। सम्पूर्ण बाईबिल और उसके अलग-अलग खंड संसार की कुल १०७० भाषाओं में अलग-अलग छपते हैं और (आप आश्चर्य न करें) इतने पर भी संसार की करीब २००० प्रान्तीय भाषाएं (विभाषाएं) बच जाती हैं; जिनमें अभी बाईबिल का अनुवाद होना बाकी है। केवल एस्मेरेन्टो में ही बाईबिल के ५ अलग अलग संस्करण निकलते हैं। बाईबिल का एक 'बुलेट प्रूफ' मिलिट्री संस्करण भी निकलता है जो विशेषतः फौजी कर्मचारियों के लिए तैयार किया जाता है। 'बुलेट' एक प्रकार की धातु होती है जिसके अन्दर बन्दूक की गोली प्रवेश नहीं कर सकती। इस प्रकार की धातु के पत्रों पर बाईबिल लिखी जाती है। युद्ध-क्षेत्र में गोला, बारूद आदि संहारक युद्ध-सामग्री से कागज की पुस्तकों के नष्ट होने की आशंका रहती है। इसी कारण इस प्रकार की धातु के पत्रों पर यह संस्करण निकलता है। बाईबिल संसार की अकेली पुस्तक है जो इस प्रकार की धातु के पत्रों पर लिखी जाती है। जेल के कैदियों के लिए एक विशेष प्रकार के कागज पर इसका संस्करण निकलता है जो चारों ओर से अत्यन्त ही दृढ़ होता है तथा जिसे मोड़ा नहीं जा सकता। इंगलैंड में जेल के कैदियों के लिए धूम्रपान वर्जित है अतः वे साधारण पुस्तकों के पन्ने फाड़कर उन्हें सिगरेट की तरह मोड़कर उनसे धूम्रपान का काम लिया करते हैं। पर उनके लिए विशेष रूप से तैयार किए बाईबिल के इस संस्करण के पत्रों से ऐसा कर सकना कठिन ही नहीं असम्भव है।

पिछले वर्ष क्रिसमस (बड़े दिन) के अवसर पर सोवियत क्षेत्र में बाईबिल की प्रतियां हवाई जहाज से बरसाई गई थीं। और रशियन, पोलिश, चेक आदि अनेक भाषाओं के बाईबिल के जेबी संस्करण की प्रतियां गुब्बारों द्वारा

उड़ाई गई थीं। अन्ताराष्ट्रीय चर्च कौन्सिल की एक विज्ञप्ति के अनुसार बाईबिल के वितरण का यह ढंग नवीनतम था। जहां एक ओर बाईबिल का इस प्रकार प्रचार किया गया, दूसरी ओर पूर्वी अफ्रीका में बाईबिल की प्रतियां सीमित मात्रा में ही प्राप्य हैं। वहां एक प्रति के हिसाब से बाईबिल का राशन है। और इस कारण मध्यमवर्गीय अच्छी आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति "न्यू टेस्टामेन्ट" की प्रतियां निश्चित मूल्य से चौगुनी अधिक कीमत में खरीदते हैं। जापान में बाईबिल के "ब्लैकमार्केट" को रोकने के लिए पिछले तीन वर्षों में लाखों प्रतियां हवाई जहाज और समुद्री जहाजों द्वारा भेजी गईं। फिर भी वहां बाईबिल की प्रतियों का अकाल ही है।

बाईबिल संसार की सबसे सस्ती पुस्तक कही जा सकती है। बाईबिल की ५०० पेज से ऊपर की प्रति मात्र दो आने में मिलती है। किसी भी अन्य धर्म की पुस्तक इतनी सस्ती नहीं मिलती जितनी सस्ती बाईबिल। भारत में ही हम अक्सर देखते हैं कि ईसाई धर्म के प्रचारक दो-दो पैसे में "ईशु रचित सुसमाचार" जैसी छोटी-छोटी पुस्तकें बेचते रहते हैं। सारे संसार में ईसाई धर्म के प्रचारक फैले हुए हैं। भारत वर्ष धर्मों का देश कहा जाता है, फिर भी भारत के किसी भी धर्म का ईसाई धर्म के बराबर क्या उसका शतांश भी प्रचार नहीं। भारत के किसी भी धर्मग्रंथ की आज तक बिकी हुई प्रतियों से ईसाइयों के धर्मग्रंथ बाईबिल की बिकी हुई प्रतियों की संख्या कई हजार गुनी अधिक निकलेगी। पिछले एक वर्ष में ही १५ करोड़ से अधिक लोगों ने बाईबिल की प्रतियां खरीदीं। इन प्रतियों में कोरियन जैसी भाषा की प्रतियां भी शामिल हैं जिसमें बाईबिल के 'जेम्स संस्करण' की अपेक्षा ९०० पृष्ठ अधिक में छपी है। आजकल कोरिया में अधिकतर निराश्रित व्यक्ति (युद्ध में बचे हुए विदेशी सैनिक) अपनी जेबों में बाईबिल की प्रतियां रखे हुए देखे जाते हैं जो इस बात का साइन बोर्ड होता है कि "हम कम्यूनिस्ट नहीं हैं।" वहां के निराश्रितों को यदि विदेशी फौजों के बचे हुए सिपाही न कहकर "बाईबिल के सैनिक" कहा जाए तो असंगत नहीं होगा। आजकल बाईबिल ही उनकी प्राणरक्षक बनी हुई है।

'ब्रेल'[1] भाषा में बाईबिल का एक नया संस्करण पिछले वर्ष ही निकला है। यह संस्करण इतना बड़ा है कि पूरी बाईबिल के ७४ भाग हैं।

[1] 'ब्रेल' भाषा नेत्रहीन व्यक्तियों की भाषा कहलाती है। इस भाषा के अक्षर उभड़े हुए होते हैं। नेत्रहीन व्यक्ति इन अक्षरों को टटोल कर पढ़ते हैं।

पूरी बाईबिल की एक प्रति सुरक्षित रखने के लिए १७ फीट चौड़ी और १७ फीट लम्बी अलमारी की आवश्यकता होती है। बाईबिल के इस संस्करण के प्रकाशन के कारण अलमारी बनाने वालों का व्यवसाय भी खूब चल पड़ा है। बाईबिल के इस संस्करण को रखने के लिए एक विशेष प्रकार की अलमारी का चलन हो गया है जिसे ये लोग "बाईबिल अलमारी" कहते हैं। जो नेत्रहीन व्यक्ति ब्रेल भाषा में टंकित अक्षर नहीं पढ़ सकते अर्थात् जिनकी बुद्धि इतनी विकसित नहीं कि किसी प्रकार की लिपि का ज्ञान प्राप्त कर सकें उनके लिए एक अमेरिकी संस्था ने तीन वर्ष के कठिन परिश्रम के पश्चात् बाईबिल का एक संक्षिप्त ध्वनि संस्करण तैयार किया है। यह ग्रामोफोन में १६९ रिकार्डोंपर तैयार किया गया है। इन रिकार्डों में ध्वनि भरने के लिए हालीवुड के चोटी के कलाकार चार्ल्स लाटन, सर सैड्रिक-हाईविक आदि सुप्रसिद्ध अभिनेताओं व अभिनेत्रियों ने सेवा-भाव से (बिना शुल्क लिए) अपनी ध्वनि प्रदान की है। हालीवुड के 'धर्मप्रेमी कर्मचारियों' के एक समूह ने तो बाईबिल के कुछ अंशों को फिल्मीकरण करने की योजना भी बनाई है जो निकट भविष्य में शीघ्र ही पूरी होगी। पूरी बाईबिल का फिल्मीकरण देखने के लिए दर्शकों को पूरे तीन दिन का समय देना पड़ेगा। अतः बाईबिल के कुछ प्रमुख अंशों का ही फिल्मीकरण करने की योजना है। इसी आधार पर रविवार के प्रोग्राम के लिए "टेलीविजन संस्करण" की भी योजना बन रही है। इतना सब होने पर भी बाईबिल की खपत बराबर बढ़ती ही जा रही है और उसे नए-नए रूप में प्रकाशित करने की योजनाएं बनती रहती हैं। केवल ब्रिटिश संस्थाओं द्वारा ही ब्रेली बाईबिल संसार की ४० प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित की गई है तथा ब्रिटिश एवं अन्य विदेशी बाईबिल प्रकाशन संस्थाओं ने इंजील (बाईबिल का एक अंश) का ७६६ भाषाओं में अनुवाद कराया है।

इस विषय की नवीनतम घटना तिब्बती भाषा में बाईबिल का प्रकाशन है। तिब्बती अनुवाद की कहानी भी बड़ी रोचक है। दलाईलामा की हत्या का षड्यंत्र करने वाले लोग जब उनकी हत्या करने में असफल रहे तो उनमें से एक व्यक्ति तिब्बत से भागकर मीरावियन मिशनरियों की शरण में पहुंचा। उन्होंने उसे आश्रय दिया और बड़े प्रेम से रखा। उनकी शरण में रहते-रहते उसे पता चला कि वे लोग तिब्बती भाषा में बाईबिल का अनुवाद कर रहे हैं। उसे भी इसमें रुचि हुई और उसने उनके काम में हाथ बंटाया। उसने सारी बाईबिल का नए सिरे से अनुवाद किया और बाईबिल का अनुवाद करते-करते ही उसका प्राणान्त हुआ।

युद्धकाल में सुरक्षा की दृष्टि से तिब्बती अनुवाद की हस्तलिखित प्रति रिपन कैथड्रम गुम्बज में रख दी गई, पर उसी समय इसका प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक हो गया। उन दिनों कार्लमार्क्स का साहित्य (रशियन पुस्तकों के तिब्बती अनुवाद के रूप में) धड़ाधड़ बिक रहा था। अतः प्रतियोगिता की दृष्टि से बाईबिल का प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक हो गया। बाईबिल के प्रकाशित होते ही उसकी हजारों प्रतियां केवल लासा में ही बिक गईं।

अन्य प्रमुख भाषाएं जिनमें पिछले कुछ वर्षों में बाईबिल का अनुवाद हुआ ओजिव्वा, उर्दू और बेन्द हैं। उत्तरी कनाड़ा में रहने वाले 'एस्किमो' लोगों के लिए तीन अलग-अलग भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। पाठकों की आवश्यकताओं का अनुभव कर 'अमेरिकन बाईबिल सोसायटी' ने प्रत्येक समुद्री जहाज के साथ उनमें रखी रहने वाली छोटी नावों तथा बेड़ों में बाईबिल की एक-एक प्रति वाटरप्रूफ केस में रखने की व्यवस्था की है। इसी प्रकार की व्यवस्था हवाई जहाजों में भी की गई है। जब 'सैम्सन डिलायला' फिल्म का प्रदर्शन जोरों पर था तब अमेरिकन बाईबिल सोसायटी के कुछ सदस्यों ने सिनेमा-भवनों के बाहर बाईबिल की बिक्री के लिए स्टाल खड़े किए थे और यह प्रचारित करके बाईबिल की लाखों प्रतियां बेची थीं कि "सैम्सन एवं डिलायला" का कथानक बाईबिल पर आधारित है।

आज से करीब ६०० वर्ष पहले पहली बार बाईबिल के अंग्रेजी संस्करण (जिसे 'जेम्स संस्करण' कहा जाता है क्योंकि राजा जेम्स ने मूल बाईबिल के आधार पर अंग्रेजी में यह छोटा संस्करण तैयार किया था) का प्रकाशन हुआ था। आज से करीब ३०० वर्ष पहले ४६ विद्वानों ने उस "जेम्स संस्करण" को और भी परिवर्तित करने में अपनी आयु का अर्धांश व्यतीत किया। पर अब फिर बाईबिल नए ढंग से तैयार हो रही है। गत युद्ध के कुछ पहले बाईबिल का प्रकाशन पहली बार उपन्यास के रूप में हुआ था। तीन वर्ष पहले बाईबिल "बेसिक इंगलिश" में छपी थी जिसमें केवल १००० शब्दों में बाईबिल का सारांश दिया गया था। पिछले वर्ष विभिन्न देशों, जातियों एवं वर्गों के ४० विद्वानों ने १५ वर्ष के परिश्रम के पश्चात् एक नया परिवर्तित-संशोधित संस्करण प्रकाशित किया है। प्राचीन काल से आज तक (जब तक के प्रमाण मिल सके हैं) बाईबिल में करीब ५००० संशोधन किए गए हैं तथा ३०० से अधिक शब्द बदले गए हैं, क्योंकि भाषा विज्ञान के एक नियम के अनुसार मूल शब्दों के वास्तविक अर्थों में कालक्रम में काफी परिवर्तन हो चुका था।

[शेष पृष्ठ २८ पर देखें]

शास्त्रीय पैमाने

—पं० मुनि श्री फूलचन्द्रजी 'श्रमण' (पंजाबी)

आगमों की शैली सदाकाल से यही चली आ रही है कि जिस किसी विषय का किसी एक सूत्र में सविशेष और सविस्तर वर्णन आ चुका हो, तो अन्य सूत्रों में यदि कहीं प्रसङ्गोचित वही वर्णन दृष्टिगोचर हो जाए तो सामान्यतया ही देखनेमें आता है। जैसे कि चंपा नगरी, उद्यान, सुराज्य, तथा समवसरण का वर्णन औपपातिक सूत्र में विस्तृत है एवं अंगुलों का वर्णन अनुयोग द्वार सूत्र में सविस्तर है और बहुत कुछ पर्याप्त है। इसीलिए ठाणाङ्ग आदि सूत्रों में अंगुलों का वर्णन होने पर भी वहां अति संक्षिप्त है।

सूत्रकारों ने अपने विशुद्ध विज्ञान के द्वारा जीव अजीव आदि पदार्थों की पैमायश की है वह भी अनेक पैमानों से की है और एक ही तरह से नहीं। उन्होंने किस मापदण्ड से कौन सा पदार्थ, किस रूप में नापा है यह विषय समझने योग्य है।

माप का आरम्भ व्यावहारिक परमाणु से लिया जाता है। एक व्यावहारिक परमाणु, अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं का पिण्ड होता है। स्थूल पदार्थों का माप अंगुल से प्रारंभ किया जाता है। अंगुल तीन प्रकार के होते हैं— आत्मांगुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल।

१२ अंगुलों की एक वितस्ति (ब्योंत) होती है, दो वितस्तियों का एक हाथ, दो हाथों की एक कुक्षि होती है, दो कुक्षियों का एक धनुष, दो हजार धनुष का एक कोस, चार कोस का एक योजन। यह क्रम सभी अंगुलों का एक सा ही है किन्तु परिमाण में अन्तर है। यदि तीनों का परिमाण एक सा ही हो तो बाकी दो अंगुलों का व्यर्थ होना अनिवार्य हो जाएगा।

इनमें आत्मांगुल का परिमाण अनवस्थित है। क्योंकि अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी में अवगहना के अनुसार क्रमशः हानि वृद्धि होती ही रहती है।

हां, उत्सेधांगुल-और प्रमाणांगुल अवस्थित तथा सदाकाल भावी हैं; इन दो अंगुलों में हानि-वृद्धि नहीं होती। फिर भी इन दोनों के परिमाण में भी बहुत अंतर है जैसे कि उत्सेधांगुल की लंबाई चौड़ाई जितनी नियत है उससे प्रमाणांगुल की लंबाई चौड़ाई हजार गुणी नियत है। अथवा यूँ समझिए ५०० धनुष की अवगहना वाले मनुष्य का जो आत्मांगुल है ठीक वह परिमाण प्रमाणांगुल जितना होता है।

७ हाथ की अवगहना वाले मनुष्य का आत्मांगुल दो उत्सेधांगुल के बराबर होता है।

आत्मांगुल का परिमाण और उसका प्रयोजन

जेण जया मणुस्सा तेसिं जं होइ माणरूवं तु।
तं भणिय मिहायंगुल भणिय पमाणं पुण इमं तु।
(बृहद्वृत्ति विशेषावश्यक, भाष्य)

जिस आरे में जो मनुष्य होते हैं उनके अपने अंगुल को आत्मांगुल कहते हैं। नगर निर्माण, स्कन्धावार, बाग बगीचे, भवन आदि की पैमायश आत्मांगुल से ही की जाती है। भरत चक्रवर्ती की राजधानी विनीता नगरी १२ योजन की लंबी और ९ योजन की चौड़ी थी; वैसे ही श्री कृष्ण वासुदेव की राजधानी द्वारकावती नगरी १२ योजन की लंबी और ९ योजन की चौड़ी थी। इन दोनों नगरियों की लंबाई चौड़ाई योजनों की अपेक्षा से एक सी है परन्तु विनीता नगरी ५०० धनुष की अवगहना वाले मनुष्य के आत्मांगुल के हिसाब से बनी हुई थी जब कि द्वारकावती नगरी १० धनुष की अवगहना वाले मनुष्य के आत्मांगुल से निर्मित थी; क्योंकि आत्मांगुल अनियत है।

संयतियों के लिए सूत्र में विधान है कि परम-अर्ध योजन तक आहारादि ले जा सकता है। और परम अर्ध (अधिक से अधिक आधा) योजन वाली चौड़ी नदी को नावा आदि के द्वारा पार कर सकता है, उपरान्त नहीं।

संयति के लिए ७२ हाथ से अधिक वस्त्र रखने का कल्प नहीं हैं, यह भी आत्मांगुल से ही समझना चाहिए। इन्द्रियों के विषय में प्रज्ञापना आदि सूत्रों में वर्णन है कि—चक्षुरिन्द्रिय १ लाख योजन से कुछ अधिक दूरस्थ पदार्थ को भी ग्रहण कर सकती है। श्रोत्रेन्द्रिय १२ योजन तक अपने विषय को ग्रहण कर सकती है शेष इन्द्रियां ९ योजन तक के विषय को ग्रहण कर सकती है।

यहाँ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण से प्रकाश्य द्रव्य का ग्रहण किया गया है प्रकाशक का नहीं। प्रकाशक सूर्य जैसे तेजस्वी द्रव्य के लिए यह नियम नहीं है। ऐसा विशेषावश्यक भाष्य में उल्लेख है।

उत्सेधांगुल का परिमाण और उसका प्रयोजन

८ यव के मध्य भाग की चौड़ाई जितना एक उत्सेध अंगुल होता है। अथवा पंचम आरे के दस हजार वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् स्वस्थ मनुष्य का जो आत्म-अंगुल होगा वह उत्सेधांगुल जितना होता है ऐसी धारणा चली आ रही है। उत्सेधांगुल से २४ अंगुलों का एक हाथ होता है (यह हाथ करीबन १ फुट का होता है) दो हाथ की कुक्षि, २ कुक्षियों का १ धनुष, अर्थात् ४ फुट का एक धनुष। २००० धनुष का १ कोस, ४ कोस का एक योजन।

सूत्रों में जहां कहीं भी जीवों की अवगहना बतलाई है वह इसी अंगुल से समझना चाहिए। "उस्सेहपमाणओ मिणसु देहं" अर्थात् शरीरों की अवगहना इसी उत्सेध अंगुल से नापी जाती है।

औपपातिक सूत्रमें कथन है कि ईषत्प्राग्भार पृथ्वी से १ योजन ऊपर अलोक प्रारंभ हो जाता है। यह योजन भी उत्सेध का ही समझना चाहिए क्योंकि योजन के चौथे भाग के ऊपर के छट्ठे हिस्से में ३३३ धनुष और १ धनुष का तीसरा भाग अर्थात् ३२ अंगुल की अवगहना वाले सिद्ध भगवान विराजमान हैं; अतः सिद्ध हुआ कि वह योजन भी उत्सेध का ही समझना चाहिए। वैक्रिय लब्धिधारी मनुष्य या देवता एक लाख (१०००००) योजन की अवगहना वाला लंबा शरीर बना सकता है, यह योजन भी उत्सेध का ही जानना चाहिए।

प्रमाणांगुल का परिमाण और उसका प्रयोजन।

उस्सेहंगुलमेगं हवइ पमाणंगुलं सहस्सगुणं।
नग-पुढवि-विमाणाइं मिणसु पमाणंगुलेणं ॥

(बृहद्वृत्ति विशेषावश्यक भाष्य)

उत्सेध अंगुल से हजार गुणा अधिक एक प्रमाणांगुल होता है। यदि उत्सेध हाथ एक फुट का है तो हजार फुट जितनी लंबाई प्रमाणांगुल की अपेक्षा से प्रमाण के एक हाथ की हुई। इसी प्रकार धनुष, कोस और योजन का हिसाब समझ लेना चाहिए। प्रमाणांगुल का प्रयोजन—प्रमाणांगुल से शाश्वत पर्वत,

पृथ्वियां, समुद्र, विमान इत्यादि की पैमायश की जाती है अर्थात् जहां कहीं भी सूत्रों में विमानों तथा पर्वतों की लंबाई चौड़ाई ऊँचाई का वर्णन मिलता है वह सब इसी अंगुल से है।

समुद्र की लंबाई चौड़ाई और गहराई का वर्णन, पृथ्वी की मोटाई, क्षेत्रों की लंबाई चौड़ाई तथा ग्रहों की लंबाई चौड़ाई और गहराई—इन सब की गणना या पैमायश सूत्रकारों ने इसी प्रमाण अंगुल से की है। शलाका आदि पल्य भी प्रमाणांगुल से ही समझना चाहिए क्यों कि उसका परिमाण अनुयोगद्वार सूत्र में एक लाख योजन का जम्बूद्वीप जितना बतलाया है।

अनुयोगद्वारसूत्र में उद्धारपल्य, अद्धापल्य और क्षेत्रपल्य का परिमाण जो एक योजन का लंबा चौड़ा और गहरा बतलाया है वह योजन उत्सेध-योजन से कुछ छोटा होता है। इसके लिए यह प्रमाण है कि भगवतीसूत्र शतक ६ठा उद्देश ७वां में पूर्व पश्चिम महाविदेह क्षेत्र के मनुष्यों के आठ वालाग्र जितनी एक लीख ऐसा उल्लेख मिलता है जब कि उत्सेध की गणना करते हुए अनुयोगद्वार सूत्र में पूर्व तथा पश्चिम महाविदेहवर्ती मनुष्य के ८ वालाग्र भरत तथा ऐरावतवर्ती मनुष्य के एक वालाग्र जितना होता है, ऐसा पाठ आता है। इससे यह ज्ञात होता हैं कि उत्सेध योजन से अद्धापल्य, उद्धार तथा क्षेत्र पल्यों का योजन कुछ कम होता है।

जैसे पल्य काल्पनिक है वैसे ही उस का योजन भी काल्पनिक ही है; जैसे काल्पनिक प्रमाण को सिद्ध करने के लिए काल्पनिक मापदण्ड और दृष्टान्त दिए जाते हैं वैसे ही यहां पर भी समझ लेना।

[पृष्ठ २४ से आगे]

बाईबिल को लोग कितने आदर की दृष्टि से देखते हैं इसका एक सबल प्रमाण यही है कि पिछले वर्ष जून १९५३ में जब इंगलैंड की रानी एलिजाबेथ का राज्याभिषेक हुआ था, राज्याभिषेक-विधि प्रारंभ होने के पहले इंगलैंड के नेशनल चर्च की ओर से उन्हें बाईबिल की एक प्रति भेंट में दी गई थी और वह प्रति भेंट करते हुए प्रधान पादरी ने बाईबिल के संबंध में कहा था—"The most valuable thing that this world affords." क्या भारतीय राजनीति के क्षेत्र में भी किसी धार्मिक ग्रंथ को इतना महत्वपूर्ण एवं आदरणीय स्थान प्राप्त है ? (कापी राइट)

—श्री महेन्द्र 'राजा' के सौजन्य से

काश्मीर की सैर

-पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री, बनारस

—गतांक से आगे—

बनिहाल में रात बिता कर दूसरे ही दिन प्रातः हम वहाँ से रवाना हुए। ५ बजे का समय था और शीत ऋतु का मौसम। अतः अन्य यात्री अभी आराम की नींद में सोये हुए थे। बस के चलने में कुछ विलम्ब जान कर हम लोग पैदल ही आगे बढ़े। बनिहाल के नीचे पहाड़ी नाला कलकल करता हुआ बह रहा था। और पत्थरों से टकराता हुआ शीतल जल दूध की उपमा धारण कर रहा था। नाले के पास ही धान के खेत लह लहा रहे थे और काश्मीरी किसान उन्हें अनायास ही नाले के पानी से भर रहे थे।

मार्ग चढ़ाई का था। डेढ़ मील पैदल चलने पर हमारी बस आगई और हम उसमें बैठकर आगे बढ़े। दाहिनी ओर पर्वतों की चोटियाँ बर्फ से ढकी हुई बड़ी सुहावनी प्रतीत हो रही थीं। यह दृश्य देखने का यह पहला ही अवसर था। सभी यात्री निर्निमेष दृष्टि से इस दृश्य को देखने में संलग्न थे और बस बराबर ऊपर की ओर चढ़ती जाती थी।

हमारे ड्राइवर ने बतलाया कि इन पहाड़ियों के पीछे से आकर कबायली लोगों ने हमला किया था। किन्तु भारत की सेना के पहुँच जाने से वे लोग अपने कार्य में सफल न हो सके। यहीं पर हमने वह स्थान भी देखा जहाँ से भारत सरकार काश्मीर जाने के लिए एक सुरंग का मार्ग तैयार कराने वाली है। उस स्थान पर साइनबोर्ड लगा हुआ था, नौ हजार फीट की ऊँचाई पर पहुँचने पर हमारी बस एक सुरंग से हो कर गुजरी। सुरंग से बाहर होते ही हमारी दृष्टि अत्यन्त हरे भरे प्रदेश पर पड़ी। यही काश्मीर की सुजला सुफला शस्य-श्यामला भूमि थी, जो किसी सुन्दर उद्यान की तरह प्रतीत होती थी।

मार्ग में एक स्थान पर बर्फ जमी हुई थी। ड्राइवर ने बस रोक दी और यात्रियों ने बर्फ का आनन्द लिया।

बेरीनाग

मार्ग से कुछ दूर हट कर एक दूसरा मार्ग बेरीनाग के लिए जाता है बेरीनाग झेलम नदी का उदगम स्थान है। यात्रियों के अतिरिक्त किराया

देने पर ड्राइवर ने अपनी बस बेरीनाग की ओर मोड़ी और आध घंटे में हम बेरीनाग जा पहुँचे ।

यहाँ एक अत्यन्त रमणीक गोलाकार तालाब है जो निर्मल जल से परिपूर्ण है। ५४ फीट गहरा होने से उसका जल एकदम नीला प्रतीत होता है। मछलियों का मारना निषिद्ध होने से मछलियों की बहुतायत है। इस तालाब से झेलम नदी निकलती है। जहाँगीर की बेगम साम्राज्ञी नूरजहाँ ने इस रमणीक स्थान को बनवाया था। फारसी में शिलालेख उत्कीर्ण है। काश्मीर में जो भी सुन्दर दर्शनीय उद्यान हैं वह प्रायः नूरजहाँ के बनवाए हुए हैं। वह इस प्रदेश के सौंदर्य पर मुग्ध थी। उसका यह कहना था कि यदि पृथ्वी पर कोई स्वर्ग है तो—वह यही है यही है।

तालाब का पानी अत्यन्त शान्त है और बराबर एक सा बना रहता है। जब कि उससे एक बड़े नाले के द्वारा अविराम गति से जलप्रवाह सदा चालू रहता है। यहाँ का जल बर्फ की तरह शीतल है। नाले के दोनों ओर सुन्दर उद्यान है, जिसमें रंग बिरंगे सुन्दर फूलों की बहार है। फलों के भी अनेक वृक्ष हैं। उस समय चेरी, आडू और खुब्बानी का मौसम था और वृक्ष उनसे लदे हुए थे। यहीं हमने सबसे पहले चिनार के वृक्ष देखे। काश्मीर में इनका बहुत ही महत्त्व है और इन्हीं की यहाँ बहुतायत है। इसका पत्ता मनुष्य के हाथ के फैलाये हुए पंजे की तरह होता है, परिमाण बड़ा विशाल और छाया बड़ी सुखद तथा सुहावनी होती है। बाजार में आप गब्दा, नम्दा या अन्य कोई दस्तकारी की वस्तु खरीदने जाएँ तो दुकानदार सामान दिखाते हुए कहेगा—देखिए, जनाब, इस पर चिनार का पत्ता बना हुआ है।

बेरीनाग के उद्यान में एक चश्मा भी है, जिसमें पृथ्वी से पानी आता है। इसका पानी पाचक बतलाया जाता है। बेरीनाग सचमुच में एक दर्शनीय स्थान है, इसे देखकर कोई भी इसे भूल नहीं सकता। तभी तो वह जहाँगीर की प्रेयसी नूरजहाँ की आँखों में खुबा था।

बेरीनाग से लौटकर हम पुनः पुराने मार्ग पर आगए और पहाड़ी मार्ग तय करके हमारी बस श्रीनगर की ओर जाने वाले राजमार्ग पर आगई। मार्ग में खानेवाल नामक स्थान पड़ता है यहाँ से एक ओर श्रीनगर को मार्ग जाता है और दूसरी ओर पहलगाँव को। हमें पहलगाँव जाना था अतः हम यहीं उतर गए और कुछ ही समय पश्चात् हमें पहलगाँव जानेवाली बस मिल गई। और हम दोपहर के बारह बजे पहलगाँव पहुँच गए।

मानव और शांति

–श्री बैजनाथ शर्मा

आज का मानव शांति चाहता है, परन्तु संसार का घटना-चक्र उसे प्रलयकारी घटनाओं से भयभीत कर रहा है। आक्रमणात्मक नीति, युद्ध, शोषण, भुखमरी, संकीर्ण राष्ट्रवाद और साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रतिस्पर्धात्मक नीति मानवता को आतंकित किये हुए हैं। मानवीय भावनाओं का क्रमागत लोप होता जा रहा है। पारस्परिक प्रेम, विश्वास, न्याय, बन्धुत्व, सहयोग, समता, नैतिकता, और सेवा का स्थान द्वेषात्मक प्रवृत्ति, अविश्वास, अन्याय वैर, असहयोग, असमता, अनैतिकता और स्वार्थमयी प्रवृत्तियाँ ले रही हैं। जाति, वर्ण, भाषा, धर्म, और मत-मतान्तर वाद ने मानव-मानव के बीच एक विस्तृत खाई निर्मित कर दी है। धन-वैभव और भौतिक-लिप्साओं के प्यासे राष्ट्रों ने सम्पूर्ण मानवता के संहार के उपकरण आविष्कृत किये हैं। मानव और सभ्यता का अस्तित्व संकटमय स्थिति में आ गया है। यह सब कुछ क्यों?

इस समस्त वातावरण के निर्माण के लिए आज का शुष्क बुद्धिवाद उत्तरदायी है। सोलहवीं शताब्दी के बाद आधुनिक विज्ञानवाद पनपा। मानव को नए नए आविष्कारों ने चका-चौंध में डाल दिया। अनेक उपयोगी उपकरणों से युक्त किया, परन्तु इन सबके बावजूद मानव ने एक महान निधि खो दी। वह निधि थी मानव की सहृदयता। जड़वाद, सापेक्षवाद, विकासवाद आदि सभी 'वाद' विज्ञानवाद अथवा बुद्धिवाद की उपज हैं। परन्तु बुद्धि की पहुँच सीमित और प्रत्यक्ष तक है। इससे परे जो 'सत्ता' हैं उस तक बुद्धि नहीं पहुँच पाती। वहां हृदय की गति ही संभव है। इस 'सत्ता' के स्वरूप और स्थितियों में भेद हो सकता है परन्तु वह निर्विवाद रूप से सभी भारतीय विचारधाराओं में प्रतिष्ठित थी। चार्वाक को छोड़कर कोई ऐसा विचारक नहीं हुआ, जिसने इस 'सत्ता' के अस्तित्व को चुनौती दी हो।

परन्तु आज के विज्ञानवाद और जड़वाद ने मानव को तर्क के शुष्क जगत में ढकेल कर उसकी आस्था और विश्वास छीन लिया है। इसका अभाव ही

मानव की इस अशान्ति का कारण है। इस सत्य की परीक्षा इससे ही की जा सकती है कि आज भी भारत अथवा पूर्वीय देश आधुनिकतम वैज्ञानिक सुविधाओं के अभाव में जितने सन्तुष्ट और सुखी हैं, उतना पश्चिम का जड़-जगत सभी वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ भी नहीं। वहाँ के व्यक्तियों का मानसिक सन्तुलन बिगड़ गया है। इमीलकुए के विचार हमें बिल्कुल सत्य प्रतीत होते हैं कि आधुनिक सभ्यता का विकास ज्यों ज्यों होगा, त्यों त्यों मानव-मस्तिष्क मानसिक-रोगों से ग्रसित होता जाएगा। आज अमेरिका के प्रकाशित आंकड़ों से यह बात स्वयं प्रमाणित हो रही है। वहाँ मानसिक-रोगियों की संख्या संसार में सबसे अधिक है।

आज की अशान्ति व्यक्तिगत अशान्ति का प्रतीकात्मक पुंज है। यदि व्यक्ति को शान्ति दी जा सके तो समाज भी शान्तिमय बनाया जा सकता है क्योंकि समाज भी तो व्यक्तियों का ही समुदाय है। इस व्यक्ति विशेष की शान्ति के लिए हमें उसे वे मूल्य फिर से प्रदान करने हैं, जिन्हें वह विज्ञान के प्रसार और प्रकाश में भूल चुका है। मानव को हमें आत्म-विश्वास, आस्तिकता, सहृदयता, सदाचार, सम्यक्ज्ञान, सम्यक् व्यवहार और जीव-जीव के प्रति प्रेमभाव के दर्शन कराने होंगे। उसमें वे मान्यताएँ लानी होंगी जिन्हें उसके हृदय में प्रतिष्ठित कर उसे फिर से नई अनुभूति की ओर प्रवृत्त किया जा सके। यह कार्य धर्म कर सकता है। भारत को यह गौरव प्राप्त है कि वह मानव-जाति को यह शिक्षा-दीक्षा दे सके। हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों की त्रिवेणी में मानव अवगाहन कर इन विस्मृत मूल्यों को पुनः पहचान सकता है। यदि उसे सच्चे अर्थों में मानव बनना है, मानव जीवन को वास्तविक और शाश्वत शान्ति का रसास्वादन करना है और संसार को स्थायी शांति प्रदान करना है, तो उसे यह कार्य करना ही होगा।

इस प्रकार का कार्य करने से ही आज का संघर्ष, अशान्ति और संसार का संहार रोका जा सकता है। इस नवीन-प्रकाश (जो पूर्व के लिए नवीन नहीं है) में राष्ट्रीयता जन्य संकीर्णता, जाति और वर्ण के संकुचित झगड़े सदा-सदा के लिए इस जगत से तिरोहित हो जायँगे। निरन्तर साहचर्य, पारस्परिक सद्भाव, सहयोगात्मक व्यवहार, सच्चाई, न्याय, सहिष्णुता, सहानुभूति, सेवा, निःस्वार्थ भावना, सम-दृष्टि और सरलता के पूर्ण वातावरण में ही मानवता सुख की साँस ले सकेगी।
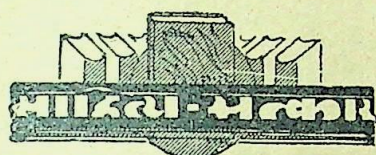
विपाक सूत्रम् ।

अनुवादक—ज्ञानमुनि जी, प्रकाशक—जैनशास्त्रमाला कार्यालय, जैनस्थानक, लुधियाना (पंजाब)

प्रस्तुत सूत्र देवर्धिगणी द्वारा संगृहीत आगमसूत्रों में से ११ वां अंग है। इसपर प्राचीन और अर्वाचीन कई टीकाएँ उपलब्ध हैं! प्रतिपाद्य विषय पुस्तक के नाम से ही गम्य है। इसमें सुकृत–दुष्कृत का दृष्टान्तों द्वारा वर्णन है। जैन सिद्धान्त में कर्मों का वर्गीकरण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश विभागों में बन्ध की अपेक्षा से किया गया है। इन विषयों की चर्चा कर्मप्रकृति, महाबंध, षट्खंडागम, कर्मकाण्ड वगैरह में सैद्धान्तिक दृष्टि से की गई है। किन्तु उक्त सूत्रग्रंथ में उसी विषय को दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादन किया गया है। 'दृष्टान्ते हि मतिः स्फुटा भवति' दृष्टान्त के मिलने पर बुद्धि निर्मल होती है। विशेषरूप से साधारण बुद्धि के मनुष्यों को दृष्टान्तों द्वारा ही प्रतिबोध मिलता है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विपाकसूत्र सर्वथोपयोगी है। स्थानकवासी श्रमणसंघ के आचार्य आत्माराम जी तथा उनके शिष्यों की ज्ञानाराधना से जैन समाज सुपरिचित है। इस ग्रन्थ का अनुवाद ज्ञानमुनि जी ने किया है। लेखक का यह प्रथम प्रयत्न प्रतीत होता है। उनके इस संस्करण से सब प्रकार के पाठकों को लाभ होगा। भूमिका साधारण है। कर्म विपाक पर जैनाचार्यों ने बहुत गंभीर विवेचन किया है। उस सबका उल्लेख आवश्यक था। फिर भी लेखक ने संतोष-जनक सामग्री एकत्रित की है। अन्त में ७ पेजका शुद्धिपत्रक बहुत खटकने वाला है। हमारे सम्पादक कार्यों में यह एक प्रथा सी बनती जा रही है। इससे ग्रन्थ का महत्व बहुत घट जाता है और पाठकों को अत्यन्त कठिनाई भी अनुभव में आती है। पुस्तक संग्रह करने योग्य है। प्रत्येक जैन-अजैन पुस्तकालयों को इसकी एक २ प्रति खरीदनी चाहिए।

—प्रो० विमलदास कौंदिया एम० ए०

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामन्डी; आगरा के तीन नए प्रकाशन

जीवन-दर्शन—पृष्ठ ३८५, मूल्य ४) रु० पक्की सुन्दर जिल्द

सत्य-दर्शन—पृष्ठ २३५, मूल्य २।।) रु० सुन्दर जिल्द

सन्मति-महावीर—पृष्ठ १४८, मूल्य १।) रु० सुन्दर जिल्द

जीवन-दर्शन और सत्य-दर्शन कविवर मुनि श्री अमरचन्द जी महाराज के प्रवचनों का संग्रह है। संपादक हैं–पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल।

जीवन-दर्शन में सामाजिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन और सांस्कृतिक जीवन को लेकर कुल २० प्रवचन हैं। जिनमें मानव जीवन से संबन्ध रखने वाले पहलुओं पर बड़े ही सरल-सरस ढंग से विचार रखे हैं। जीवन शोधन और जीवन दिशा की दृष्टि से इनका ख़ास महत्व है। कवि जी की सरल, सरस और हृदयग्राही वाणी श्रोता और पाठक के मन पर सीधे असर करती है। पुस्तक एक बार शुरू करके छोड़ने को जी नहीं चाहता।

सत्य-दर्शन में सत्य को भगवान कहा है, मानवता और साधना का तो यह आधार ही ठहरा। मानव जीवन की सत्य ही सरस सुन्दर सुगन्ध है। "पढ़ते समय कुछ ऐसा जान पड़ने लगता है, जैसे चिन्तन की गहराइयों में हम सहज भाव से उतरते हुए सत्य के दिव्य प्रकाश के समीप शनैः शनैः पहुँच रहे हों।" यह है इन प्रवचनों की विशेषता। स्वयं कवि जी इनके प्रवक्ता हैं। भाषा की सरलता, सरसता और प्रवाह सभी मनोहारी हैं।

'सन्मति-महावीर' के लेखक हैं—कविजी का अनुसंचरण करने वाले उनके उदीयमान शिष्य मुनि श्री सुरेशचन्द्र जी। 'सन्मति-महावीर' से आपकी साहित्य-रसिकता का अच्छा परिचय मिलता है। भगवान महावीर के जीवन को एक नई ही संक्षिप्त शैली में उपस्थित किया है। अवश्य ही पढ़ने को दिल चाहता है। और एक नई भावना जागृत होती है। इसको देखकर विचार आता है कि इसी ढंग का किन्तु मोटे टाइप में सरल-सरस संस्करण 'सन्मति-महावीर' का बच्चों के लिए लिखा जाए, तो कितना अच्छा हो।

तीनों प्रकाशन सन्मति ज्ञानपीठ आगरा के हैं। इसीलिए इनकी छपाई सफाई और गेट अप-के विषय में अधिक कहने-सुनने की जरूरत नहीं। ज्ञानपीठ ने थोड़े ही दिनों में जनता के सामने जो सरस-सुन्दर साहित्य रखा है, उसका अपना स्थान है। सचमुच ज्ञानपीठ के मनोहर प्रकाशनों ने हिन्दी के गले के हार की शोभा बढ़ा दी है। इसका एक एक प्रकाशन चुना हुआ और पढ़ने योग्य है।

बाहुबली और नेमिनाथ

प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली, मू०।=)

इन्हीं दिनों भाई श्री यशपाल जी के पत्र के साथ एक छोटी सी पुस्तक मिली। पृष्ठ सिर्फ ३२ हैं। नाम है 'बाहुबली और नेमिनाथ'। लेखक हैं—श्री माईदयाल जैन। जो वर्षों तक शिक्षक रहने के नाते जानते हैं कि दूसरों के दिल में कोई बात सरलता से कैसे बैठाई जा सकती हैं। पुस्तिका जन साधारण के लिए लिखी गई है। भाषा सरल और मधुर है। गेट-अप बड़ा सुन्दर है। थोड़े में कह सकते हैं कि—

१. पुस्तक उपहार में देने योग्य है।

२. पुस्तक सर्व साधारण में बाँटने योग्य है।

३. पुस्तक लड़के-लड़कियों को पुरस्कार में देने के लिए ठीक है।

४. अजैनों को भेंट देने योग्य है।

५. स्कूलों की कक्षा, लायब्रेरियों में रखने योग्य है।

६. मंदिरों और शास्त्र भंडारों में रखने योग्य है।

सबसे बड़ी बात है, मनोरंजन के साथ पाठक के मन पर सुसंस्कारों की छाप पड़ना।

हम सुशील कैसे बनें ?

लेखक—आत्मनिधि श्री त्रिलोकचन्द्र जी महाराज। पता—सोहनलाल जुगलकिशोर जैन, तालाब मन्डी, लुधियाना। मूल्य ।)

पुस्तक के नाम से एक बार ऐसा लगता है कि यह जन साधारण के उपयोग की होगी। कमसे कम लिखी गई तो इसी भावना से लगती है। पर गाथाओं, और टीकाओं के उद्धरणों की बहुलताने इसे गहन सा बना दिया है। सब कोई रस नहीं ले सकता। मन लगाकर कोई पढ़ना चाहे, तो भले ही शास्त्रीय ज्ञान मिल सकता है। शास्त्रों में सुशील और कुशील किसे कहते हैं, इस बात का अच्छा ज्ञान हो सकता है। अच्छा तो यह है कि इसी चीज़ को सीधी सादी भाषा में फिर से रखा जाय तो अधिक लाभ हो सकेगा।

आशा है आत्मनिधि जी लेखनी उठाते समय अपने सामने जनहिताय की भावना को रखेंगे, तो रास्ता अपने आप मिल जाएगा। प्रयत्न अच्छा है। उत्साह बनाए रखना चाहिए।

—कृष्णचन्द्राचार्य

वीर धर्म की कहानियाँ

मूल लेखक—जयभिक्खु, अनुवादक—मोहनलाल मेहता एम० ए०, प्रकाशक—गुर्जर ग्रंथ रत्न कार्यालय, गांधी रास्ता, अहमदाबाद; मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक में गुजराती के सुप्रद्धि लेखक श्री जयभिक्खु की १४ कहानियाँ हिन्दी रूपांतर में संगृहीत की गई हैं। ये सभी कहानियाँ पहले कई पत्रों में प्रकाशित एवं पाठकों द्वारा प्रशंसित हो चुकी हैं। जयभिक्खु की कल्पनाशक्ति बड़ी प्रखर एवं दृष्टि बड़ी पैनी है। इतिहास के गहन अंधकार में प्रवेशकर उसमें से रत्नों को चुन लेना उनकी एक विशेषता है, जिसे अंगरेजी के माडर्न रिव्यू जैसे पत्रों ने भी स्वीकार किया है। ऐतिहासिक और पौराणिक इन कहानियों की रचना लेखक ने इस कुशलता से की है कि पाठक एक बार कहानी शुरू कर उसे समाप्त किए बिना नहीं छोड़ता। कहानियों का हिन्दी अनुवाद बड़ा सफल रहा है। मूल कहानियों का भाव-केन्द्र अनुवाद में दूर नहीं हो पाया है, यही अनुवाद की सफलता है जिसके लिए मेहता जी बधाई के पात्र हैं।

—महेन्द्र राजा

साहित्य-स्वीकार

(समालोचना के लिए दो प्रतियाँ आनी चाहिए)

श्री नरभेराम हंसराज कमाणी, जमशेदपुर (बिहार)

२ मंगल-विहार (गुजराती) भेंट—श्री जगजीवन जी महाराज

सुमति सदन, कोटा (राजस्थान)

१ प्रतिष्ठा-लेख-संग्रहः ५)—उपाध्याय श्री विनयसागर जी

१ अरजिनस्तवः— × ,, ,,

श्री जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस-५

२ मगध १)—श्री बैजनाथ सिंह

जैन शास्त्रमाला कार्यालय, जैन स्थानक, लुधियाना

२ आस्तिक-नास्तिक समीक्षा—≡)—आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

विश्ववात्सल्य कार्यालय, हठीभाई नी वाडी, अहमदावाद

१ निर्माण (गुज०) १≡)—नवलभाई शाह
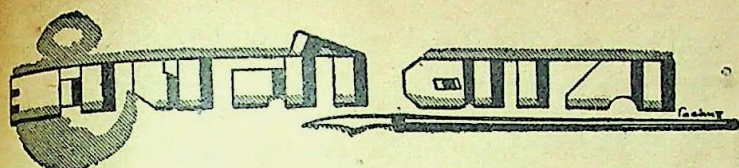
उवसमसारं सामण्णं

श्रमणता (श्रमणपन) का सार ही उपशम—शान्ति या क्षमाभाव है। "जैसे मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता, वैसे किसी जीव को भी नहीं लगता। यह जानकर जो न स्वयं किसी को मारता है, और न मारने की प्रेरणा करता है, सभी के प्रति समभाव रखता है—सचमुच वही श्रमण है।" इसी तरह—"सुमन—जिसका मन अच्छा है, जो विचारों से भी कभी बुरा नहीं सोचता, अपने और पराए पर समान दृष्टि रखता है, तथा मान और अपमान में एक सरीखा रहता है—वही तो श्रमण है।"

श्रमण की इस सुघटित व्याख्या का सारा निचोड़ "उवसमसारं सामण्णं" ऊपर के इस छोटे से एक ही वाक्य में आ जाता है। और यह पता लग जाता है कि वास्तव में श्रमणता है क्या चीज़। आचार्य अमितगति के नीचे कुछ श्लोक दिये जाते हैं, जिनमें श्रमणता और भी झलक उठी है—

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेष-ममत्व-बुद्धेः, समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ! ॥३॥
एकेन्द्रियाद्या यदि देव! देहिनः, प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता—स्तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥५॥

हे नाथ! सब तरह से ममत्व बुद्धि हट जाने से मेरा मन दुःख, सुख, वैरी, बन्धुजन, संयोग, वियोग, महल और जंगल—सब में सदा ही समान रहे। हे देव! इधर-उधर प्रमाद से चलते-फिरते मेरे से यदि एकेन्द्रिय आदि प्राणी क्षत हुए हों—उन्हें चोट पहुँची हो, टुकड़े किये गए हों, निर्दयता से आपस में मिला दिये हों, कि बहुना, किसी भी तरह से पीड़ित किये हों, तो वह सब दुष्ट आचरण मिथ्या हो ॥३, ५॥

और भी देखिए—

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्धं, तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥
सर्वं निराकृत्य विकल्प-जालं, संसार-कान्तार-निपात-हेतुम्।
विविक्त-मात्मान-मवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्म-तत्त्वे ॥२९॥

भला यह आत्मा—जिसकी अपने शरीर के साथ भी एकता नहीं; पुत्र, स्त्री और मित्र आदि का कैसे बन सकता है ? शरीर से चमड़ी हट जाने के बाद रुएँ ठहर ही कैसे सकते हैं ?

हे आत्मन् ! भव-जंगल में भटकाने वाले सारे संकल्प-विकल्पों को हटाकर अपने आपको सबसे अलग समझता हुआ परमात्म-तत्त्व में लीन हो जा ! ॥२७, २९॥

अन्त में आत्मा ही जिम्मेवार ठहरता है—

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेव-मनन्य-मानसः, परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम् ॥३१॥

जो अपने पहले के किये हुए कर्म हैं, उन्हीं का अच्छा-बुरा फल मिलता है। यदि दूसरे का दिया हुआ फल मिलता, तो अपना किया हुआ कर्म तो निरर्थक ही हो जाता ।

जीव के अपने किये कर्म को छोड़कर दूसरा कोई किसी को कुछ भी नहीं देता। इस तरह एक मन से विचार कर 'दूसरा फल देता है' इस समझ को ही हटा दे ॥३०,३१॥

श्रमण धर्म की इतनी कुछ व्याख्या के बाद यह कहा जा सकता है कि दूसरे का भरोसा न रखकर सब तरह की अच्छाई-बुराई के लिए अपने आपको जिम्मेवार समझ लेना ही सबसे अच्छा मार्ग है । अपने आपको जिम्मेवार बनाए बिना न तो कोई काम ही हो सकता है, और न कहीं सफलता ही मिल सकती है। यहाँपर भी यदि परमात्म-तत्त्व को पाना है, तो श्रमण धर्म अपनाना होगा। इसके बिना कल्याण हो नहीं सकता। यह दृष्टि भी बिना पर्युपशमन—कषायों—मानसिक विकारों को पूरे तौर पर उपशमन—शान्त किये बिना मिल नहीं सकती। इसीलिए पज्जोसवणा—पर्युपशमना को सबसे उत्तम पर्व कहा है । पर्युपशमना का प्राकृत शब्द पज्जोसवणा, पज्जोसणा बदलते बदलते पज्जुसण शब्द बन गया है। और इसी पज्जुसण का फिर से संस्कृत में पर्युषण हो गया है । ऐसा प्रतीत होता है।

पर्युषण या पर्युपशमन

समूचे जैन समाज में आज भी पर्युषण पर्व का सबसे अधिक महत्त्व है। पर्युषण शब्द के कई तरह से अर्थ किए जाते हैं, परि—समन्तात् उष्यते—निवासः

क्रियते आत्मगुणेषु इति परिवसनम्। जिनदिनों आत्मगुणों में भली भांति वास किया जाता हो, उसे पर्युषण कहते हैं। ऐसा अर्थ करने वाले यह नहीं जानते कि पर्युषण शब्द नहीं बनता, बल्कि 'परिवसन' ही हो सकेगा।

परि—समन्तात् उष्यते—दह्यते कर्म इति परि + उषणम् = पर्युषणम्। जप तप आदि से जिन दिनों कर्म जलाए जाते हों, उसे पर्युषण कहते हैं। इस तरह से पर्युषण शब्द तो बन जाता है। पर केवल जप तप आदि से ही कर्म जल जाते हों, यह विचारणीय है। कोई यह भी कहते हैं कि परि—समन्तात् उष्यते—तप्यते इति पर्युषणम्। इन दिनों तपस्या खूब करनी चाहिए, इससे भी आत्मा शुद्ध बनता है। क्योंकि आत्मशुद्धि के लिए तपस्या बहुत बड़ी चीज है।

हमारा इन सब अर्थों के साथ कोई विरोध नहीं है। और न इन अर्थों में हम कुछ असंगति ही देखते हैं। पर सबसे बड़ी बात यह है कि क्या कषायों—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक विकारों का उपशमन किए विना आत्मगुणों में निवास हो सकता है; क्या कर्मों को जलाया जा सकता है; अथवा बड़ी से बड़ी तपस्या भी कषायों के रहते क्या तपस्या कहला सकती है? यही कुछ प्रश्न हैं।

जैन शास्त्रों की यह एक छोटी सी कसौटी है कि जो व्यक्ति एक साल के अन्दर अन्दर बड़े से बड़े विरोध या किसी तरह की मानसिक गांठ को अपने मन से नहीं हटा सकता, दूसरे की बड़ी से बड़ी भूल को क्षमा नहीं कर सकता—वह साधु या श्रावक बनना तो दूर रहा, साधारण जैन—सम्यग्दृष्टि भी नहीं बन सकता। क्योंकि जो कषाय एक साल से अधिक समय तक रहता है, वह अनन्तानुबन्धी का कषाय कहलाता है। अनन्तानुबन्धी का कषाय रहने पर सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, मिथ्यादृष्टि ही कहलाएगा। एक साधारण जैन बनने के लिए सम्यग्दृष्टि होना जरूरी है और सम्यग्दृष्टि बनने के लिए एक साल के अन्दर बड़े से बड़े क्रोध आदि कषायों का उपशमन करना ही चाहिए। यह है इस पर्युपशमन—पर्युषण का असली रहस्य। सच पूछा जाय तो पर्युपशमन के बिना न तो आत्मगुणों का लाभ ही हो सकता है, कर्म भी नहीं जलाए जा सकते और कोई भी तपस्या तपस्या नहीं कहला सकती, उसे कायक्लेश भले ही कह सकते हैं।

अतः पर्युपशमन—सब तरह से शान्ति वा क्षमाभाव को अपनाना ही पर्युषण शब्द का मूल अर्थ हो सकता है। जप-तप आदि दूसरे सभी धार्मिक विधि-विधान तो इसकी शोभा के लिए हैं। कम से कम एक वर्ष के बाद आने

वाले पर्युषण पर्व के अवसर पर तो बड़े से बड़े वैर-विरोध व अपराधों को सच्चे हृदय से भुला कर अपनी आत्मा को शुद्ध कर ही लेना चाहिए। यह सारी जिम्मेवारी उस व्यक्ति की अपनी है, जो सचमुच ही परमात्म-मार्ग का अनुगामी बनना चाहता है। समाज और राष्ट्र के हितमें भी इस पर्व का बड़ा उपयोग हो सकता है। आज तो विश्व के कल्याण के लिए भी इसकी आवश्यकता है।

—सांवत्सरिक पर्व २-९-५४

परम स्तुत्य विचार

हमें यह प्रकाशित करते हुए बड़ा हर्ष होता है कि जैन संस्कृति संशोधन मण्डल (Jain Cultural Research Society) बनारस ने श्रद्धेय महापंडित सुखलाल जी संघवी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का प्रस्ताव पास किया है। बहुत ही शीघ्र यह प्रस्ताव कार्यरूप में परिणत होने वाला है।

श्रद्धेय पं० जी के व्यक्तित्व व उनकी सेवाओं से कौन परिचित न होगा? ऐसे युग पुरुष को उनकी महान सेवाओं के बदले दिया ही क्या जा साकता है। अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके भी उनसे कुछ और प्राप्त करना ही है। हमें पूरी आशा है कि मण्डल (सोसायटी) इस परम स्तुत्य कार्य को बड़ी लगन के साथ पूरा करेगा और सफलता प्राप्त होगी। निःसन्देह अभिनन्दन ग्रन्थ एक अनूठी वस्तु होगी।

श्रद्धेय पं० जी के प्रेमी धनी मानी विद्वान जन इस अवसर पर अपना कर्तव्य पूरा करने में कोई कसर न उठा रखेंगे, हमें इस बात की पूरी आशा है।

जापान से जैनदर्शन के लिए

यह प्रसन्नता की बात है कि ओकासा (जापान) के निवासी श्री अतसुशी यूनो बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के दर्शन विभाग में जैन दर्शन का विशेष अध्ययन करने के लिए आए हैं। और आप प्रो० विमलदास कोंदिया जैन एम०ए०, एल०एल०बी० के पास अभ्यास करेंगे। भारतीय सरकार ने आपको इस अध्ययन के लिए २००) रु० मासिक की छात्रवृत्ति दी है। हम आप के जैन दर्शन संबन्धी प्रेम व उत्साह की प्रशंसा करते हैं। आप का विशेष परिचय फिर कभी देने का प्रयत्न करेंगे।

—कृष्णचन्द्राचार्य

समिति के अधिवेशन

श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति की प्रबन्धकारिणी कमेटी और समिति का वार्षिक साधारण अधिवेशन तारीख २२ अगस्त १९५४ रविवार को अमृतसर में नियत समय और स्थान पर हुआ। स्थायी प्रधान श्री त्रिभुवननाथ जी की अनुपस्थिति में लाला हंसराज जी जैन सभापति चुने गए थे। लाला मुनिलाल खजांची, ला० शादीलाल जैन बी० कॉम०, ला० मोतीलाल गुजरांवाला वाले (हाल में आगरा) ला० मोतीलाल अमृतसर, ला० राजकुमार और मंत्री श्री हरजसराय जैन उपस्थित थे। सन् १९५३ की पन्द्रहवीं रिपोर्ट और पड़ताल हुए हिसाब को तथा उपस्थित बजट बाबत सन् १९५४ को दोनों अधिवेशनों ने स्वीकार किया। यह भी निश्चय किया कि भविष्य के लिए स्थानीय आडिटर नियत किये जाएँ।

अधिवेशन ने जमीन और जैन साहित्य के इतिहास की तैयारी के संबंध में उत्तरोत्तर समाचार और प्रगति की रिपोर्ट पर संतोष प्रकट किया। अन्तिम के संबंध में श्री मोहनलाल मेहता की व्यवस्थापक रूप में नियुक्ति पर भी संतोष प्रकट किया गया। इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया अमृतसर में समिति का हिसाब खोलने का निर्णय हुआ। यह भी आज्ञा दी गई कि नियमावली के बारे में जो संशोधन और उपनियम समिति स्वीकृत कर चुकी है, उन्हें प्रकाशित कर दिया जाए। ब्यौरे के अनुसार पुराने लेख्य (Record) को नष्ट कर देने की आज्ञा दी गई। क्योंकि रसीदें तथा Pay-orders के Counter-foil, पार्श्वनाथ विद्याश्रम के हिसाब की मासिक Statements और बिल, तथा पुराना पत्र व्यवहार आदि २ लेख्य संभालकर रखने की अब जरूरत नहीं है।

अधिवेशन के शुरू में सर्वप्रथम नीचे लिखे महानुभावों के स्वर्गवास पर शोक और उनके परिवारों के साथ समवेदना का प्रस्ताव पास किया गया—

१. रायसाहब टेकचन्द जी जैन, अमृतसर
२. श्री रामलाल जी जैन (फर्म रामलाल शोरीलाल), अमृतसर
३. श्री चूनीलाल नाग जी वोरा, राजकोट

—ये तीनों महानुभाव समिति के सदस्य थे।

४. रायबहादुर सेठ कन्हैयालाल जी भंडारी, इन्दौर
५. रायसाहब सेठ जमनालाल जी कीमती, इन्दौर

६. रायबहादुर दीवान बिशनदास साहब, जम्मू
७. लाला उत्तमचन्द जी लिगा (रावलपिंडी वाले) देहली

समिति की प्रबंधकारिणी के निम्नांकित सदस्यों का नया चुनाव किया गया—

आजीवन सदस्यों में से १४—

१. श्री त्रिभुवननाथ, कपूरथला
२. श्री मुनिलाल जैनी, अमृतसर
३. श्री हंसराज जैन, गुरु बाजार वाले
४. प्रो० मस्तराम जैन, अमृतसर
५. श्री लक्ष्मीचन्द जी, अम्बाला शहर
६. श्री कुंजलाल ओसवाल, देहली
७. श्री शादीलाल जैन, खार (बम्बई)
८. श्री जगन्नाथ जैनी, खार (बम्बई)
९. श्री रतनलाल शेशमल, बांद्रा (बम्बई)
१०. श्री रामजीदास जी जिन्दल, नई देहली
११. श्री बंसीलाल जैन, होशियारपुर
१२. श्री हरजसराय जैन, अमृतसर
१३. श्री टेकचन्द जी फगवाड़े वाले, देहली
१४. श्री हीरालाल जी जैन, लुधियाना

साधारण सदस्यों में से ८—

१. श्री विद्याप्रकाश जैन B. A. LL. B., अम्बाला शहर
२. श्री शोरीलाल जैन, कपूरथला
३. श्री अमृतलाल जैन B. A., LL. B., कलकत्ता
४. श्री अमरचन्द जी, मालेरकोटला
५. चौधरी प्यारेलाल जी, पटियाला
६. श्री रत्नचन्द जैन M. A., लुधियाना
७. शादीलाल जैन B. Com., अमृतसर
८. श्री भूपेन्द्रनाथ जैन B. Sc., अमृतसर

अन्त में पुरानी कमेटी के प्रति धन्यवाद का प्रस्ताव लिखकर सभापति जी का आभार मानकर अधिवेशन की कार्यवाही समाप्त हुई।

—मंत्री.

—]❀[—

श्रमण

सम्पादक
पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अंक
१२

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस-५

इस अंक में—

श्री विजयवल्लभ सूरि जी का स्वर्गवास !

सुविख्यात जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि जी महाराज का ता० २२ सितम्बर १९५४ को बम्बई में स्वर्गवास हो गया। श्वेताम्बर जैन समाज में आप का बड़ा प्रभाव था। आपने जीवन में धर्म व समाजोपयोगी कई महत्व के कार्य किए। अनेक जैन शिक्षण संस्थाएँ स्थापित कराईं। जिनमें बम्बई का सुप्रसिद्ध महावीर विद्यालय और अंबाला का जैन कालेज आदि हैं। सारे भारत में शोकसभाएँ बुला कर आप को श्रद्धांजलियाँ दी गईं। आप के स्मारक के लिए कई तरह की योजनाएँ चल रही हैं। आप बाल ब्रह्मचारी थे। अवस्था ८४ वर्ष के लगभग थी। हम दिवंगत पवित्र आत्मा के कल्याण की कामना करते हैं और अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

—व्यवस्थापक, 'श्रमण'

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—कृष्णचन्द्राचार्य,
अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मुखपत्र

वर्ष ५ अक्टूबर १९५४ अंक १२

वीरत्थुई—वीरस्तुति

—गतांक से आगे—

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तमबंभचेरं, लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥२३॥
ठिईण सेट्ठा लव सत्तमा वा सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा ।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी ॥२४॥

—अभय दान—किसी को भय से रहित करना सब दानों में उत्तम है। अनवद्य सत्य—निर्दोष सत्य—जो सत्य होकर भी प्रिय हो और सत्य हो—सबसे अच्छा है। सब तपों में ब्रह्मचर्य तप ही बढ़कर है। इसी तरह श्रमण ज्ञातपुत्त—भगवान महावीर भी लोगों में उत्तम थे।

—आयुष्मानों में जैसे पाँच अनुत्तर विमानों में रहने वाले लवसप्तम देव—सिर्फ सात क्षण ही आयु और होती तो मुक्त हो जाते—श्रेष्ठ हैं। सभाओं में जैसे सौधर्म इन्द्र की सभा श्रेष्ठ है। विश्व के सभी धर्मों में जैसे निर्वाण की श्रेष्ठता है। इसी तरह ज्ञातपुत्र से बढ़कर कोई सच्चा ज्ञानी नहीं ॥२३-२४॥

पुढोवमे धुणइ विगय गेही, न सण्णिहिं कुव्वइ आसुपन्ने ।
तरिउँ समुद्दं च महाभवोघं, अभयं करे वीर अणंतचक्खू ॥२५॥
कोहं च माणं च तहेवमायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ।
एयाणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥२६॥

°—पृथ्वी की तरह सबके लिए सहारा या सब कुछ सहन करने वाले वे वीर—भगवान महावीर कर्मरज को झाड़ने वाले थे। वे आशुप्रज्ञ—सूक्ष्म ज्ञानी विगत-गृद्धि—लोभ लालच के न रहने से किसी तरह की भी संनिधि—संचय नहीं करते थे। और वे अनन्त चक्षु—अनन्तदर्शी अपार संसार समुद्र को पार करके अभयंकर सब जीवों के डर को दूर करने वाले थे।

—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार अन्दरूनी दोषों को वमन करके वे अर्हन्त महर्षि न तो स्वयं पाप करते थे और न किसी दूसरे से ही कराते थे ॥२५-२६॥

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्व वायं इति वेदइत्ता, उवट्ठिए संजम दीहरायं ॥२७॥
से वारिया इत्थी सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता आरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥२८॥

—वे भगवान् महावीर क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानियों के पक्ष को जानकर या यों कहें कि सभी वादों को ठीक तरह से पहचान कर दीर्घरात्र—जीवन पर्यन्त संयम में उपस्थित रहे।

—उपधानवान्—तपस्वी प्रभु महावीर ने सभी दुखों से छुटकारा पाने के लिए रात्रि भोजन के साथ ही स्त्री संभोग आदि का त्याग करके तथा इस लोक और परलोक को पहचान कर बाह्य पदार्थों का सर्वथा निवारण कर दिया था ॥२७-२८॥

अन्त में आर्य सुधर्म स्वामी अपने अन्तेवासी शिष्य जम्बू को कहते हैं—

सोच्चा य धम्मं अरहंत भासियं,
समाहियं अट्ठपदोविसुद्धं।
तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ,
इंदा व देवाहिव आगमिस्संति-त्तिबेमि ॥२९॥

—समाहित—समाधान से युक्त अर्थ एवं अष्ट पदों से विशुद्ध ऐसे अर्हन्त के कहे हुए धर्म को सुन करके उसपर श्रद्धा लाने वाले जन या तो देवों के अधिपति इन्द्र बनते हैं, अथवा अनायुष—आयुरहित होकर मुक्ति को पाते हैं। इति—ब्रवीमि—ऐसा मैं कहता हूँ ॥१९॥ **समाप्त** ॥

जैन संस्कृति

—पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

संस्कृति का अन्तिम अर्थ है—वे विचार, आचार और विश्वास जिनसे मानव का संस्कार किया जाता है; उसे उन्नत और समाज रचना के योग्य बनाया जाता है। धर्म और संस्कृति का अटूट संबन्ध है। किसी भी धर्म की अपनी पृथक् संस्कृति का इतना ही अर्थ है कि उसके अपने विश्वास, विचार और आचार की धारा जुदी है। संस्कृति की आत्मा आचार, विचार और विश्वास की त्रिपुटी में निहित है। विभिन्न प्रान्त और देशों के रहन-सहन, खान-पान आदि के प्रकारों की विविधता संस्कृति के विविध शरीर हैं; उनसे संस्कृति के मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं होता।

जैन संस्कृति का स्थान

भारतवर्ष सदा से धर्मभूमि रहा है। इसकी सभ्यता उस काल की है जब दूसरे देशों में मानव ने आँख भी नहीं खोली थी। आर्य यहीं के रहने वाले थे या दूसरे देश से आये इस प्रश्न के झगड़े में न जाकर हमें यह देखना है कि भारतीय संस्कृति की दो धाराओं में जैन संस्कृति का क्या स्थान है? वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति इन दो प्रमुख प्रवाहों ने भारतीय जीवन को व्याप्त किया है। वैदिक संस्कृति का मूल आधार 'वेद' है। वेद, तदनुसारी ब्राह्मण ग्रन्थ, स्मृतियाँ, पुराण, धर्मशास्त्र आदि का बहुपरिवार इसकी श्रद्धा का केन्द्र है। वेद को स्वर, उच्चारण क्रम, अर्थ और व्याख्या आदि के द्वारा परम्परा से इसके मुख्य अधिकारी ब्राह्मण वर्ग ने आज तक सुरक्षित रखा है और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई है। इस धारा की आधार भूमियाँ ये हैं—

१—धर्म और इसके नियम उपनियमों के लिए वेद की अन्तिम और निर्बाध प्रमाणता मानना।

२—ईश्वर को जगत् का कर्ता-धर्ता और हर्ता मानना।

३—वर्णव्यवस्था को जन्म के आधार से स्वीकार करना।

४—धर्म और समाज के क्षेत्र में ब्राह्मणवर्ग के विशेष अधिकार स्वीकार करना। यथा यज्ञ करना ब्राह्मण का ही कार्य है। संन्यास और यज्ञ शूद्र के लिये वर्ज्य हैं, आदि।

वेद की निर्बाध प्रमाणता मानने के लिए शब्द को स्वतःप्रमाण माना गया है। लोक व्यवहार में जहाँ तक शब्द की प्रमाणता और अप्रमाणता का प्रश्न है, वह वक्ता के गुणों और दोषों पर आश्रित है। परन्तु इसके लिए उनने रास्ता निकाला। मीमांसकधुरीण कुमारिल ने इसका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—

"शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे सङ्क्रान्त्यसंभवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन नस्युर्दोषा निराश्रयाः॥"
(मी० श्लो० चो० सू० श्लो० ६३-६४)

अर्थात्—यद्यपि यह निश्चित है कि शब्दों में दोषों की उत्पत्ति वक्ता से होती है और उनका अभाव गुणवान् वक्ता होने से हो जाता है; क्योंकि वक्ता के गुणों के द्वारा हटाए गए दोषों की संक्रान्ति शब्द में फिर नहीं हो सकती। अथवा एक प्रकार यह है कि जहाँ वक्ता ही नहीं है वहाँ दोष निराश्रय तो नहीं रह सकेंगे। इस तरह कुमारिल को वेद की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित कल्पनाएँ भी करनी पड़ी—

१—वक्ता के बिना भी सार्थक शब्द का उच्चारण मानना।

२—गुणों से प्रमाणता न मानकर, गुणों के द्वारा दोषों का अभाव मानना और दोषों का अभाव होने से प्रमाणता का स्वतः आ जाना।

३—व्यवहार स्थल में भी वक्ता के गुणों की उपेक्षा करके और इस तरह गुण मात्र का निषेध कर गुणकृत प्रामाण्य का अस्वीकार।

४—धर्मादि अतीन्द्रियार्थदर्शित्व गुण को न मानने के कारण सर्वज्ञता का निषेध कर परम्परा प्राप्त वेद को ही धर्म में प्रमाण मानना।

इस तरह धर्म, उसके नियम—उपनियम आदि की प्रमाणता का अन्तिम आधार वेद बनाया गया और उसके व्याख्यान का अधिकार ब्राह्मण वर्ग को रहा। कितना भी प्रयत्न करने पर मनुष्य पूर्ण वीतरागी और साक्षात्

पूर्णज्ञानी नहीं बन सकता, वह सदा अपूर्ण रहेगा। जब कि जैन संस्कृति ने उपर्युक्त किसी भी आचार को नहीं माना।

१ वेदों को प्रमाण न मानना—

जैन संस्कृति ने बताया कि संसार का प्रत्येक आत्मा मूलतः समान गुण और समान शक्तियों का धारक है। अनादि कालीन कर्मवासना के कारण, हीनाधिक विकास होने से संसारी जीवों में नानारूपता देखी जा रही है। कर्मवासनाओं के हटते ही उसका निर्मल ज्योतिर्मय प्रभास्वर रुप प्रकट हो जाता है। वह रागादि भावविकारों को जलाकर पूर्ण वीतरागी बन सकता है। अतः ऐसे वीतरागी और तत्त्वज्ञानी सन्त पुरुषों का अनुभव धर्म के नियम-उपनियमों में प्रमाण होता आया है और होना भी चाहिए। इस तरह जैन संस्कृति ने गुणों की महत्ता स्वीकार कर प्रमाणता का आधार गुणोंको ही बनाया। और तत्त्वज्ञानी और वीतरागी व्यक्ति को धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कर्ता मान कर उनके वचनों को आगम एवं धर्मप्रतिपादक माना। संक्षेप में धर्म जैसे आत्मसंशोधक प्रयत्न में अनुभवी वीतरागी सन्त के अनुभव को प्रमुखता दी गई। किसी अनादि परम्परा से चले आये शास्त्र को नहीं। भले ही वह अकर्तृक या अपौरुषेय क्यों न हो। फिर पुरुष को वक्ता माने बिना संकेत प्रकरण ऋषियों के नाम गोत्र प्रवर आदि से सुबद्ध वेद जैसा शास्त्र यों ही नहीं बन सकता।

पुरुष अपने प्रयत्नों के द्वारा पूर्ण वीतरागी और पूर्णज्ञानी बन सकता है क्योंकि वह उसका स्वभाव है। आवरण के हटने पर उसके शुद्ध स्वभाव की अभिव्यक्ति होना अनिवार्य है। अतः जिन अनुष्ठानों, उपायों और भावना आदि से उन वीतरागी और ज्ञानी पुरुषों ने आत्मस्थिति प्राप्त की और जगत् के कल्याण के लिए उन उपायों का उपदेश दिया, उन धर्मभूत उपायों को प्रमाण मानना और उसपर चलकर आत्मस्थिति प्राप्त करना जैन संस्कृति की प्रकृति है। तीर्थंकर इसी पद्धति से अपनी अशुद्ध अवस्था का नाश कर स्वरूपस्थिति प्राप्त करने वाली संसारी आत्माएँ ही हैं। उन आत्माओं ने उद्गमन किया है।

२ ईश्वर को कर्त्ता न मानना

यह जगत् अनादि अनन्त है। इसमें जितने द्रव्य हैं उनमें से न तो एक भी कम हो सकता है और न एक बढ़ ही सकता। सब द्रव्य अपनी अपनी सत्ता

में स्थिर रहते हैं। उनमें परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है। पर्यायों में परिवर्तन होने पर भी द्रव्य की सन्तति अविच्छिन्न रहती है। कितना भी बड़ा परिवर्तन क्यों न हो जाय, किन्तु उसका द्रव्यत्व नष्ट नहीं होता। सारांश यह कि—

"भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति॥"

पंचास्तिकाय, गा० १५।

अर्थात् किसी भी पदार्थ का सर्वथा विनाश नहीं होता और न किसी सर्वथा असत् पदार्थ का उत्पाद ही। पदार्थ अपने अपने गुण और पर्यायों में उत्पाद और व्यय करते रहते हैं।

संसार के समस्त द्रव्य गिने हुए हैं, उनकी संख्या में हेर-फेर नहीं हो सकता और सभी अपने निजी स्वभावानुसार अपने ही गुण और पर्यायों में परिणमन करते रहते हैं। कोई भी द्रव्य कभी भी परिवर्तन से खाली नहीं रहता।

'अनन्त आत्माएँ, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु, एक आकाश द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य और असंख्य कालाणु द्रव्य।' इस तरह परिगणित छह प्रकार के द्रव्यों से व्याप्त यह लोकाकाश है।

इनमें आकाश, काल, धर्म और अधर्म द्रव्यों के परिणमन परपदार्थों से प्रभावित नहीं होते, इनका संतत एक जैसा परिणमन होता रहता है। इनका शुद्ध स्वभाव परिणमन होता है। आत्माओं में जो आत्माएँ मुक्त हो गई है उनका परिणमन भी सदृश और स्वाभाविक होता है। अशुद्ध आत्माएँ और अनन्तानन्त पुद्गल इनके परस्पर प्रभावित विविधरंगी परिणमनों का आगार यह विश्व है। पुद्गलों का आपसी संयोग, वियोग और बन्ध से उनका कदाचित् शुद्ध और कदाचित् अशुद्ध परिणमन होता रहता है। ये परिणमन चाहे वे शुद्ध हो या अशुद्ध, स्वाभाविक हो या वैभाविक, परस्पर प्रभावित हो या अप्रभावित—होते हैं सब अपने परिणामी उत्पाद, व्ययध्रौव्यवाले निज स्वभाव के कारण। इनका नियन्ता कोई ईश्वर नाम का स्वयंभू नित्य सिद्ध आत्मा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपनी गति से उत्पाद—व्यय करता रहता है। इतना अवश्य है कि अशुद्ध आत्माओं और जड़ पुद्गलों के परिणमन परस्पर-प्रभावित हो जाते हैं। जैसे एक हाइड्रोजन का परमाणु प्रतिक्षण अपने स्वभावानुसार हाइड्रोजन

के रूप में ही परिवर्तित होता रहता है; यदि संयोगवश उसमें आक्सीजन का परमाणु आ मिले तो दोनों परमाणुओं का जल रूप से परिणमन हो जायगा। इस तरह प्रत्येक सत् पदार्थ प्रतिक्षण पूर्व अवस्था का विनाश, नयी अवस्था का उत्पाद और अविच्छिन्न सन्तति रूप ध्रौव्य के त्रयात्मक परिणामचक्र पर चढ़ा हुआ है। वह कभी भी परिणाम शून्य नहीं होता। कोई भी द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्य में उपादान नहीं होता और न कोई एक ऐसा महाचेतन रूप निमित्त ही है जो इस जगत् को अपनी माया से चलाता हो, इसे उत्पन्न करता हो, इसका पालन करता हो और इसे महाविनाश में ले जाता हो।

आतमा अपने शुभ-अशुभ व्यापारोंसे उस उस प्रकारके प्रकाश या तम रूप पुद्गल कर्मों का बन्धन करता है। वे कर्म अपने परिपाक काल में शरीर, मन, आत्मा और बाह्य भौतिक जगत् पर अपना प्रभाव डालकर स्वयं साता और असाता में निमित्त बन जाते हैं। इसके लिए हिसाब किताब रखने वाले किसी निरीक्षक या फलदाता किसी न्यायाधीश की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वयं पुद्गल कर्मों का अच्छे और बुरे रूप में विपाक होता जाता है। प्रभावक निमित्त दूसरा द्रव्य दूसरे द्रव्य का कदाचित् बन भी जाय पर अनन्त द्रव्यों का एक प्रेरक निमित्त कथमपि संभव नहीं हैं। सब द्रव्यों के अपनी अपनी योग्यता और सामग्री के अनुसार परिणमन होते हैं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणमन में निमित्त भी हो जाय, वह पर किसी द्रव्य का अन्य द्रव्य पर कोई नैसर्गिक अधिकार नहीं है। ईश्वर नाम के अनन्त द्रव्याधिकारी नित्य अनादि सिद्ध द्रव्य की कल्पना ही निर्मूल है। एक व्यक्ति की इच्छा पर जगत् संचालित हो, यह द्रव्य स्वरूप के अज्ञान का फल है। इससे न व्यक्ति स्वातन्त्र्य रहता है और न द्रव्य की स्वपूर्णता ही। ईश्वर तो वीतरागी है, शुद्ध और कृतकृत्य भी; फिर उसे इस जगत् की रचना का क्या कारण और क्या प्रयोजन है?

आज के वैज्ञानिक युग में जब पदार्थों के निश्चित कार्यकारण भावों की खरी खोज हो रही है तब एक ऐसे अनुभव और युक्ति से विरुद्ध कारण की कल्पना उचित नहीं है। पदार्थों के अपने व्यवस्थित कार्य कारण भाव और कारण सामग्री के अनुसार तत्तत् कार्य उत्पन्न होते रहते हैं। जैन संस्कृति ने इस व्यक्ति स्वातन्त्र्य की पूरी रक्षा की है। और स्पष्ट बता दिया है कि जगत् का प्रत्येक प्राणी अपने कर्मसूत्र से गुंथा हुआ है और उसी के अनुसार फल भोगता है। स्वयं कर्त्ता है, स्वयं ही फल का भोक्ता।

सच पूछा जाय तो ईश्वर और ईश्वर के मुख आदि से उत्पन्न ब्राह्मण आदि वर्णव्यवस्था के ऊंच नीच चक्र ने ही इस भारत में विषमता की सृष्टि की, मानव को मानव से दूर किया। अभिजात वर्ग ने यह दावा किया कि ईश्वर ने उन्हें जन्म से उच्च बनाया और ईश्वर ने शासकों की एक कौम ही बनाई है। राजा और सामन्त इसी ईश्वर के प्रतिनिधि घोषित किए गए और उनकी सुरक्षा के लिए धर्म सेना खड़ी हुई। व्यक्तियों का स्वातन्त्र्य नष्ट हुआ, गुणों की पूजा समाप्त होकर ईश्वरेच्छा और ईश्वरेच्छा के सफल प्रचारकों का विशेषाधिकार कायम हुआ।

श्रमण संस्कृति ने इसी जाल को तोड़कर मनुष्य को उस चौराहे पर स्वतन्त्रता और निर्भयता पूर्वक लाकर खड़ा कर दिया जहाँ से वह खुशी से इच्छानुसार जा सकता है। जैनधर्म का भक्ति मार्ग मात्र अल्पाधिक रूप में मनुष्य के आकुलित चित्त को एक सहारा देकर उसे आश्वासन देता है। उसमें आये हुए कर्तृत्ववादी विचारों का मूल्यांकन तथ्यस्पर्शी दार्शनिक दृष्टिकोण से नहीं किया जा सकता। वह तो बच्चों को स्कूल तक पहुँचाने और वहाँ बैठने की स्थिरता के लिए मिठाई की गोलियाँ हैं। चित्त का आश्वासन भी एक प्रक्रिया से ही कार्य साधक होता है। जब कोई अत्यन्त दुःखी प्राणी भगवान् की शरण में जाता है और अपने समस्त संकल्प विकल्पों को छोड़कर एकाग्र होता है तो उसकी उस समय की उस विशुद्धि से चित्र की धारा बदल जाने से स्वभावतः कष्ट का अनुभव कम होता है और उस चित्त की विशुद्धि का असर बाह्य परिस्थितियों पर भी कदाचित् पड़ जाता है। परन्तु यह निश्चित है कि कोई ऐसा ईश्वर इस जगत में नहीं है जो अपनी भक्ति से प्रसन्न होकर भक्तों को चेक काट देता हो। विधाता की रेखा भी मनुष्य को विपत्ति काल में सान्त्वना देने के लिए है, जिससे वह अपनी असफलताओं से घबड़ाकर आशा का तन्त्र ही न तोड़ बैठे। पाप से बचने के लिए सर्वान्तर्यामी ईश्वर का कभी उपयोग हो भी जाता हो पर जब भयंकर पापी व्यक्ति अपने पापों की लौकिक सफलता देख लेते हैं तो उनका वह डर मिट जाता है। क्या ईश्वर के मन्दिरों में उसी के नाम पर व्यभिचार लीलाएँ नहीं चलीं ? क्या उसके पुजारियों ने स्वयं ईश्वर की ही सोने चाँदी की मूर्ति की चोरी नहीं करा दी है ? ये सब निष्फलताएँ ही मनुष्य को ईश्वरवाद के खोखलेपन को बता देती हैं।

गुण-कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था—

जैन अनुश्रुति है कि इस कर्मभूमि के पहिले भारत में भोग भूमि थी। उसमें न कोई धर्म था और न कर्म। स्त्री और पुरुष युगल उत्पन्न होते थे और वे सात सप्ताह में परिपूर्ण यौवनशाली हो जाते थे और आपस में दम्पति के रूप में रहने लगते थे। जन संख्या कम थी। कल्पवृक्षों से उनकी सब शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। वस्त्र, पेय पदार्थ, खाद्य, वाद्य, निवास, शय्या, आभूषण, पात्र आदि सभी वस्तुएँ इन्हीं कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाती थीं। कहते हैं, इनकी ज्योति इतनी तेज रहती थी कि सूर्य और चन्द्र भी नहीं दिखाई देते थे, ताराओं की तो बात ही क्या? दिन रात का विभाग नहीं था। न राज्य था न राजा। न परिग्रह संग्रह और न ऊंच नीच का भाव। सब समान थे। यह युग भोगभूमि का युग कहा जाता है। इसमें युगल दम्पति के जब युगल सन्तान उत्पन्न होती थी तो माता पिता वाला युगल मृत्यु को प्राप्त हो जाता था। यह था प्रकृति युग।

धीरे धीरे जब कल्पवृक्षों की उत्पादन शक्ति कम हो गई और माता पिता के सामने सन्तान भी जीवित रहने लगी तब संघर्ष का प्रारंभ हुआ। लोग आगे की चिन्ता करने लगे और कल्पवृक्षों का बँटवारा शुरू हुआ। उनकी रक्षा के लिए हदबन्दी प्रारम्भ हुई। इसी समय चौदह कुलकर या मनु उत्पन्न हुए। इनने भय से त्रस्त प्रजा को आश्वासन दिया और पशु पालन, हिंस्र पशु से संरक्षण, अन्न पकाना, मिट्टी के बर्तन बनाना, सवारी करना आदि सिखाया। आज की भाषा में सभ्यता सिखाई। अन्तिम मनु थे राजा नाभिराय। इनकी युगल पत्नी का नाम था मरुदेवी। भगवान् ऋषभदेव इन्हीं की सन्तान थे। राजधर्म की प्रवृत्ति इसी समय हुई। इन्होंने शस्त्र-धारण कर प्रजा की रक्षा करने वालों को क्षत्रिय, कृषि व्यापार आदि से आजीविका चलाने वालों को वैश्य तथा नृत्य आदि विद्या और शिल्प आदि से आजीविका करने वालों को शूद्र वर्ण में विभाजित किया। यह व्यवस्था व्यवहार की सुविधा के लिए की गई थी, इसमें कोई अधिकार संरक्षण की भावना नहीं थी और न किसी को ऊंचा या नीचा कहने की।

धर्म का प्रत्येक अधिकार इसी त्रिवर्ण को था। इन्हीं भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की अपनी कन्याओं को अक्षराभ्यास कराया और ब्राह्मी लिपि की प्रवृत्ति की, जो आज नागरी लिपि के रूप में हमें उपलब्ध

है। जब भगवान् ऋषभदेव तपस्या करने चले गये और भरत ने इस आर्यदेश का शासन संभाल कर षटखंड विजय किया तब उनके मन में यह विचार हुआ कि मेरे पास इतनी अगाध सम्पत्ति है, मैं इसमें से कुछ दान करना चाहता हूँ, अतः कुछ सद्‌व्रती लोगों का एक वर्ग स्थापित करूँ जिन्हें दिया हुआ दान सुदान होगा। इसी सद्भावना से उन्होंने एक सूचना पत्र अपने समस्त मांडलिक राजाओं को भेजा कि—आप लोग अपने सदाचारी अनुजीवी नौकर आदि परिकर के साथ आइए।

सब लोग आये। उनमें जो अहिंसादि अणुव्रतों के धारी थे उन्हें महाराज भरत ने एक विशेष परीक्षा के द्वारा "ब्राह्मण अर्थात् व्रतधारी" बनाया। परीक्षा यह थी कि—एक आंगन में उन्होंने हरे अंकुर उगाये। जो लोग उन अंकुरों को कूचते हुए चले गये उन्हें छोड़कर शेष दया प्रधान व्रतधारियों को ब्राह्मण संज्ञा दी गई। यहाँ यह बात खास तौर से ध्यान देने की है कि ब्राह्मण वर्ण की स्थापना क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वृत्ति वालों में जो व्यक्ति व्रतधारण करने वाले थे उन्हीं को लेकर की गई थी। और आगे भी जो व्रतधारण करने वाले थे उन्हें ब्राह्मण संज्ञा दी गई। इस तरह भगवान् ऋषभ और उनके पुत्र चक्रवर्ती भरत ने इस भारत भूमि में ब्राह्मण आदि चतुर्वर्ण व्यवस्था गुणकर्म के अनुसार की।

सबसे प्रमुख बात यह है कि मूलतः गुण और कर्म के अनुसार प्रवर्तित इस वर्ण व्यवस्था का धार्मिक मामलों में कोई प्रवेश नहीं था। यह ध्यान अवश्य रखा जाता था कि व्यक्ति के कुल में हिंसा, दुराचार आदि दोष घर तो नहीं कर गए हैं, उसमें दूषित परम्परा तो प्रचलित नहीं हो गई है। जिन कुलों में चाहे वे ब्राह्मण के हों या शूद्र के; हिंसा मद्यपान आदि की दूषित परम्पराएँ प्रचलित थीं उनकी शुद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किया जाता था। उस कुल के लोगों को दीक्षान्वय क्रिया द्वारा शुद्ध किया जाता था। जिनमें अहिंसा आदि व्रतों की परम्परा रही, उन्हें धर्म सुसाध्य था। तात्पर्य यह कि कुल शुद्धि और अशुद्धि का असर व्यक्ति की आचरण की सहज-ग्राह्यता और उपदेश प्रेरित ग्राह्यता पर पड़ता था न कि उसके किसी धर्माधिकार पर।

म्लेच्छदेशों से अनेक राजकन्याओं को भरत चक्रवर्ती परिणय कर लाये थे, उनके साथ हजारों दासी दास आये थे, रिश्तेदारी में भी लोग आते थे,

पर वे सभी मुनि दीक्षा के योग्य समझे जाते थे। म्लेच्छों में संयमस्थान की परिगणना लब्धिसार में बराबर की गई है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी वृत्ति से आजीविका करता रहा हो यदि मुमुक्षु है और उसकी धर्म और वैराग्य की परिणति हो रही है तो उसे धर्म का प्रत्येक पद प्राप्त हो जाता था, उसमें कोई रुकावट नहीं थी।

वर्णव्यवस्था का सबसे बड़ा घातक रूप तो वह है जिसमें ब्राह्मण वर्ण को असंख्य विशेषाधिकार दिए गए और शूद्र के धर्माधिकार, समाजाधिकार और व्यवहाराधिकार सब छीन लिए गए। मानव जाति का एक बहुत बड़ा भाग "अस्पृश्य" घोषित कर दिया गया। विष्ठा को खानेवाली गाय 'गोमाता' कह कर पूजी जाती है, उसे धर्मवस्त्र पहिन कर भी छू सकते हैं, उसके मूत्र और गोबर का पान-खान किया जा सकता है पर मल साफ करने वाला मनुष्य "अस्पृश्य"। उसकी छाया से भी परहेज। उसके बाल बच्चों को न शिक्षा न दीक्षा। और यह सब हुआ ईश्वर के नाम पर, और धर्म के नाम पर। जैनधर्म ने प्रारम्भ से ही धर्म का क्षेत्र प्रत्येक के लिए उन्मुक्त रखा। भगवान् महावीर के संघ में चांडाल, नाई, कुम्हार आदि सभी शामिल थे। वे धर्म के उच्च से उच्च पद पर भी प्रतिष्ठित हो सकते थे उन्हें जाति के कारण कोई रुकावट नहीं थी।

इस गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था मानने वाली संस्कृति पर भी मध्यकाल में वैदिकों का विशिष्ट प्रभुत्व होने से उसका घातक प्रभाव पड़ा और कहीं-कहीं उसका प्रभाव पिछले प्रायश्चित्त ग्रन्थों और पुराण ग्रन्थों पर भी पड़ा। व्यवहार में जैनसंघ वैदिकों का पिछलग्गू बन गया और अपनी प्राचीन मूल संस्कृति को छोड़ बैठा।

आज नवभारत जब मनुष्य मात्र को समान नागरिकता के अधिकार दे रहा है और मनुष्यों में व्याप्त 'अस्पृश्यता' को समाप्त करने जा रहा है तो जैन संस्कृति के उपासक जैन ही उसमें बाधा उत्पन्न करने की कुचेष्टाएँ कर रहे हैं। एक ओर वैदिक धर्म के प्रतिनिधि शूद्रों को जैन मंदिर में इसलिए नहीं जाने देना चाहते कि यदि ये वहाँ गए तो अपनी वैदिकता खो बैठेंगे तो दूसरी ओर आज के रूढ़िग्रस्त जैन अपने मन्दिरों के अशुद्ध होने की आशंका से घबड़ा रहे हैं। यह तो जैनों को सुअवसर था कि वे इस समय उन्हें महावीर का पतितपावन समता सन्देश सुनाते और उन्हें जैनदीक्षा देते। पर आज

उलटी गंगा बह रही है। जो धर्म इन पतितों का उद्धारक था वही उनके लिए अपने दरवाजे बन्द करके बैठा है।

साधारणतया हम जैन संस्कृति की आचार विचार परम्पराओं से निम्न लिखित आधार भूत सिद्धान्तों की घोषणा कर सकते हैं—

१. प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। उसका मात्र अपने ही विचारों और प्रवृत्तियों पर अधिकार है। वह अपने ही गुण-पर्यायों का स्वामी है। अपने सुधार-बिगाड़ का स्वयं जिम्मेवार है।

२. कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो अनन्त जड़ चेतन पदार्थों पर अपना नैसर्गिक अधिकार रखता हो, पुण्य-पाप का लेखा—जोखा रखता हो और स्वर्ग और नरक में जीवों को भेजता हो, सृष्टि का नियन्ता हो।

३. एक आत्मा का दूसरी आत्मा पर तथा जड़ पदार्थों पर कोई स्वाभाविक अधिकार नहीं है। दूसरे प्राणियों को, समाजों और जातियों को अपने आधीन बनाने की चेष्टा ही अनाधिकार चेष्टा है, यही हिंसा है और मिथ्या दृष्टि है।

४. यदि व्यवहार में अनुशासन लाने के लिए या समाज रचना के लिए व्यक्ति समूह किसी एक को अपना शासक या मुख्याधिकारी चुनता है तो यह चुननेवाली आत्माओं का अपना अधिकार है कि न कि चुने जाने वाले व्यक्ति का जन्मसिद्ध-अधिकार। तात्पर्य यह कि समाज व्यवस्था समान-अधिकार मूलक सहयोग पर निर्भर है न कि जन्मसिद्ध किसी विशेषाधिकार पर।

५. ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण व्यवस्था अपने गुण-कर्म के अनुसार है न कि जन्म से। इसका परिवर्तन गुण-कर्म के अनुसार होता रहता है।

६. गोत्र एक जन्म में भी बदलता है। उसका परिवर्तन गुण-कर्म के अनुसार हो सकता है।

७. पर पदार्थों का संग्रह और परिग्रह ममकार और अहंकार का हेतु होने से तथा समाज में विषमता और हिंसा का वातावरण उत्पन्न करने के कारण हेय है और बन्धनकारक है।

८. किसी भी वंश, जाति, वर्ण के कारण किसी के धर्माधिकार में भेद नहीं है। धर्म में सब को समान अवसर हैं। यह जुदी बात है कि व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार ही उन्नति करता हो।

९. किसी वर्ग विशेष का धर्म में कोई विशेषाधिकार नहीं है। कोई ऐसी क्रिया धर्म नहीं हो सकती जिसमें मनुष्यमात्र का समान अधिकार न हो।

१०. भाषा भावों को दूसरे तक पहुँचाने का माध्यम है। अतः जनता की भाषा ही सदा ग्राह्य है। किसी भाषा पर किसी वर्ग विशेष का विशेषाधिकार नहीं हो सकता और न किसी भाषा को भावों के ढोने का माध्यम बनने का एकाधिक अधिकार है। भाषा तो देश-काल के अनुसार बदलती रहती है। किसी विशेष भाषा का उच्चारण पुण्य नहीं हो सकता।

११. हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध आदि पन्थ भेद भी आत्माधिकार के भेदक नहीं हो सकते।

१२. वस्तु अनेक धर्मात्मक है। उसका विचार अनेक दृष्टिकोणों से उदारता पूर्वक करना चाहिए। अनेकान्तदृष्टि ही हमारे विचारों में समन्वय की भूमिका रच सकती है।

१३. सर्व समानाधिकार की अहिंसक भूमिका से ही नव समाज रचना का वह रूप पनप सकता है जो कि विश्व शान्ति का आधार बन सकता है।

१४. यद्यपि संसार के भौतिक साधनों पर किसी व्यक्ति समाज या राष्ट्र का नैसर्गिक अधिकार नहीं है। पर व्यक्ति समाज और राष्ट्र के सन्धारण के लिए जब व्यवस्था जमानी ही है तब समानाधिकार ही उसका एक मात्र मूलमन्त्र हो सकता है और सहयोग पद्धति ही एक मात्र व्यवहार साधिका।

यह इस भारत भूमि की विशेषता है जो इसने महावीर और बुद्ध जैसे श्रमण सन्तों के द्वारा इस उदार सर्वसभा संस्कृति का सन्देश जगत् को दिया। आज विश्व भौतिक विषमता से त्राहि त्राहि कर रहा है। उसके त्राण की एकमात्र संजीवनी है यह सर्वोदयकारिणी सर्वसभा संस्कृति।

आराध्य आ रहा है !

जाना-अनजाना मम,
आराध्य आ रहा है।
खाली हो दिल गलियाँ,
नव ओप छा रहा है...
धरती का आधार नहीं;
नभ में ही कदम बढ़ाता;
निज को ही अवलम्ब बना,
स्व-शून्य आ रहा है...

उसमें श्रुत-स्मृत हैं डूबी,
आँखें दर्शन में भूली;
मूक हुई वातुल वाणी,
पर मौन गा रहा है...
देखा अपने तक आता,
पर आकुल मैं खा जाता;
अपने को पाया तो वो—
छिप, पार जा रहा है...

तब साकार हुई करुणा,
अन्तर्मुख वृत्ति बनाती;
देखा तो उर में कोई—
तनु जात छा रहा है...
सारे दीप बुझे नभ के,
है गायब अँधेरा भी;
जाने कौन प्रपंचों के—
भय-रोप ढा रहा है...

नसनसमें चमकी बिजली,
है विराट् विकास आया;
सौ सौ टुकड़े होने को—
'अणु' देह जा रहा है...

—श्री 'अणु' मुनि

हरिकेशीबल

–श्री सुशील

गाँव के पास एक छोटा सा तालाब था। उसकी पाल पर एक घना बट वृक्ष था। इस वृक्ष की छाया में गांव के बालक खेला करते थे। थोड़ी दूर पर छोटी छोटी झोपड़ियां दिखाई देती थीं। इन झोपड़ियों के रंग ढंग से साफ मालूम होता था कि वे उच्च वर्ण के लोगों के लिए न थीं। मरे हुए ढोरों के चमड़े की दुर्गन्ध रात दिन आती थी। उस प्रदेश के निवासी चांडाल कहलाते थे।

चांडाल के बालक शहर में नहीं जा सकते थे। वेद पुराण की रात दिन रट लगाने वाले ब्राह्मण कहीं छू न लें, कहीं उनका मार्ग चांडाल के आवागमन से अपवित्र न हो जाय, उन्हें हमेशा यही डर रहा करता। उच्चवर्ण के लोगों की सेवा करने के कार्य को छोड़ कर कोई भी चांडाल उनके मार्ग से ऊँचा सिर किये नहीं निकल सकता था।

चांडालों के छोटे छोटे बच्चे हमेशा इस वट वृक्ष की छाया में आकर दो घड़ी खेलते। खेल पूरा होने पर अपने अपने घर चले जाते। वट वृक्ष उनका उद्यान था। प्रातः, दोपहर अथवा संध्या के समय यह वृक्ष उनके आमोद-प्रमोद का एक बहुत बड़ा आधार था।

इन बालकों में बल नामक एक बालक भी था जो दूसरे बालकों के साथ खेलने आता था। वह स्वेच्छा से आता था अथवा किसी के आग्रह से, यह नहीं कहा जा सकता। दूसरे बालक जब बट की शाखाओं में छिपा छिप कर नीचे कूदते और आपस में लड़ते झगड़ते उस–समय बल सामने खड़ा खड़ा यह सब देखा करता। उसे इसमे कोई रस न आता। वह सामने खड़ा कल्पना के जाल बुना करता।

बल के साथियों को उसकी यह गंभीरता बहुत खटकती। एक तो वह जन्म से ही कुछ बेडौल था और फिर वृद्ध पुरुष की भांति गांभीर्य धारण करके

खेल कूद की ओर से उदासीन रहता था। उसके साथियों को जब उसकी गंभीरता पर बहुत चिढ़ आती, तब वे उसे खींच कर खेलने ले जाते। एक दिन ऐसा न निकला होगा जब बल के मित्रों ने उसे तंग किये बिना खेल की पूर्णाहुति की हो। खेल के आदि, मध्य अथवा अन्त में बल के सिर पर अंगुलियों के टकोरे लगाना साथियों का हमेशा का क्रम था।

बेचारा बल मन मसोसकर रह जाता। उसके माता पिता भी उसकी किसी प्रकार की सहायता करने योग्य न थे। ऐसे दुर्बल, कंगाल और कायर लड़के पैदा करने की अपेक्षा बांझ रहना ही अधिक अच्छा है।

उच्च वर्ण के अनेक प्रकार के कष्टों से पीड़ित चांडाल लूटमार करने से भी नहीं चूकते थे। जो बालक जन्म से ही चंचल और तूफानी नहीं होते। वे इस कार्य में निपुण कैसे हो सकते हैं! बल्कि कायरता और दुर्बलता को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वह कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। ऐसी दुर्बल संतति दया और ममता का पात्र नहीं हो सकती।

बल का पिता गाँव के श्मशान का मालिक था। उसके कुल का नाम हरिकेशी था। उसके गांधारी नाम की एक उपमाता भी थी। उसका बल पर जननी से भी अधिक प्रेम था। बल जब सब ओर से तिरस्कृत हो घर आता तब गांधारी उसे गोद में बैठाकर निर्मल स्नेह-सिंचन करती थी। उपमाता के स्नेह के सिवाय सम्पूर्ण जगत बल के लिए ग्रीष्म ऋतु की रेणु के समान संताप कारक था। बल के पिता को यह दृश्य देखकर कई बार आश्चर्य होता। बल में ऐसा कौन सा आकर्षण है कि गाँधारी उसपर इतना अधिक स्नेह रखती है? गांधारी ने स्वयं एक बार इसका समाधान करते हुए कहा—"दुनियां कुछ भी कहे, मुझे तो इस बालक की आँखों में कुछ अलग ही ज्योति दिखाई देती है। यह अवश्य ही कोई महापुरुष होगा।" पिता अपने कुरूप पुत्र का यह भविष्य सुनकर सहज भाव से हँसा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह मात्र स्नेह का ही पक्षपात है।

हरिकेशी बल अब कुछ समझने लगा है। वह अब यह जानने लगा है कि जीवन केवल स्वप्न ही नहीं, अपितु समस्या भी है। घर और बाहर सर्वत्र ठोकरें खाते हुए जीवन बिताना, क्या जीवन का यही लक्ष्य है। चांडाल कुल के इस बालक को मार्ग दिखाने वाला कोई न था। वह अपने जीवन निर्माण के लिए किसी का सहारा चाहता था।

एक दिन एक सामान्य निमित्त मिला कि उसका प्रश्न हल होगा। बल और उसके मित्र हमेशा के नियम के अनुसार बट की छाया में खेल रहे थे। तालाब की पाल में से एक काला सर्प फँकार करता हुआ बाहर निकला 'सांप-सांप' की आवाज होते ही सब लड़के घर की ओर भाग निकले। कौन किसके साथ है किस तरह भागता है, यह देखने की किसी को फुर्संत नहीं थी। बल उस भयंकर सर्प के सामने देखता हुआ वहीं खड़ा रहा। 'ए बलिए ! इधर आ। तेरा बाप काट खाएगा।' दूर खड़े हुए उसके मित्र शिष्टाशिष्ट संबोधन से बल को सलाह देने लगे।

बल अपने स्थान से न खिसका। जब तक वह सांप दृष्टि से ओझल न हुआ तब तक उसके सामने देखता हुआ वहीं खड़ा रहा। सहसा एक घंटे बाद बाल सैन्य वापिस वट की छाया में आया। बच्चों के कोमल हृदय सांप के भय से अभी भी कांप रहे थे। शाम हो गई थी। सभी अपनी अपनी झोपड़ियों की तरफ वापिस लौटे। मार्ग में भी सर्प का ही प्रकरण चला। किसी ने उसके श्याम वर्ण की तो किसी ने उसकी तेज चाल की तो किसी ने साँप के काटने की चर्चा चलाई।

किन्तु यह बलिया कितना बेवकूफ। इसके बाप का क्या बिगड़ता था कि ठूंठ की तरह खड़ा रहा। सांपने काट खाया होता तो हम लोग कौनसा मुंह दिखाने लायक रहते। बाल सेना के सरदार ने बल की पीठ में जोर से घूंसा जमाया। दूसरे लड़कों ने भी उसका अनुकरण किया। बल के लिए यह कोई नई बात न थी। वह चुपचाप मार सह लेने में निपुण बन चुका था।

थोड़ी दूर जाने पर एक ने आवाज दी--"सांप, भागो।" पहले तो लड़कों ने मजाक समझा, किन्तु संध्या के मंद प्रकाश में देखा तो पहले के समान ही एक दूसरा सर्प गोल चक्कर के रूप में पड़ा था।

"यह कोई विषैला सर्प नहीं है। मेरे चाचा तो ऐसे सांपों से कई बार खेला करते हैं," बल ने कहा।

इतना होने पर भी उसके पास आने की किसी की हिम्मत न हुई। चाहे कैसा भी हो किन्तु है तो सर्प ? लड़कों ने सर्प के सिर पर डंडे मारने शुरू कर दिये। सिर पिचक गया। सांप बहुत देर तक तड़फता रहा आखिर उसके प्राण पखेरू उड़ गये। बच्चों ने अन्त तक खड़े रह कर उसकी तड़फड़ाहट देखी। मृत्यु की वेदना में भी आनन्द ही आ रहा था।

बल पर इन दोनों घटनाओं का बहुत असर हुआ। वह घर गया किन्तु सर्प की तड़फड़ाहट को भूल न सका। निद्रा में भी रात को वही स्वप्न देखता रहा। बीच-बीच में एक दो बार उछला भी। सौतेली माता गांधारी पास ही सोई हुई थी। उसने बल की यह घबड़ाहट देखी। माता ने बहुत आग्रह किया किन्तु बल ने उसके सामने खुलासा न किया। इसमें खुलासा करने जैसा था भी कुछ नहीं। बल को सर्प का भय न था। सर्प दंश से होनेवाली मृत्यु की भी परवाह न थी। उसके मन में कुछ अलग ही मंथन चल रहा था।

विषधर सर्प को देखकर सब भाग गए और निर्विष सर्प को मृत्यु की सजा। संसार में कौन सा नियम चलता है। सब विषधर होकर जहां तक पहुंच सकें वहां तक विष की ज्वालाएं फेंकें, क्या संसार यही चाहता है? क्या विषैले प्राणी को ही जीने का हक है? क्या जो दूसरे को मार सके, वही जगत में जी सकता है?

बल ने आज तक बहुत कुछ सहा था। मित्रों की मार और मजाक से ऊब चुका था। अब उसे महसूस होने लगा कि यह सब उसकी सरलता का ही प्रताप है। यदि वह सबका सामना कर सकता, लाल लाल आँखें बना कर जोर से बोलता और सामने वालों को कुछ दुःख होता है कि नहीं—इसकी परवाह किए बिना दो चार तमाचे झाड़ देता तो आज उसकी खोपड़ी में कोई टकोरे न लगाता। जैसे पहले सर्प से डर कर सब दूर भाग गए वैसे ही लड़के उससे भी डरकर भाग जाते। निर्विष सर्प ने दुनियाँ का क्या बिगाड़ा था। बल ने निश्चय किया कि दुनियाँ में रहना हो तो थोड़ा थोड़ा विष उगलना सीख लेना चाहिए। निर्विष को यह दुनियाँ नहीं जीने देती।

बल जब यह निश्चय अमल में लाया और उसी दिन उसके साथी उसका प्रताप देख सके। बल ने मानो नव जन्म प्राप्त किया। उसमें नया ही बल आ गया। धीरे धीरे अभ्यास करते करते उसकी गणना कठोर से कठोर और निष्ठुर से निष्ठुर व्यक्ति में होने लगी। चांडाल कुल का भूषण ऐसा ही होता है। बचपन से जो तूफान करना और निर्दयता से सिर फोड़ना न सीखे वह लुटेरा कैसे बन सकता है। बल ज्यों ज्यों निर्दय बनता गया त्यों त्यों भक्ति का पात्र बनता गया।

जैसे जैसे दिन बीतने लगे वैसे वैसे हरिकेशी नाम की धाक सर्वत्र जमने

लगी। तालाब की पाल पर वट की छाया में सबकी मार सहन करने वाला बल और आज का लुटेरों का सरदार बल, ये दोनों अब एक होते हुए भी जन्मान्तर में जितना भेद हो गया। पथिकों को सताने में और लूटने में बल आज बेजोड़ गिना जाने लगा। एक सामान्य घटना मनुष्य के जीवन में कैसा भयंकर परिवर्तन कर सकती है?

साँप बनने का अभ्यास आरंभ करते समय तो ऐसा ख्याल भी नहीं आया होगा कि वह ऐसे गर्त में गिर जायगा। आज वह नया शिक्षार्थी न रहा। बल, पराक्रम और विष का मद रोम-रोम में व्याप्त हो गया है। क्रूरता को ही वह जगत का आधार मानने लगा।

एक दिन वह अरण्य में अकेला उन्मत्त की भांति शिकार की खोज कर रहा था। इतने में एक ध्यानस्थ मुनि उसकी दृष्टि में आये। उन्होंने न जाने उसे क्यों आकर्षित किया। वह उनके पास आया। वनचर भी ऐसे तपस्वियों के पास आकर शान्ति प्राप्त कर सकते हैं तो फिर बल तो एक मनुष्य था। उसके भीतर भी भाव कैसे स्फुरित न हों? हाथ का तीर एक ओर फेंक दिया और मुनिराज के सामने आकर विनय पूर्वक बैठा।

बल के लिए मुनिदर्शन का यह पहला ही प्रसंग था। यह मानव बिना कारण दुःख क्यों सहता है। मेरी टोली में भी यदि ऐसा कोई समर्थ वीर हो तो वह कितनी दीप्त हो सकती है। वह अपने व्यवसाय की दृष्टि से ही विचार करने लगा।

पक्षियों के कलरव और वायु से हिलते हुए शुष्क पर्णों के मर्मर शब्द के अतिरिक्त सर्वत्र शान्ति थी। मुनिराज ध्यानस्थ थे। सारा अरण्य मानो उनका था।

बल को अपनी बाल्यावस्था के पुराने दिवस याद आए। क्या वह खुद एक बार इतना शान्त, निर्दोष और सहनशील न था। किन्तु लोगों ने इस शान्ति का कितना दुरुपयोग किया। शान्ति और सहनशीलता में ही यदि सुख होता तो विष रहित सर्प क्यों तड़फ-तड़फ कर मरता? सफलता ही सुख का मूल है। समस्त संसार केवल शक्ति की ही पूजा करता है। यह सोचते सोचते उसकी आँखों में लालिमा छा गई। दीनता और नम्रता का कहीं पता भी न था।

इतने में मुनिराज ने उसके सामने देखा। बल के शिकारी साज और शारीरिक कठोरता के सामने वे एक दो क्षण तक देखते रहे।

धर्मोपदेश के सिवाय उनके पास और क्या था। अहिंसा, सत्य और त्याग का रहस्य संक्षेप में समझाया।

बल पर धर्मोपदेश का कुछ भी असर न पड़ा।

"किसी उच्च कुल में पैदा हुए होंगे, इसीलिए यह सब सूझता है। एक बार हमारी स्थिति और अपमान का अनुभव कीजिये, बाद में भले ही धर्म का उपदेश करने पधारियेगा", बल ने व्यंगपूर्वक कहा।

"धर्म तो सब के लिए समान है। इसमें ऊंच-नीच का भेद-भाव नहीं होता। किन्तु तुम कौन हो।" मुनिराज ने जानना चाहा।

"हूं तो जाति का चांडाल किन्तु आज मेरे चक्कर में पड़े हुए अच्छे अच्छे कुलीनों के भी सिर झुकते हैं। आपके कथानुसार धर्म पालूं तो लोगों का मलमूत्र इकट्ठा करके ही जीवन पूरा करना पड़े। इससे यह धंधा क्या खराब है। मैंने तो निश्चय किया है कि जिसमें विष नहीं है वह सुख से जी नहीं सकता।" बल ने सांप का सारा वृत्तान्त कह सुनाया और साथ में अपना बाल्यजीवन भी संक्षेप में बता दिया।

भवरोग के इस चिकित्सक के लिए इतना निदान ही काफी था। रोग पहिचानना और रोग के मूल कारण का विवेचन प्रारंभ किया।

ऊंच नीच का भेद केवल दंभ है। महावीर प्रभु के धर्ममार्ग में यह दंभ नहीं है। हमारे शासन में तो राजा से लेकर रंक तक और कुलीन से लेकर शूद्र तक सभी एक समान आश्रय ले सकते हैं। जिन शासन का मुद्रा लेख है।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

ब्राह्मणपन, क्षत्रियपन, वैश्यपन और शूद्रपन किसी के जन्म अथवा वंश पर नहीं अपितु कर्म पर अवलंबित है। चांडाल कुल में पैदा होते हुए भी आज तुम ब्राह्मण बनना चाहते हो तो किसी की ताकत नहीं कि तुम्हें रोक सके।

जहा पौमं जले जायं, नोवि लिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बंभ माहणं ।।

जल में उत्पन्न होने पर भी जैसे कमल जल लिप्त नहीं होता उसी प्रकार संसार में रहते हुए भी जो काम भोग से लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण ही मानते हैं । इतना ही नहीं किन्तु —

नवि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेन, कुसचीरेण न तावसो ।।

सिर्फ सिर मुडाने से कोई सच्चा साधु नहीं बन जाता । ओंकार के जपने से कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता, अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं बन जाता, और मूंज लपेटने से तपस्वी नहीं बनता, जिसमें समता, विनय, नम्रता और संयम होता है वही श्रमण अथवा साधु होता है ।

तपस्वी मुनि के निर्मल उपदेश प्रवाह में हरिकेशीबल बह गया ।

"और निर्विष को कोई व्यर्थ मारता है, यह मान्यता भी उतनी ही झूठी है। प्राणी मात्र अपने ही कर्म का परिणाम भोगता है । स्थूल दृष्टिवाला यह नहीं देख सकता किन्तु इसमें कर्म का अबाधित नियम थोड़े ही पलट जाता है ? अविवेकी कारण और कार्य की रेखा नहीं देख सकता । इसी से वह कई बार भ्रान्ति को सनातन सत्य समझ कर अपने जाल में आप ही फंसता है ।"

थोड़े समय तक दोनों मौन रहे । हरिकेशी के नवजीवन के प्रभात का उदय हो रहा था । अन्त ही अन्त में मुनिराज कहने लगे "बाल्यावस्था में तूने अपने साथियों के उपद्रव सहे होंगे । किन्तु उस समय तो तू मूढ़ दशा में था । निर्दोष रहकर संसारियों के अनुकूल और प्रतिकूल उपद्रव सहन करने में जो रस आता है, उसका स्वाद तू अभी नहीं ले सका । यह रसपात्र आज भी तेरे हाथ में है । लूट में लिए हुए माल की भांति तुझे इसका विभाग नहीं करना पड़ेगा । तू अकेला ही इस रस को अजर अमर पद प्राप्त करने के समय तक पी सकेगा । सहन करना अर्थात् बल को शून्य में परिणीत करना, ऐसा नहीं समझना चाहिए । भूख, तृषा और उपद्रवों के परिणाम सहते सहते तू अपनी आत्मा में ही बल का एक गरजता हुआ महासागर देख सकेगा । तेरी शक्ति पूजा भी तभी सार्थक होगी । आज तक तूने अपने बल का उपयोग दूसरों को कष्ट देने में किया है । किन्तु अब वही बल वृत्तियों

के दमन में लगा। यह विनाश के बजाय कैसा निर्माण करना है, यह एक बार देख।"

निर्ग्रन्थ मुनि ने अन्तिम वाक्य कहा, उस समय पश्चिम के आकाश में संध्या के स्वागत की तैयारी हो रही थी। वक्ता और श्रोता में से किसी को भी समय व्यतीत होता मालूम नहीं हुआ। हरिकेशी बल बहुत समय तक मन्त्र मुग्ध सर्प की तरह मुनिराज की तपःकृश मुखमुद्रा के सामने देखता रहा। उसके सब संयम आज दूर हो गए थे। मेघमुक्त चन्द्र की भांति उसका अन्तस्तल आज निर्मल हो गया था। जैसे एक एक बिंदु शुद्ध मोती के स्वरूप में परिणत होता है वैसे ही उपदेश के एक एक शब्द ने उसके अन्तर में अपूर्व प्रकाश उत्पन्न किया।

एक दीर्घ निःश्वास के साथ वह उठा। मुनिवर की पाद रज सिर पर चढ़ाई और अपने निवास स्थान की ओर चला।

जाते ही उसने अपने साथियों को बुलाया और उन्हें समझाकर अपनी टोली भंग कर दी। थोड़े दिन बाद वह स्नेही संबंधियों से अलग होकर मुनि-संघ में सम्मिलित हो गया।

कुछ वर्षों के बाद की घटना है। एक के बाद एक उपवास और अन्य अनेक परीषहों के कारण हरिकेशी मुनि की प्रचंयकाया में अब केवल हड्डियाँ और चमड़ा शेष रह गया है। देह की भांति मन का मैल भी बहुत कुछ धुल गया है। संयम पालन और उग्र विहार में हरिकेशी मुनि मुनियों में अग्रणी गिने जाने लगे।

एक दिन वे विहार करते हुए मथुरापुरी में जा निकले। यहाँ पर ब्राह्मणों ने कुछ दिनों से एक महायज्ञ आरंभ कर रखा था। आसपास के कई विद्वान ब्राह्मण राजा के आमंत्रण से इसी निमित्त यहाँ पर आये थे।

वेदी में से आकाश की तरह बहती हुई अग्नि की शिखाएं और ताल बद्ध वेदोच्चारण ब्राह्मण समाज के मन में प्रसन्नता उत्पन्न करते थे। उच्चवर्ण के अतिरिक्त अन्य कोई भी मनुष्य यहां तक नहीं आ सके, इसकी प्रारम्भ से ही पूरी व्यवस्था थी। राज्य के अनुचर अपना धर्म और कर्तव्य समझकर इस विषय में हमेशा जागृत रहते थे।

महामुनि हरिकेशी को निषेध अथवा अपमान की बिलकुल परवाह न थी। वे निश्चिन्त मन से यज्ञ फाटक की ओर बढ़े।

'यह अनार्य सरीखा कौन है ?' एक याज्ञिक मुनि को आते हुए देखकर चिल्ला उठा और देखते देखते बड़ा भारी विस्फोट हो गया हो—वैसे याज्ञिकों की एक बड़ी संख्या मुनि के आसपास एकत्र हो गई।

"मैं एक श्रमण हूँ। दूसरे के लिए तैयार किया हुआ अन्न मिले तो उसे लेना मेरा धर्म है। यहां पर कुछ अवशिष्ट अन्न हो तो..............."

"श्रमण" और "भोजन" ये दो शब्द ही याज्ञिकों के क्रोध के लिए काफी थे।

"यहां भोजन ब्राह्मणों को ही मिल सकता है। तेरे जैसे शूद्र इस पवित्र अन्न के अधिकारी नहीं हो सकते।" याज्ञिकों ने मुनि को बोलते हुए रोककर बीच में ही अपना निश्चय प्रकट किया।

"अन्न न मिले तो कोई बात नहीं किन्तु तुम्हारे यज्ञ में कुछ हिंसा तो नहीं होती न ?" याज्ञिकों को यह प्रश्न असह्य लगा। इस प्रश्न में उन्हें सम्पूर्ण वैदिक प्रक्रिया का अपमान दिखाई दिया। अभिमान और क्रोध के आवेश में तूफान के बादल एकाएक चढ़ आए। जिस हरिकेशी का नाम कान में पड़ते ही सुरक्षित शहर में रहने वाले नागरिक भी भय से कांपने लग जाते थे और अकस्मात् मिल जाने पर प्राण रक्षा के लिए गिड़गिड़ाते थे उसी हरिकेशी पर उन्होंने गालियां और अपमान भरे शब्द बरसाये। "इस पाखंडी का तो सिर ही फोड़ देना चाहिए। इस शूद्र को यज्ञ के विषय में बोलने का क्या अधिकार ?" इस प्रकार के अनेक आक्षेप आने लगे। हरिकेशी मुनि जरा भी विचलित न हुए वे वहीं खड़े रहे आज वे एक मास के उपवास का पारणा करने आये थे। दूसरा कोई तपस्वी होता तो कुछ और अनर्थ उत्पन्न कर देता किन्तु इन्होंने तो तिरस्कार को शांति से पी लिया। इस प्रकार की अद्भुत शांति ने ब्राह्मणों पर वशीकरण मंत्र डाल दिया। सभी के शान्त होने पर उन्होंने संयम, त्याग, ब्रह्मचर्य, व्रत और तप आदि विषयों पर कुछ कहा। याज्ञिकों ने भी अपनी भूल मानी।

यज्ञ अपूर्ण रहा। जो लोग निरभिमानी थे और आत्मश्रेय के प्रति एकांत रुचि रखते थे वे लोग हरिकेशी मुनि का सनातन मंत्र प्राप्त कर महावीर के

मार्ग के पथिक हुए। इस प्रकार हरिकेशी मुनि ने उपद्रव, दुःख और विपत्तियों को कुछ न गिनते हुए सतत् उग्रविहार किया और हिंसा तथा पाखंड के अखाड़ों को छिन्न-भिन्न किया।

चांडाल के कुल में पैदा होने पर भी वे अपने तप और निर्मल चारित्र के प्रताप से सर्वत्र वंदनीय हो गए। किसी कुलमें पैदा होने मात्र से ही मनुष्य प्रतिष्ठा अथवा निन्दा का पात्र नहीं होता किन्तु उसके अच्छे और बुरे कर्म से ही उसे और उसके कुल को प्रतिष्ठा अथवा निन्दा प्राप्त होती है, यह महासत्य उन्होंने मूर्तरूप में दिखलाया। चक्रवर्ती से लेकर चांडाल तक प्रत्येक मानव को आत्मकल्याण करने का समान अधिकार है। श्रमण संस्कृति का यह संदेश आज भी हरिकेशी मुनि के जीवन में गूँजता हुआ सुनाई देता है।

अनु०—मोहनलाल मेहता

पूजा क्या आत्म अर्चना

पूजा क्या आत्म अर्चना !
उस असीम का सुन्दर मन्दिर,
मेरा लघुतम जीवन रे।
कर मेरे पूजा की थाली,
अश्रु है फूलों की डाली रे।
मन मेरा है दीप उजाला,
आहें हैं धूप निराली रे।
स्पन्दन मेरे नैवेद्य न्यारे,
नैना हैं फल प्यारे रे।
रोम मधुर अक्षत मेरे,
करुण विमल चन्दन रे।
अधर जपते प्रभु भजन को,
पैर करते नर्तन रे।

—सुश्री राजकुमारी जैन

काश्मीर की सैर

—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, बनारस

—गतांक से आगे—

पहलगाँव अत्यन्त रमणीक स्थान है। अमरनाथ की गुफ़ा के दर्शन के लिए जाने वाले यात्रियों का पहला पड़ाव यहाँ होने से इसे पहलगाँव कहते हैं। चारों ओर बर्फ से आच्छादित पर्वत शृंग, सुमधुर कलकल करती हुई सरिता का प्रवाह तथा चिनार के वृक्षों की सघन छाया और हरियाली ने मिल कर इस प्रदेश को इतना आकर्षक बना दिया है कि दर्शक इसे देख कर आत्म विभोर हो जाता है।

लोगों से ज्ञात हुआ कि पहले यहां दर्शनार्थियों का इतना जमाव नहीं होता था, किन्तु अब श्रीनगर घूम कर लोग पहलगाँव में ही रहना पसन्द करते हैं। इसी से सरिता के तट पर पट मण्डपों की बहार देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों यहां कोई मेला भरा हुआ है।

हम चार दिन पहलगाँव में ठहरे और एक दिन चन्दनवाड़ी देखने गए। घोड़ों से जाना होता है। मैं इससे पूर्व कभी कभी भी किसी घोड़े पर नहीं चढ़ा था—अतः प्रथम तो मेरी हिम्मत ही नहीं हुई किन्तु जब स्त्रियों और बच्चों तक को सहर्ष घोड़े की सवारी करते देखा तो मेरी भी हिम्मत हुई और मैंनें भी एक घोड़े पर सवारी की। पहलगाँव से चन्दनवाड़ी आठ मील है। मार्ग पहाड़ी है—नीचे पहाड़ी नदी बहती है और चारों ओर अत्यन्त हरा भरा प्रदेश है। मन स्वस्थ हो तो यही इच्छा होती है कि उसे देखता रहे। किन्तु मैं तो जीवन में प्रथम बार घोड़े पर बैठा था—मार्ग पथरीला और संकीर्ण था—नीचे गहराई में गम्भीर नद बहता था—तब मन कैसे स्वस्थ रहता। फिर भी भयभीत मन से प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन करते हुए मैं चला जा रहा था। मार्ग में एक ढालू प्रदेश पर बर्फ जमी हुई थी और उसमें घोड़े के टाप रखने लायक पगडण्डी काट कर मार्ग बनाया गया था। जब इस मार्ग को भी घोड़े ने पूरी सावधानी के साथ पार कर लिया, तब मुझे पहाड़ी घोड़ों की सतर्कता पर विश्वास हुआ और मैं कुछ निश्चिन्त हो सका।

चन्दनवाड़ी पहुँचने पर प्रथम तो मुझे लगा कि व्यर्थ ही इतना कष्ट उठाया, किन्तु जब कुछ आगे बढ़ कर बर्फ के पहाड़ पर दृष्टि पड़ी और स्त्री-पुरुषों और बच्चों को उस पर चलते-फिसलते और क्रीड़ा करते देखा, तब तो मैं देखता ही रह गया। बर्फ का—प्राकृतिक बर्फ का ऐसा सुविस्तृत समूह देखने का प्रथम ही अवसर था। समस्त मैदान और पर्वत बर्फमय था और बर्फ के सुविस्तृत मैदान के नीचे से पहाड़ी नदी गर्जन तर्जन करती हुई बही जाती थी। बड़ा ही मनोरम दृश्य था। चन्दन वाड़ी से ही अमरनाथ को जाने का मार्ग है।

पहलगाँव के आस पास अन्य भी कई दर्शनीय स्थान हैं, किन्तु चन्दनवाड़ी की यात्रा के थकान और आलस्यवश हम दूसरे स्थान न देख सके और पहलगाँव से श्रीनगर के लिए रवाना हो गए।

मटन

पहलगाँव से श्री नगर जाते-आते हुए मार्ग में मटन नामक स्थान आता है; यहां मार्तण्ड (सूर्य) का मन्दिर है। सम्भवतः मार्तण्ड का ही भ्रष्टरूप मटन है। यहां हम लोग एक दिन ठहरे क्योंकि देहली के दो मित्र यहां ठहरे हुए थे। मटन काश्मीरी पण्डों का केन्द्र है। मोटर के रुकते ही पण्डों का दल यात्रियों पर टूट पड़ता है और यात्री से नाम ग्राम पूछता है। नाम ग्राम बतलाते ही बड़ी बड़ी बहियां खुलने लगती हैं और पुरखों की खोज होने लगती है। मैंने बहुत कहा कि मेरा कोई पुरखा कभी काश्मीर नहीं आया। परन्तु वह लोग मानते ही नहीं। चूंकि मेरे साथी देहली के थे इसलिए देहली वाले पण्डा की बही में मेरा नाम ग्राम-सन्तान-बाप-भाई-भतीजे सब का नाम लिखा गया, तब पीछा छूटा। किन्तु पण्डा लोग अपने यजमान की सेवा-टहल भी खूब करते हैं और हर तरह की मदद पहुंचाते हैं।

मटन भी खूब हरा भरा रमणीक प्रदेश है। पहलगाँव वाली नदी बहती हुई मटन के पास से ही गुजरी है। नालियां बनाकर मटन के घरों के सामने से शीतल जल सदा बहा करता है। अखरोट और खुन्नानी के वृक्षों की यहां बहुतायत है। दूसरे दिन प्रातः हम लोग मार्तण्ड देव का मन्दिर देखने के लिये गए। मन्दिर काफ़ी ऊँचाई पर बना हुआ है। उसी पहाड़ पर बाँध बाँध कर एक विशाल नहर लाई गई है और उस नहर को क्रम से नीचे उतारा गया है इससे एक सीध में जगह जगह जल प्रपात का अत्यन्त मनोरम दृश्य

दृष्टि गोचर होता है। उन्हीं से नालियां बनाकर खेतों को पानी दिया जाता है। यहां हमने अखरोट के वृक्षों पर नासपाती जितने बड़े कच्चे अखरोट लगे हुए देखे। हमने खेतों में भ्रमण किया तो वहां के रंग विरंगे जंगली फूलों की सुन्दरता देखकर अवाक् रह गए। सचमुच में काश्मीर को प्रकृति का अनुपम वरदान प्राप्त है—वहां असुन्दर कुछ है ही नहीं।

जल की बहुलता और समीर की सुखदता को लक्ष्य कर मेरे मन में कल्पना हुई कि इस प्रदेश का नाम क+समीर सार्थक है संस्कृत में 'क' नाम जल का है और समीर नाम वायु का है। जल और वायु ने ही इस प्रदेश को रम्य बनाया है, अस्तु।

मार्तण्ड देव के मन्दिर के विशाल खण्डहर को देखकर उसकी विशालता और समृद्धि का अनुमान लगाना सहज है। बड़ा विशाल द्वार और उसके चारों ओर की विस्तृत प्राचीर बड़े बड़े विशालकाय शिला-खण्डों से निर्मित है। अन्दर विशाल आँगन है जिसमें बहुत से मिट्टी के बने हुए मटके जमीन में गड़े हुए हैं। एक एक मटके में एक एक आदमी अच्छी तरह से खड़ा हो सकता है, इतने लम्बे मटके हैं। ये मटके मन्दिर की पूजा आदि के लिये धान्य संग्रह के काम में लाये जाते थे। मन्दिर करीब १२०० वर्ष का पुराना है। बीच में उसका जीर्णोद्धार भी हुआ है—एक शिलालेख में उसके निर्माता आदि का निर्देश है।

अनन्तनाग

मटन से हम लोग तांगे में सवार होकर अनन्तनाग आए। अनन्तनाग काश्मीर का एक जिला है। यहां का व्यापार उन्नत है—पुरानी ऊनी लोइयों पर सुई के द्वारा फूलपत्ती निकाल कर गब्दे बनाने का कार्य यहीं होता है। यहां पानी के सोते हैं जो दर्शनीय हैं। एक स्थान पर मसजिद के नीचे गन्धक के जल का सोता है—उसमें दूर से ही गन्धक की तीव्र गन्ध आती है। यह जल चर्म रोग के लिए बहुत ही हितकर है।

अच्छबल

अनन्तनाग से हम लोग अच्छबल गए। उस समय वहां बड़ा भारी मेला भरा हुआ था, जिसके कारण गन्दगी अधिक थी। अच्छबल में मुग़ल शैली के

[शेष पृष्ठ ३० पर देखें]

उपवास से लाभ

—कविराज अत्रिदेव, विद्यालंकार

वर्ष भर में आमतौर से मुख्यतः तीन ही ऋतु होती हैं, ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतु। इनमें वर्षा काल को छोड़ दें तो ग्रीष्म और शीत दो ऋतु बचती हैं। इन दोनों में ग्रीष्मकाल सूर्य का आदान काल है। इस ऋतु में सूर्य पृथ्वी पर से, वृक्षों में से, पशु पक्षियों से और मनुष्यों से जल को खींचता रहता है, ये वस्तुएँ सूखती हैं। शीतकाल में सूर्य का बल कम हो जाता है, चन्द्रमा का बल बढ़ता है; यह विसर्ग काल है। इसमें आकाश से जलीय भाग ओस या दूसरे रूप में पृथ्वी पर गिरता है। ग्रीष्मऋतु में पानी या द्रव की अधिक जरूरत अनुभव होती है। शीतकाल में शीत के कारण अग्नि अन्तर्मुख रहती है, इसी से पसीना कम आता है। अग्नि के अन्तर्मुख रहने से मनुष्य को घी-चीनी आदि उष्णतावर्धक पदार्थों की जरूरत बराबर रहती है। सामान्य रूप में अग्नि प्रबल रहती है।

वर्षा ऋतु में ये दोनों अवस्थाएँ मिली रहती हैं, वायु मण्डल में नमी रहने से तथा भूमि के गीला रहने से आना-जाना व गतिक्रम धीरा होने से अग्नि मन्द हो जाती है। अग्नि के मन्द होने से मनुष्य दोनों समय भोजन ठीक प्रकार से नहीं पचा सकता। इसलिए ही सब धार्मिक उपवास वर्षाऋतु में मुख्यतः रक्खे गए हैं। हिन्दुओं, बौद्धों, तथा जैनों के धार्मिक उपवास मुख्यतः श्रावण और भाद्रपद में ही आते हैं।

इन ऋतुओं में बाहर आना-जाना, यात्रा बन्द हो जाती है। इसी से हिन्दुओं में श्रावणी उपाक्रम—वेदपाठ इसी समय होता है; बौद्ध भिक्षु और जैन साधु अपना चातुर्मास इसी समय एक स्थान पर व्यतीत करते हैं। इस ऋतु में एक समय भोजन करने की आम प्रथा है, इसका कारण यही है कि अग्नि की शक्ति कम हो जाती है।

उपवास से लाभ—भगवद्गीता में आता है कि मनुष्य के निराहार रहने से इन्द्रियों के विषय निवृत्त हो जाते हैं, लौट जाते हैं। ठीक भी है

रसरहित पुष्प के पास भौंरा भी नहीं फटकता। पेट भरा होने पर या जेब गरम होने पर ही मनुष्य को दूर की बातें सूझती हैं। पेट खाली होने पर उसमें तन्मयता—एकाग्र-चित्तता आती है। हिन्दुओं के उपवास सामान्यतः बहुत लम्बे नहीं चलते, दिन रात में एक समय भोजन ले लेते हैं। जैनों के उपवास लम्बे समय तक चलते हैं।

उपवास का संबन्ध शरीर और मन इन दोनों के साथ है; उपवास का प्रारम्भिक असर शरीर पर होता है। उपवास के प्रथम और दूसरे दिन भूख परेशान करती है, क्योंकि आमाशय को आदत पड़ी होती है कि वह भोजन के समय पाचक रस उत्पन्न करे। परन्तु जब उसे भोजन नहीं मिलता तो वह अगले दिन रस उत्पन्न करना बन्द कर देता है। जिससे आगे भूख भी कम हो जाती है, अब उपवास कार्य कठिन नहीं रहता। फिर तो एक स्वभाव बन जाता है, और अधिक होने से शरीर में कृशता तथा क्षीणता आनी आरम्भ हो जाती है, यह उपवास की विशेषता है।

आयुर्वेद में प्रायः सब कार्यों के लिए उपवास का विधान है। उदाहरण के लिए वनस्पति लाने के लिए, वृक्ष को काटने के लिए, आचार्य से आयुर्वेद की दीक्षा लेने के समय उपवास का विधान है; उपनयन—वेदारम्भ में उपवास की परिपाटी है। इस समय किया हुआ उपवास मन की पवित्रता के लिए है। मन का आधार अन्न है—अन्नमयं हि सौम्यं मनः। आहार की पवित्रता पर ही मन की पवित्रता है, मन की पवित्रता पर बुद्धि की पवित्रता है। बुद्धि की पवित्रता पर ही हमारा जीवन, हमारी सफलता निर्भर करती है।

मन और बुद्धि भिन्न होने पर भी कार्य में एक ही हैं। इसी से यजुर्वेद में मन शिव संकल्प वाला बने, इसके लिए बराबर प्रार्थना मंत्र दिए हैं। बुद्धि की पवित्रता के लिए तो गायत्री मंत्र में सदा प्रार्थना ही करते हैं। बुद्धि की पवित्रता मन पर आश्रित है; मन की पवित्रता अन्न पर आश्रित है। अन्न न खाने से सामान्यतः मनुष्य पांच-सात दिन सुगमता से व्यतीत कर लेता है। उसके शरीर में शरीर के लिए उपयोगी पदार्थ इतना रहता है। इस पदार्थ की न्यूनता होने के साथ साथ मन में निर्मलता—सात्त्विक भावों का उदय होना प्रारम्भ होता है। पैंतालीस वर्ष की आयु के पीछे तो उपवास विशेषतः वर्षा ऋतु में किए हुए बहुत लाभप्रद रहते हैं। इस समय पाचन अवयव निर्बल हो जाते हैं। इसलिए इस समय कम आहार पचता है। यही बात वर्षाकाल

में होती है। वर्षाकाल में अग्नि के मन्द होने से शरीर के सुधार के लिए, यात्रा न होने से, काम काज से फुर्सत रहने के कारण, मन की पवित्रता व शान्ति के लिए श्रावण और भाद्रपद में उपवास किया जाता है। प्रायः करके सब रोग अग्नि के मन्द होने से ही होते हैं; अग्नि के शान्त होने पर मनुष्य मर जाता है, अग्नि के विकृत होने पर मनुष्य रोगी होता है; अग्नि के स्वस्थ रहने से मनुष्य देर तक नीरोगी रहता है; इसीलिए अग्नि को अग्रणी—आगे चलने वाला कहते हैं। इसी अग्नि को स्वस्थ रखने के लिए उपवास है। मन्दाग्नि के साथ अर्श—बवासीर, अतिसार और संग्रहणी इन तीन रोगों का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये तीनों बहुत भयानक और देर तक परेशान करने वाले रोग हैं। रोगों से बचने के लिए भी उपवास करना उपयोगी है।

[पृष्ठ २७ से आगे]

एक सुन्दर उद्यान में पानी के फव्वारों की बहार दर्शनीय है। यहां पर ही इन काश्मीर सरकार की ओर से मत्स्य-उत्पादन का भी कार्य होता है।

काश्मीर में गरीबी अपनी चरम सीमा पर है—फिर भी हरएक मनुष्य के तन पर ऊनी लोई अवश्य रहती है। लोई का उत्पादन वहां का घरेलू उद्योग है। नवम्बर से लेकर मार्च तक काश्मीर की घाटी में भयंकर शीत पड़ता है। सड़कें और द्वार बर्फ से ढक जाते हैं। घर से बाहर निकलना भी कठिन होता है। बर्फ़ को काट काट कर मार्ग बनाना पड़ता है—शौच के लिए जाना भी दुष्कर होता है। उस समय सब लोग अपने घरों में बैठे बैठे काश्मीरी कण्डी छाती से लगाए दस्तकारी का काम करते रहते हैं। इसी से वहां दस्तकारी सस्ती है। अच्छबल में बहुत से काश्मीरी लोई बेचते फिरते थे, जो अपेक्षाकृत सस्ती थीं। किन्तु दाम बढ़ा-चढ़ा कर बोलने का वहां ऐसा रिवाज है जिससे अनजान आदमी ठगा जा सकता है।

अच्छबल से अनन्तनाग आकर हम मोटर में बैठे और श्रीनगर के लिए चल दिये। ज्यों ज्यों श्रीनगर की ओर बढ़ रहे थे त्यों त्यों गर्मी का अनुभव होता जाता था और पहलगांव तथा मटन की सुषमा लुप्त होती जाती थी। मार्ग में न हरियाली दृष्टिगोचर होती थी और न जल की कलकल ध्वनि।

—क्रमशः

एक आलोचना

'महावीर का अन्तस्तल'

—श्री ज्योति प्रसाद जैन

'महावीर का अन्तस्तल' नमक पुस्तक एक मित्र द्वारा समालोचनार्थ प्राप्त हुई थी। पुस्तक को पढ़कर इसके विषय में कुछ भी लिखने का मेरा विचार नहीं हुआ। कारण कि पुस्तक को पढ़ते समय मेरी धारणाएं उसके बारे में कुछ आलोचनात्मक बन गईं थीं। लेखक और उनके प्रेमियों को इस पुस्तक के विषय में अपनी राय से मैं क्षुब्ध करना नहीं चाहता था। फिर भी कुछ बाहरी और अन्दरूनी कारणों से मुझे इस पुस्तक के बारे में कुछ लिखना ही पड़ा है।

इस पुस्तक के ३४ वें पन्ने पर लेखक ने लिखा है, "मैं जानता हूँ इस अन्तस्तल से कुछ या काफी अन्ध श्रद्धालु लोग नाक मुंह सिकोड़ेंगे, निन्दा करेंगे, पर उनकी मुझे परवाह नहीं है। उनपर मैं ध्यान दूंगा तो इतना ही कि उनकी चेष्टा पर मुस्करा दूँ, या किसी ने कुछ दलील सरीखी बात कही तो उसका उत्तर दे दूं।" इस पुस्तक के बारे में कुछ आलोचना रूप लिखकर लेखक की दृष्टि में अन्ध श्रद्धालु तो बन ही जाता हूँ। परन्तु इसकी तो मुझे भी कुछ परवाह नहीं है। ३५१ वें पन्ने में लेखक ने अपने को जैनधर्म का 'नया अवतार' और 'सत्य समाज' को 'सच्चा जैनधर्म' लिखा है। इस पुस्तक को आदि से अंत तक पढ़कर लेखक के जब इस दावे पर विचार किया तो उनकी इस चेष्टा पर मुझे अनायास ही मुस्कराहट आ गई। और लेखक के उक्त शब्दों ने श्वे० शास्त्रों में वर्णित भगवान महावीर के जीवन की एक घटना याद दिला दी, जब कि गोशालक भगवान के सम्मुख उपस्थित होकर उनके गणधरों और अनुयायियों को अपने असली व्यक्तित्व का भुलावा देकर अपने ही व्यक्तित्व के विषय में बढ़ा-चढ़ा कर अनर्गल प्रलाप करने लगा था। तब अपने और अपनी शिष्य मण्डली के बीच इस प्रकार की एंक सरासर असत्य घोषणा के समक्ष मौन होकर बैठे रहना असत्य व्यवहार के समान जानकर सत्य को प्रकट करना ही सत्य के महाव्रती महावीर जी ने इस सत्य व्यवहार को सत्य ही समझा। लेखक की कुछ दम्भपूर्ण और अनर्गल बातों को पढ़कर तथा मित्रवर के बार २ के कुछ लिखने के आग्रह से भगवान महावीर के जीवन के इस उपरोक्त आदर्श को सामने रखते हुए अनायास ही मेरा विचार इस पुस्तक के विषय में लिखने का हो गया। यदि इस पुस्तक और इससे प्रकट

लेखक की मनोवृत्ति की पूरी समालोचना एवं आलोचना लिखी जाय तो उसका कलेवर ही पुस्तक बन सकता है। परन्तु मैं न तो लेखक से व्यर्थ का वाद विवाद ही थोपना चाहता हूँ और न इतना समय व्यय करना कुछ कारगार ही समझता हूँ, इसलिए कम से कम लिखने का ही प्रयत्न कर रहा हूँ।

पुस्तक के टाइटिल पेज पर पुस्तक का नाम लिखा है 'महावीर का अन्तस्तल'। इसके लेखक का नाम लिखा है 'स्वामी सत्यभक्त'। मुझे इस लेख में केवल इसी बात की व्याख्या करनी है कि महावीर जी कौन थे? जिनका यह अन्तस्तल लिखा गया है और लेखक स्वामी सत्यभक्त का इस पुस्तक से क्या परिचय मालूम होता है? लेखक की दृष्टि में महावीर जी कौन थे। यह लिखने से पहले स्वर्गीय श्रद्धेय महात्मा गांधी ने जो इस युग के केवल भारत के ही नहीं बल्कि विश्व के वन्दनीय महापुरुष हुए हैं उन्होंने कई बार महावीर जी के बारे में ऐसा कहा था कि भगवान महावीर की महानता का दर्शन उनके दर्शन त्याग, विवेक, तप, संयम आदि तथा उनके अनुभव द्वारा प्राप्त नाना सिद्धान्तों द्वारा हो सकता है। वे अहिंसा सिद्धान्त के इस युग में सब से बड़े प्रवर्तक हुए हैं। जब जब संसार में अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा होगी भगवान महावीर अहिंसा के प्रवर्त्तकों में सबसे बड़ी महान आत्मा समझे जाएँगे।" 'महात्मा गांधी के निजी पत्र' नामक पुस्तक में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए, कि 'आप मुक्ति से अब कितनी दूर हैं?' महात्मा जी ने लिखा था, "मुक्ति से मैं कितना दूर हूँ यह तो मैं नहीं जानता। परन्तु अन्दाज से इतना कह सकता हूँ कि भाई राय चन्द्र को मुक्ति प्राप्त करने में जितने भव लगेंगे मुझे उनसे दुगने भव लगेंगे।" भाई रायचन्द्र को सब पाठक भले ही न जानते हों, परंतु लेखक महोदय अवश्य जानते होंगे। इस महान पुरुष के विषय में बोलते हुए महात्मा गांधी ने एक बार कहा था—'एक बार तो मेरा ऐसा जी चाहा कि इनको मैं अपना गुरु बनालूँ।' (जैनी भारती) भाई रायचन्द्र ने भगवान महावीर के पथ पर चलकर गृहस्थ दशा में पानी में कमल की तरह रहने का अभ्यास किया और अपनी आत्मा को इतना ऊंचा बनाया। फिर भी उन्होंने अभी गृहस्थ में ही रह कर आत्म विकास की काफी गुंजाइश देखी और उन्होंने साधु दीक्षा नहीं ली और दीक्षा लेने से पहले ही गृहस्थी में पानी में कमल के समान अनासक्त प्रवृत्ति से रहते रहते जीवन समाप्त कर दिया था। इस महान आत्मा के दर्शन किसी पाठक को करने हों तो "श्रीमद्राजेन्द्र' नामक इस महापुरुष की डायरी से कर सकते हैं। इस पुस्तक से मालूम

होता है कि इस महान पुरुष ने भी कभी अपने को भगवान महावीर के बराबर के पद पर तो क्या आसपास भी नहीं समझा। भगवान महावीर मानव देह-धारी थे परन्तु उनका अन्तस्तल निःसन्देह अलौकिक था। इनकी महत्ता को व्यक्त करने की शक्ति मुझमें नहीं है उसका तो केवल अनुमान ही किया जा सकता है। 'अन्तस्तल की साधना' नामक शीर्षक में श्री सूरजचन्द सत्यप्रेमी ने वास्तव में सत्य ही लिखा है कि 'महापुरुषों के दिल को समझने के लिए महापुरुष ही चाहिए।' परन्तु उनका इसके आगे यह लिखना कि 'सचमुच महावीर के अन्तस्तल को लिखते समय स्वामी सत्यभक्त जी स्वयं महावीरमय हो गए हैं—'यह जरा गौर करने की बात है।

अन्तस्तल के देखने व लिखने से यह भाव होता है कि किसी के मस्तिष्क और हृदय के भावों अथवा अनुभवों का उन्नति व अवनति को प्राप्त होती आत्मा को देखना। किसी व्यक्ति के हृदय के भावों अथवा दशा को समझने के लिए उस व्यक्ति के जीवन में घटी घटनाओं का और जिन परिस्थितियों में घटनायें घटी हैं, उनका विस्तार पूर्वक और सही २ उल्लेख मिलना चाहिए। यदि ऐसा सम्भव नहीं तो जहाँ तक ऐसा सम्भव नहीं उसी कदर अंतस्तल का लिखना भी सम्भव नहीं। जीवन में घटी घटनायें और परिस्थितियां जिनमें पड़कर मनुष्य अपने जीवन में कार्य करता है वे एक संयमी सहृदय और अन्वेषक पारखी को एक मनुष्य के मस्तिष्क व हृदय की दशा का चित्र निःसन्देह एक्स-रे के समान उसके हृदय पर खिंचा अनुभव कराती है। हृदय के भाव का मूल्यांकन हृदय से होता है, मस्तिष्क से नहीं। मस्तिष्क से केवल घटना और परिस्थिति को जाना या समझा जा सकता है। परिस्थिति की पेचीदगी में बनी घटना की संवेदना का अनुभव तथा उसका मूल्यांकन एक पारखी लेखक अपने हृदय-पटल पर ही कर सकता है, इसलिए अंतस्तल को समझने और लिखने के लिए लेखक का मन बड़ा ही शुद्ध, बड़ा ही कोमल और संवेदनशील होना चाहिए। महावीर स्वामी के जीवन संबन्धी आवश्यक सच्ची घटनाओं के बारे में लेखक के शब्दों में "दिगम्बर तो वास्तव में दिगम्बर ही बने बैठे हैं" और श्वेताम्बरों के पास जो भी उल्लेख मिलते हैं वे भी विश्वसनीय नहीं, क्योंकि लेखक के लिखने के अनुसार वे बड़े अतिरंजित हैं। इस अंतस्तल को लिखने के लिए लेखक ने कुछ श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार अपनी मन पसन्द कुछ घटनाओं को ठीक माना है, कहीं कहीं अपनी मनोवृत्ति के अनुसार परिवर्तन किया है और कुछ नवीन काल्पनिक घटनाओं को स्थान देकर फिर एक अपनी हैसियत के महावीर

का अंतस्तल बना कर अपने को "जैन समाज का नया अवतार अथवा तीर्थंकर" कहा है। तभी तो महावीर स्वामी के मुख से गृह-त्याग से पहले आपने कहलाया है "इस सोने के संसार को त्यागने का किसका जी चाहेगा।" आगे केवली पद पर पहुंचाकर उनसे फिर आर्यिका रूप में प्रियदर्शना को कहलाया है "बेटी! मुझे तू तो पिता ही कहा कर"। जिन महावीर के त्याग और संयम का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता, पूज्य बापू ने जिन के लिए क्या २ कहा है, उनकी शान में लेखक ने ये शब्द लिखकर कितना अन्याय किया है। फिर ३४० वें पन्ने पर तीर्थंकर महावीर से उनकी डायरी में लिखाया है "ग्रीष्म ऋतु के लिए यह उद्यान बहुत अच्छा है। इसके पास एक स्नान गृह भी है।"

दुनिया में खूनी विश्व युद्ध हो चुका, बंगाल में लाखों अकाल से मर चुके, देश पर अनेक आफतें आईं। एक महापुरुष जनता को उन आफतों से बचाता २ अपनी बलि देकर स्वर्ग चला गया परन्तु इस युग का तीर्थंकर वर्धा में बैठा हुआ भगवान सत्य और भगवती अहिंसा की आराधना ही करता रहा। मुझे यह सब लिखते हुए बड़ी ग्लानि और दुख हुआ है। मुझे लेखक महोदय से कोई विरोध नहीं और न कोई विशेष जानकारी ही है। भगवान महावीर को जो मेरे इष्ट देव हैं, और जिनके प्रति पूज्य बापू तक के पूज्य भाव थे, उनको इस कदर गिराया हुआ देख कर मुझे बड़ा ही दुख हुआ है। आप अपने को भगवान कहें या कुछ भी कहें मुझे इससे कोई सरोकार नहीं, परन्तु किसी महापुरुष को इस प्रकार गिराना सज्जनता नहीं कही जा सकती। प्रस्तावना के पहले ही पन्ने पर आपने श्रद्धालु भाइयों को अंधभक्त और अंध-श्रद्धालु छः बार लिखा है। पुस्तक में आदि से अंत तक न जाने कितनी बार इन और दूसरे ऐसे विशेषणों का प्रयोग श्रद्धालु भाइयों के लिए किया है। आप स्वयं की श्रद्धा भगवान सत्य और भगवती अहिंसा की पूजा पर है और आप के प्रेमियों अथवा भक्तों की श्रद्धा इन देवताओं के अलावा आप के अवतार व तीर्थंकर होने पर है तो इस श्रद्धा को आप क्या कहेंगे? मैं मानता हूं आप अच्छे विद्वान हैं। परन्तु जिस विद्या से मनुष्य के मस्तिष्क का विकास हुआ हो उस विद्या को अपने आचरण की सभ्यता बनाकर अपने चरित्र का भी विकास करना चाहिए और यह विकास प्रेम, संयम, न्याय, सत्यप्रियता आदि के रूप में दीख पड़ना चाहिए। लेखक महोदय और उनके प्रेमियों से इस आलोचना के लिए क्षमा मांगकर मैं उसे यहीं समाप्त करता हूँ।

महत्व के समाचार

देहली में जैन विद्वानों की बैठक

आल इंडिया महावीर जयन्ती कमेटी दिल्ली के निमन्त्रण पर सभी जैन सम्प्रदायों के प्रमुख विद्वानों की एक प्रारम्भिक बैठक गत २५, २६ सितम्बर को दिल्ली में बुलाई गई। जिसमें प्राकृतभाषा के अद्वितीय विद्वान् पं० बेचरदास जी, नागपुर विश्वविद्यालय के डा० हीरालाल जैन, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, प्रो० दलसुख मालवणिया—हिन्दू विश्वविद्यालय, डा० नथमल टांटिया—पाली इंस्टीट्यूट नालन्दा, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री—स्याद्वाद महा-विद्यालय बनारस, पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, स्वामी कृष्णचन्द्राचार्य बनारस, डा० हरजसराय जैन अमृतसर, श्री जैनेन्द्र कुमार, पं० इन्द्रलाल शास्त्री जयपुर, पं० लालचन्द भगवानदास गांधी बड़ौदा, प्रो० पृथ्वीराज जैन अम्बाला आदि मुख्य थे। विद्वानों के अतिरिक्त भारतीय लोकसभा के सदस्य सेठ अचलसिंह, श्री चिमनलाल चक्कूभाई शाह, श्री नेमीचन्द कासलीवाल, भारतीय राज्य परिषद के सदस्य श्री राजपतसिंह दूगड़, श्री भोगीलाल शाह, श्री आनन्दराज सुराणा, सेठ मोहनलाल कठोतिया, श्री जमना प्रसाद भूतपूर्व सेशन जज नागपुर, श्री गिरधारी लाल जैन, श्री धीरजलाल तुरखिया, श्री जवाहरलाल राक्यान, श्री गुलाबचन्द जैन आदि बहुत से जैन नेता उपस्थित थे।

सम्मेलन की प्रथम बैठक ता० २५ सितम्बर को दोपहर के १ बजे ११ कीलिंग रोड, नई दिल्ली में आरम्भ हुई। इस समय सम्मेलन को आशीर्वाद देने के लिए इतिहास तत्त्व-महोदधि आचार्य विजयेन्द्र सूरि जी महाराज, व्याख्यान वाचस्पति श्री मदनलाल जी महाराज, पूज्य आचार्य श्री जिनविजय सेन सूरि जी महाराज, मुनि श्री बुद्धमल जी, यतिवर रामपाल जी, प्रसिद्ध वक्ता जैन मुनि सुदर्शन जी, मुनि श्री राम प्रसाद जी तथा मुनि श्री प्रकाश विजय जी आदि पधारे थे। सब मुनि महाराजों के मंगलाचरण के पश्चात् आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि जी एवं व्या० वाच० श्री मदनलाल जी महाराज के सारगभित व्याख्यान हुए जिसमें उन्होंने जैन विद्वानों का सम्मेलन बुलाने की आवश्यकता पर प्रकाश डाला।

बैठक की कार्यवाही सुचारु और नियमित रूप से चलाने के लिए डॉ० हीरालाल जी जैन को सर्वसम्मति से बैठक का अध्यक्ष चुना गया।

कमेटी के मन्त्री श्री गुलाबचन्द जैन ने आगम प्रभाकर जैनमुनि पुण्य-

विजय जी, आचार्य जिनविजय जी, कविवर श्री अमरचन्द्र जी, न्याय विशारद मुनि श्री न्यायविजय जी मांडल, पं० मुनि श्रीमल जी, मुनि न्यायविजय जी महाराज अहमदाबाद, मुनि रामकृष्ण जी, डॉ०ए०एन्० उपाध्ये, पं०सुखलाल जी, श्री कुन्दनलाल फिरोदिया, डॉ०प्रबोध पण्डित, श्री तख्तमल जैन, बाबू विजयसिंह नाहर, बाबू श्रीपतिसिंह दूगड़, डॉ० सी० क्राउझे आदि प्रमुख व्यक्तियों के सम्मेलन की सफलता के लिए सन्देश पढ़ कर सुनाए।

इसके पश्चात् कमेटी के मन्त्री श्री चिमनलाल चक्कूभाई शाह ने सम्मेलन बुलाने के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला, जिनमें से मुख्य बातें निम्न हैं—

(१) जैन संस्कृति का जैनेतर विद्वानों को ठीक ठीक विचार आ सके उसके लिए एक ऐसी पुस्तक लिखाई जाय कि जिसका नाम 'हेरिटेज आफ़ जैनिज्म' (Heritage Jainism) हो तथा जैन धर्म की शिक्षाओं और उद्देश्यों को जनता में प्रकट किया जा सके उसके लिए एक संग्रह तैयार कराया जाय।

(२) जैन समाज तथा जैन धर्म के आधुनिक प्रश्न जैसे स्याद्वाद, नयवाद, अहिंसा, तपस्या, कर्मवाद, संयम आदि पर विचार विनिमय करने के लिए एक विद्वत् परिषद (Seminar) का आयोजन किया जाय।

(३) अखिल भारतवर्षीय जैन सम्मेलन (All India Jain Convention) बुलाई जाय। जिसके द्वारा जैनों का एक बिना साम्प्रदायिक भेद भाव के प्लेटफार्म बनाया जाय।

(४) जैन कला और साहित्य की प्रदर्शिनी का भी आयोजन किया जाय। यह सब कार्यवाही आगामी 'महावीर जयन्ती' के अवसर पर की जाय। जिससे जैन और जैनेतर जनता को जैन धर्म व संस्कृति का यथार्थ स्वरूप ठीक ठीक समझ में आ सके।

सम्मेलन की दूसरी बैठक रात के ८ बजे चांदनी चौक में श्री आनन्दराज सुराणा के कमरे पर हुई। जिसमें विचार विनिमय के बाद ११ महानुभावों की एक उपसमिति विस्तृत रूपरेखा बनाने के लिए नियुक्त की गई। इस उपसमिति ने तारीख़ २६ को प्रातः ९-३० पर सेठ आनन्दराज सुराणा के कमरे पर हुई, बैठक ने एक रूपरेखा तैयार की।

इस रूपरेखा को दोपहर के दो बजे अहिंसा मन्दिर, दरियागंज में हुई बैठक में अन्तिम स्वीकृति देने के लिए उपस्थित किया गया जिसमें ग्रन्थ योजना, विद्वत्परिषद, जैन सम्मेलन और प्रदर्शिनी की योजना तैयार करने के लिए एक प्रस्ताव सर्व सम्मति से पास हुआ।

जैन संस्कृति का परिचायक ग्रन्थ तैयार करने के लिए निम्न विद्वानों का एक सम्पादक—मण्डल नियुक्त किया गया—

१. पं० सुखलाल जी
२. डा० हीरालाल जी
३. पं० कैलाशचन्द्र जी
४. प्रो० दलसुख भाई मालवणिया
५. डा० नथमल टांटिया
६. डा० इन्द्रचन्द्र (संयोजक)
७. श्री गुलाबचन्द जैन (मन्त्री)

इस सब कार्यवाही के पश्चात् आगन्तुक विद्वानों और नेतओं का एक फोटो लिया गया और ६-३० बजे बैठक की कार्यवाही समाप्त हुई।

प्रस्ताव

अखिल भारतीय महावीर जयन्ती कमेटी द्वारा आमन्त्रित जैन विद्वानों का यह प्रारम्भिक सम्मेलन निःसंकोच एवं पर्याप्त विचार विनिमय के पश्चात् अखिल भारतीय जैन सम्मेलन तथा जैन परम्परा के विद्वानों को विचार परिषद् बुलाने के लिए कमेटी के सामने निम्नलिखित कार्यक्रम उपस्थित करता है—

(१) क—इस प्रस्ताव के परिशिष्ट नं० १ में दी गई रूपरेखा के अनुसार विद्वान 'जैन संस्कृति' के नाम से एक ग्रन्थ तैयार करें।

ख—उपरोक्त ग्रन्थ का निर्माण करने के लिए निम्नलिखित विद्वानों का एक 'सम्पादक मण्डल' रहेगा—

(१) पण्डित सुखलाल जी
(२) डॉ० हीरालाल जैन एम०ए, डी०लिट्०
(३) पं० कैलाशचन्द्र जी (४) पं० दलसुख भाई मालवणिया
(५) डॉ० नथमल टांटिया एम०ए०, डी० लिट्०

ग—सम्पादक मण्डल ग्रन्थ लेखन का कार्य प्रतिष्ठित विद्वानों में बाँटेगा और उसका सम्पादन करेगा। लेखकों को पारिश्रमिक सम्पादक-मण्डल के निर्णयानुसार दिया जायगा।

घ—ग्रन्थ तैयार हो जाने पर हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित किया जायगा।

(२) विद्वानों की विचार परिषद में वर्तमान जीवन की, विशेषतया जैनों के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं पर विचार विनिमय होगा। उसमें जैनधर्म के अहिंसा, स्याद्वाद, कर्मवाद, संयम, तप आदि सिद्धान्तों तथा जीवन की वर्तमान

स्थिति में उनके उपयोग को ध्यान में रखा जायगा। विचार परिषद के लिए प्राप्त चुने हुए निबन्ध अथवा उनका सारांश तथा विचार विनिमय का निष्कर्ष कमेटी द्वारा प्रकाशित किया जायगा। परिषद में विचार का आधार नव निर्माण तथा विध्यात्मक रहेगा।

(३) उपरोक्त सम्पादक मण्डल एक ऐसी पुस्तक के निर्माण की भी व्यवस्था करेगा जिसमें जैन धर्म के विविध रूपों पर प्रकाश डालने वाले जैन साहित्य के उद्धरणों का संग्रह हो, जो कि जैन धर्म के मूल तत्त्वों को उत्तम रूप में उपस्थित कर सकें।

इस पुस्तक को भी कमेटी प्रकाशित करेगी। इसका भी अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद किया जायगा।

(४) अखिल भारतीय जैन सम्मेलन में भारत के समस्त प्रमुख जैनों को आमन्त्रित किया जायगा तथा एक मंच पर जैनों की सर्वाङ्गीण उन्नति से सम्बन्ध रखने वाले सर्वसाधारण प्रश्नों पर विचार किया जायगा। सम्मेलन एक ऐसी संस्था की स्थापना के लिए भी विचार करेगा जिस में नीचे लिखे विभाग रहेंगे—

(क) केन्द्रीय जैन संग्रहालय (ख) केन्द्रीय जैन पुस्तकालय (ग) केन्द्रीय जैन अनुशीलन-पीठ (घ) जैन प्रकाशन-केन्द्र।

(५) सम्मेलन के अवसर पर कमेटी एक प्रदर्शिनी का आयोजन भी करेगी जिसमें जैन कला तथा जैन एवं सम्मिलित प्रकाशनों का प्रदर्शन किया जायगा।

(६) उपरोक्त सुझावों को ध्यान में रख कर अखिल भारतीय महावीर जयन्ती कमेटी कार्यक्रम की विशेष रूप-रेखा स्वयं बनाएगी। उपरोक्त सम्पादक-मण्डल कमेटी को विद्वानों का सहयोग प्राप्त करने के लिए, कार्यक्रम तैयार करने तथा उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए परामर्श देगा।

(७) डा० इन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०, मन्त्री श्री गुलाबचन्द्र जैन से मिल कर सम्पादक-मण्डल की ओर से देहली में कार्य संचालन करेंगे।

HERITAGE OF JAINISM—जैन संस्कृति

Part I Early History of Jainism—जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

Ch. I Pre-Parsva Period—पार्श्व पूर्व काल

Ch. II Parsvanath—पार्श्वनाथ
Ch. III Mahavira—महावीर

Part II Jain Philosophy—जैन दर्शन

Ch. IV Metaphysics—तत्त्व मीमांसा
Ch. V Ethics—आचार मीमांसा
Ch. VI Theory of Knowledge—ज्ञान मीमांसा
Ch. VII Logic—न्याय, प्रमाण, नय, निक्षेप
Ch. VIII Syadvada—स्याद्वाद
Ch. IX Psychology—(Instincts & Emotions)—संज्ञा, प्रमाद, कषाय, लेश्या, गुणस्थान, ध्यान, योग
Ch. X Law of Karma—कर्म सिद्धान्त

Part III Literature—साहित्य

Ch. XI Prakrit Literature—प्राकृत साहित्य
Ch. XII Apabhramsa Literature—अपभ्रंश साहित्य
Ch. XIII Sanskrit Literature—संस्कृत साहित्य
Ch. XIV Modern Languages—प्रचलित भाषा साहित्य

(a) Tamil—तामिल
(b) Kanare—कन्नड़
(c) Gujrati—गुजराती
(d) Hindi—हिन्दी

Part IV Technical Sciences—विज्ञान

Ch. XV Grammar, Prosody, Poetics and Lexicons—व्याकरण, छन्द, अलंकार और कोष
Ch. XVI Mathematics and Astronomy—गणित और ज्योतिष

Part V Fine Arts—ललित कलाएँ

Ch. XVII Architecture—स्थापत्य

—गुलाबचन्द जैन मंत्री,

राष्ट्रपति से भेंट

ता० ८ अक्तूबर, १९५४ बृहस्पतिवार को प्रातःकाल ११ बजे एक शिष्ट-मण्डल जिसमें इतिहास तत्त्वों के महोदधि जैनाचार्य विजयेन्द्र सूरि जी, व्याख्यान वाचस्पति मुनि श्री मदनलाल जी, और उनके दोनों विद्वान शिष्य मुनि सुदर्शन जी तथा रामप्रसाद जी, प्राकृत भाषाओं के एकमात्र विशेषज्ञ प्रो०पं०बेचरदास जी, श्री गुलाबचन्द जैन—मन्त्री आल इंडिया महावीर जयन्ती कमेटी और श्री काशीनाथ सराक ने राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी से नई देहली में राष्ट्रपति भवन के मुगल उद्यान में लगभग डेढ़ घंटे तक महत्वपूर्ण भेंट की।

आचार्य विजयेन्द्र सूरि जी ने विशेष रूप से व्याख्यान वाचस्पति श्री मदनलाल जी का राष्ट्रपति जी से परिचय कराते हुए कहा—आपके सत्प्रयत्नों से प्रायः सारे भारतवर्ष के स्थानकवासी जैन साधु तथा साध्वियों ने आपसी भेदभाव मिटा कर एक संगठन रूप में धार्मिक जगत के सामने आदर्श उपस्थित किया है।

इसके बाद श्री वाचस्पति जी महाराज ने राष्ट्रपति जी से कहा—जैन परंपरा ने अहिंसा के सिद्धान्तों के आधार पर राष्ट्र की शान्तिमय क्रान्ति को

प्रज्वलित करने में कहां तक प्रेरणा दी है उससे तो आप पहले से भलीभांति परिचित हैं। जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति की विविध पृष्ठभूमियों में साहित्य, दर्शन, इतिहास, स्थापत्य, और कला में जो योगदान दिया उसका साक्षी आज भारतवर्ष का कोना कोना है। जैन साधु आज भी भारतवर्ष के गांव गांव में पैदल तथा जीवन की कम से कम आवश्यकताओं को रखते हुए घूमता है और बिना किसी भेदभाव, जातपाँत, छुआछूत और ऊंचनीच के भेदों को मिटाने का उपदेश देता हुआ मानवता को जैन धर्म का अहिंसा और समभाव का सन्देश देता है कि 'जियो और जीने दो'।

इसके पश्चात् आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि जी ने तीस चालीस पुस्तकें अपने तथा अपने गुरु स्व० विजयधर्म सूरि जी द्वारा लिखी हुई जैन संस्कृति, इतिहास और साहित्य के सम्बन्ध में राष्ट्रपति जी को भेंट की।

फिर आचार्यश्री ने पण्डित बेचरदास, जिन्होंने महात्मा गांधी के गुजरात विद्यापीठ के पुरातत्व मन्दिर में रह कर जैन साहित्य की सेवा की थी और आज भी कर रहे हैं, से परिचय कराया और कहा—पण्डित जी प्राकृत साहित्य के तो भारत में सब से बड़े विशेषज्ञ हैं।

अन्त में श्री गुलाबचन्द जैन ने आल इंडिया महावीर जयन्ती कमेटी की ओर से हाल में भारतवर्ष के जैन विद्वानों की जो प्रारम्भिक बैठक हुई थी उसकी विद्वत्परिषद, जैन साहित्य प्रकाशन, एक पुस्तकालय तथा संग्रहालय आदि बनाने की योजना राष्ट्रपति जी की सेवा में प्रस्तुत की।

साथ ही श्री जैनमुनि पुण्यविजय जी द्वारा भेजी हुई जैसलमेर के प्रसिद्ध प्राचीन जैन भण्डार की अलभ्य सात वैदिक संस्कृति की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ तथा एक प्राचीन कला पूर्ण आचार्य जिनचन्द्र सूरि जी को जयपुर जैन संघ की ओर से भेजा हुआ विशाल विनती पत्र दिखाया जिनको देख कर राष्ट्रपति बहुत ही प्रसन्न हुए।

अन्त में राष्ट्रपति जी से सारे शिष्ट मण्डल ने भगवान महावीर जयन्ती की केन्द्रीय सरकार की ओर से छुट्टी करने का निवेदन किया। राष्ट्रपति ने सारी बातचीत बहुत ध्यान पूर्वक सुनते हुए मुनियों को बहुत आदरपूर्वक खड़े होकर विदा किया।

—गुलाबचन्द्र जैन

नवम्बर १९५४ से

श्रमण

अपने छठे वर्ष में प्रवेश कर रहा है।

'श्रमण' की कुछ विशेषताएँ—

★ जीवन को, विचारों को, चरित्र को समृद्ध, संस्कारवान्, प्राणवान्, स्वस्थ और सुरुचिपूर्ण बनाने वाला साहित्य

★ जीवन की उलझी हुई समस्याओं का अनुभवी विद्वानों द्वारा समाधान

★ दर्शन, तत्त्वज्ञान, धर्म, समाज और संस्कृति आदि विविध विषयों पर अधिकारी विद्वानों के विचार

★ साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना का अग्रदूत

★ साम्प्रदायिकता रहित निर्भीक भावनाओं का प्रचारक

* नई राह नई दिशा * समाज और संस्कृति

* अनुसंधान * गीतांजलि

* कहानी आदि विविध स्थायी स्तम्भ

हमें विश्वास है कि 'श्रमण' का यह रूप आपको पसन्द आएगा।

नवीन भारत को स्वस्थ व सुलझे हुए विचार देने वाले पत्रों में 'श्रमण' का प्रमुख स्थान है।

आज ही ४) भेजकर नए वर्ष से ग्राहक बनें।

व्यवस्थापक—

'श्रमण' जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस—५